

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका



प्रधान संपादक
गिरीश्वर मिश्र



कार्यकारी संपादक
अशोक मिश्र

‘हिन्दी का विश्व’ पर एकाग्र विशेषांक



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

(हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका)

अंक : 46 (जुलाई-सितंबर 2015) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मो. कार्यकारी संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvaachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : 75 रुपए, वार्षिक शुल्क 300/- रुपए, द्विवार्षिक शुल्क 600/- रुपए (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : देवप्रकाश चौधरी

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606,

मो. 9811388579)

अनुक्रम

आरंभिक

जिंदगी की लय और धुन हिंदी	04
हिंदी का विश्व	
फीजीबात : हिंदी की एक विदेशी शैली / <i>विमलेश कांति वर्मा</i>	07
करिबियन देशों में हिंदी भाषा और समाज / <i>मोहन कांत गौतम</i>	26
पार्या भाषा : ताजिकिस्तान-उज्बेकिस्तान में हिंदी की सगी बहिन / <i>तत्याना ओरान्स्कया</i>	65
नेटाली हिंदी / <i>रामभजन सीताराम</i>	86
डेनमार्क में हिंदी व भारतीय संस्कृति / <i>अर्चना पैन्थूली</i>	105

वैचारिकी

विदेशी व्यामोह के भटकाव / <i>सच्चिदानंद सिन्हा</i>	111
सांस्कृतिक संकट और साहित्य / <i>निर्मला जैन</i>	117
अन्य भारतीय भाषाओं के संदर्भ में हिंदी / <i>प्रभाकर श्रोत्रिय</i>	124
हिंदी पत्रकारिता और साहित्य का अंतःसंबंध / <i>कृपाशंकर चौबे</i>	130
खड़ी बोली हिंदी के उद्भव में अनुवाद की भूमिका / <i>रमण सिन्हा</i>	141
दक्षिण भारत में हिंदी : दशा, दिशा एवं संभावनाएं / <i>एस. तंकमणि अम्मा</i>	164
हिंदी-मराठी अंतर्संबंध / <i>दामोदर खड़से</i>	174
गांधीजी की अनुवाद-साधना / <i>हरीश कुमार सेठी</i>	178

सोशल मीडिया

सोशल मीडिया का द्वार और हिंदी का ज्वार / <i>प्रभात रंजन</i>	192
हिंदी के तकनीकी विकास का स्वर्णकाल / <i>बालेन्दु दाधीच</i>	197

हिंदी का तकनीकी पक्ष

हिंदी भाषा और लिपि : वर्तमान परिदृश्य / <i>परमानन्द पांचाल</i>	201
समग्र विकास के लिए हिंदी : देवनागरी या रोमन? / <i>ओम विकास</i>	207
वैश्विक हिंदी उद्योग / <i>किशोर वासवानी</i>	211

जिंदगी की लय और धुन हिंदी

‘बहुवचन’ का यह अंक भोपाल में आयोजित हो रहे दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित हो रहा है। लगभग चार वर्षों के अंतराल पर आयोजित होने वाला हिंदी के अध्येताओं और हितैषियों का यह सम्मेलन हिंदी के वैश्विक विस्तार की संभावनाओं को कार्यरूप में परिवर्तित करने के लिए संलग्न और समर्पित रहता है। साथ ही यह आयोजन हिंदी वालों को आत्मालोचन और आकलन करने का मौका भी देता है। इस अवसर पर हम यह भी जांचते-परखते हैं कि हिंदी भाषा और साहित्य की विकास-यात्रा में हम अब तक कौन सी मंजिलें तय कर सके हैं और कहां पहुंच रहे हैं? हम यह भी जानना चाहते हैं कि जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे- कानून, शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा राजनय आदि में हिंदी के प्रभावी उपयोग करने के मार्ग में हमारे सम्मुख कौन-कौन सी बाधाएं आ रही हैं और इन बाधाओं का समाधान कैसे हो सकेगा? विश्व हिंदी सम्मेलन हमारे लिए हिंदी के अतीत, वर्तमान और भविष्य को लेकर चिंतन और विमर्श का एक महत्वपूर्ण अवसर उपस्थित करता है। सम्मेलन में पधार रहे सभी हिंदी प्रेमियों का हम अभिनंदन करते हैं।

हिंदी भारत की एक महत्वपूर्ण भाषा है जिसका समृद्धिशील सर्जनात्मक साहित्य है। इसके साथ ही यह एक बड़े समुदाय के लिए प्राणनाड़ी सरीखी है। वह घर और बाहर दोनों जगह दैनंदिन व्यवहार का माध्यम है। साथ ही वह उस समुदाय या जाति की पहचान से भी गहरे जुड़ी हुई है। वह उस समुदाय के संगीत और कलात्मक वैभव और आचार-व्यवहार की अभिव्यक्ति भी है। उस समाज की जिंदगी की लय और धुन इसी भाषा में सुनाई पड़ती है। सदियों पहले रची अमीर खुसरो, सूर, कबीर, तुलसी, मीरा, रैदास, रसखान, रहीम, जायसी की रचनाएं आज भी पुरानी नहीं पड़तीं। उनकी पंक्तियां हमारी सामाजिक स्मृति में रची बसी हैं और क्या शहर क्या गांव क्या अनपढ़ क्या सुपठित, हर किसी के जुबान पर अभी भी चढ़ी हैं। उनका काव्य मानव जीवन के सार्वकालिक सरोकारों को उभारने वाला है और शायद इसीलिए हमेशा ताजा बना रहता है। हिंदी शुरू से ही अनेक बोलियों, क्षेत्रों, जातियों और धर्मों के लोगों की भाषा रही है। उसका कोई एक सीमित और परिभाषित भौगोलिक क्षेत्र भी नहीं है। वह भारत की और भारतीयों की भाषा है। वह भारत से सुदूर विदेशों में पहुंचे और पीढ़ियों पहले वहां जा बसे उन भारतीयों की भी भाषा है जो जटिल सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिस्थितियों में सतत संघर्ष करते हुए आगे बढ़े। भूमंडलीकरण के दौर में इस समय अनेक भारतीय विभिन्न देशों में अध्ययन, व्यापार और आजीविका के लिए आ जा रहे हैं। उनमें से कई ने अमेरिका, इंग्लैंड और कनाडा जैसे विकसित देशों में ज्ञान, विज्ञान, व्यापार और राजनीति के क्षेत्रों में अच्छा नाम भी कमाया है। उनमें से एक बड़ी संख्या हिंदी बोलने वालों की है।

वस्तुतः ऐतिहासिक परिवर्तन के क्रम में सामाजिक जीवन और भौगोलिक परिस्थितियों में भी बदलाव आता रहता है और उनके आपसी समीकरण भी बदलते रहते हैं और उसी के साथ उनसे जुड़े भाषाई सरोकार और प्रश्न भी। हिंदी भाषा का विकास भी इसका अपवाद नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में हिंदी पर विचार करने के कई संभव प्रस्थान बिंदु और दृष्टिकोण बन जाते हैं। इस बार के विश्व हिंदी सम्मेलन में चर्चा हेतु केंद्रीय विषय 'हिंदी जगत : विस्तार और संभावनाएं' रखा गया है। यह विषय हमें हिंदी की भूमिका को लेकर अनेक दिशाओं में विचार के लिए आमंत्रित करता है। यह सम्मेलन समाधानमूलक दृष्टि से अनेक उप विषयों पर चर्चा के लिए सन्नद्ध है। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से विदेश नीति, प्रशासन, विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी, विधि, बाल साहित्य, हिंदीतर राज्य, पत्रकारिता, गिरमिटिया, विदेश में हिंदी अध्यापन, भारत में हिंदी अध्ययन की सुविधा तथा प्रकाशन से जुड़े क्षेत्रों में हिंदी की समस्याओं पर विचार अभीष्ट है। भारत सरकार ने हिंदी के प्रति एक सजग रुख अपनाते हुए इस बार के आयोजन में हिंदी के अनुप्रयोग से जुड़े हुए प्रश्नों को केंद्र में रखा और आशा की जाती है कि इस पहल का दूरगामी परिणाम होगा।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय हिंदी के अध्ययन-अध्यापन और शोध की दृष्टि से अंतरानुशासनिक और अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य पर बल देता है। इसे ध्यान में रखकर इस विश्वविद्यालय की इस प्रमुख पत्रिका का यह अंक हिंदी भाषा के अध्ययन और उसके उपयोग के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर संयोजित किया गया है। लेखकों से अनुरोध किया गया कि वे देश काल की विविधता को ध्यान में रखकर रचनात्मक योगदान करें। हमें इस बात का हर्ष है कि हमारे अनुरोध को स्वीकार कर लेखकों ने हिंदी से जुड़े विभिन्न वैचारिक आयामों पर अपनी सुचिंतित रचनाएं उपलब्ध कराईं। बहुवचन का 'हिंदी का विश्व' पर एकाग्र यह विशेषांक उनके सहयोग के बिना संभव नहीं था।

इस अंक में मुख्यतः हिंदी के चार पक्षों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। पहला, भारत के बाहर हिंदी की क्या स्थिति है? इस क्रम में फीजी, करिबियन, दक्षिण अफ्रीका के देशों में भारतवंशियों द्वारा प्रयुक्त हिंदी का ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य पर शोधपरक सामग्री दी गई है। इसी तरह हिंदी की करीबी 'पार्या' भाषा पर भी एक भाषिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। डेनमार्क में वर्तमान में हिंदी अध्ययन की दशा दिशा पर भी एक चर्चा दी जा रही है। दूसरा पक्ष हिंदी और हिंदीतर क्षेत्रों के अंतःसंबंधों को भाषा और साहित्य के स्तर पर को समझने से जुड़ा है। हमने मराठी और दक्षिण भारत में हिंदी की स्थिति पर सामग्री प्रस्तुत की है और भारतीय भाषाओं के आलोक में हिंदी पर विचार प्रस्तुत किया है। तीसरा पक्ष हिंदी साहित्य के लिए पत्रकारिता का अवदान, हिंदी का बाल साहित्य अनुवाद और सांस्कृतिक धरातल पर उठते प्रश्नों को केंद्र में रखकर कई महत्वपूर्ण सरोकारों को प्रस्तुत करता है। चौथा पक्ष लिपि, तकनीकी प्रगति, कम्प्यूटर के साथ हिंदी के तकनीकी विकास और उद्योग के क्षेत्र में हिंदी की उपस्थिति से जुड़ा है। विश्वविद्यालय बहुवचन के इस अंक में योगदान करने वाले सभी लेखकों के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करता है और यह आशा भी करता है कि उनका स्नेह आगे भी मिलता रहेगा।

हिंदी का प्रश्न सिर्फ एक भाषा का प्रश्न नहीं है। वह जातीय स्वाभिमान, सांस्कृतिक दाय के संरक्षण और संबर्धन, सामाजिक परिवर्तन के साथ तालमेल और सामाजिक न्याय के सरोकारों से भी

गंभीर रूप से जुड़ा है। अंग्रेजी का वर्चस्व और औपचारिक शिक्षा के क्षेत्र में मातृभाषा की सतत उपेक्षा के कारण नई पीढ़ी के भाषिक संस्कार और सृजनात्मक क्षमता को लेकर भी चिंता प्रकट की जाती रही है। पर देश के आजाद होने के इतने समय बाद कई राज्य दर्जा एक से अंग्रेजी पढ़ाने की अनिवार्यता लाद रहे हैं। वस्तुतः भाषा का कोमल ('साफ्ट') प्रश्न अन्य महत्वपूर्ण ('हार्ड') प्रश्नों के आगे धरा रह जाता है और हम किसी तरह कामचलाऊ नीति अपना कर आगे बढ़ लेते हैं। बात वहीं की वहीं रह जाती है। अंग्रेजों की गुलामी से देश के स्वतंत्र होने के बाद के बीत रहे सात दशकों हम राजभाषा, मातृभाषा, संपर्क भाषा आदि प्रश्नों पर टाल मटोल के आदी हो चुके हैं। हिंदी की जो भी सामर्थ्य है वह प्रायः उसकी आंतरिक क्षमता के चलते है अन्यथा परिवेश तो कंटकाकीर्ण ही है। हिंदी अपनी जीवनी शक्ति सामान्य जनों, किसानों, मजदूरों और मध्यम वर्ग से पाती है। उसे आभिजात्य का न समर्थन है न उसकी चहेती है। अधिक से अधिक वह मनोरंजन का साधन बन जाती है।

हिंदी के रोमनीकरण की मुहिम और हिंग्लिश के प्रति आकर्षण किसी भी तरह हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है और उसके विकास के मार्ग में बाधक है। हिंदी साहित्य का इतिहास गवाह है कि हिंदी मुक्त आदान-प्रदान से समृद्ध हुई है। वैसे भी भाषा 'बहता नीर है' और हिंदी ने विभिन्न भाषाओं और बोलियों से शब्द और मुहावरे लिए हैं। हिंदी का भाषिक स्वभाव परिवर्तन को आमंत्रित कर उन्हें अपने में पचाने वाला है। पर हृदय की इस भाषा को ज्ञान-विज्ञान और सरकारी तंत्र में अभी भी अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी है और जितनी मिली है और जिस रूप में मिली है वह कुछ अस्वाभाविक सी है इसलिए वह चल नहीं पा रही है। हमारे मंहगे टकसाली शब्द प्रयोग में नहीं आ पा रहे हैं और प्रयोग में आ रहे शब्द हम ग्रहण नहीं कर रहे हैं। भोजपुरी, अवधी, ब्रज, मैथिली आदि सह भाषाओं के साथ जो सहकार था उस पर राजनीतिक रंग चढ़ रहा है और उन सब की स्वतंत्र सत्ता की मुहिम चल रही है। अभी तक हिंदी में दूसरी भाषाओं के रचनात्मक आदान प्रदान और ज्ञान-विज्ञान के अनुवाद को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने की प्रभावी योजना नहीं बन सकी है। यहां तक कि हिन्दी का अन्य भारतीय भाषाओं के साथ भी मजबूत रिश्ता नहीं बन सका है और सभी एक दूसरे के बारे में लगभग अपढ़ से ही नजर आते हैं। सूचना और संचार क्रांति की दस्तक ने जरूर हिंदी के विस्तार को अप्रत्याशित गति दी है।

कुल मिलाकर जहां एक ओर संभावनाओं का एक व्यापक क्षेत्र हमारे सामने उपस्थित है तो दूसरी ओर कई चुनौतियां भी मुंह बाए खड़ी हैं। इस मुकाम पर हिंदी अर्थात् भारत और भारतीय जन को समर्थ बनाने के लिए समर्पण भाव से जुटने की जरूरत है, बिना समय गंवाए और बिना संसाधनों का दुरुपयोग किए। एक सक्षम भारत और विश्व पटल पर समर्थ देश के रूप में उभरते भारत को उसकी वाणी भी मिलनी चाहिए और उसका अन्य भाषाओं के साथ संवाद का अवकाश भी बढ़ना चाहिए।

-गिरीश्वर मिश्र

फीजीबात : हिंदी की एक विदेशी शैली

विमलेश कांति वर्मा

फीजीबात या फीजी हिंदी, फीजी द्वीप समूह में गिरमिट कहे जाने वाले भारतवंशी मजदूरों द्वारा विकसित हिंदी की एक विदेशी भाषिक शैली है जो आज संपूर्ण फीजी देश में बोली और समझी जाती है। फीजी में बसे हुए भारतीय मूल के लोग उसे अपनी अस्मिता से जुड़ा हुआ मानते हैं और उसकी सुरक्षा तथा उसके विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। उसमें वे साहित्यिक रचनाएं करते हैं, घर पर पारिवारिक बोलचाल में उसका व्यवहार करते हैं तथा उसे अपने पूर्वजों से मिली हुई धरोहर मानते हैं।

फीजी एक बहुभाषा भाषी देश है जहां विभिन्न जाति मूल के लोग रहते हैं। फीजी के मूल निवासी 'काईबीती' कहे जाते हैं। इनकी जनसंख्या 44.6 है तथा वे काईबीती भाषा का प्रयोग करते हैं। 1987 ई. तक फीजी की आधी से अधिक जनसंख्या वहां बसे भारतीयों की थी जो देश की संपूर्ण जनसंख्या का 50.16 थी। भारतीयों के अतिरिक्त फीजी में आस्ट्रेलियन, न्यूजीलैंड, चीनी, रोडुमन तथा अन्य द्वीपों के रहने वाले व्यक्ति हैं और इनकी भाषाओं को देश में संवैधानिक संसदीय मान्यता भी प्राप्त है।

भारतीय मूल के लोग जो आज वहां की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग हैं, उनके पूर्वज फीजी तट पर सबसे पहले 15 मई 1879 को लेवनीदास जहाज से शर्तबंदी प्रथा के अधीन 463 मजदूरों के जत्थे के रूप में पहुंचे थे। इसके बाद 11 नवंबर 1916 तक 85,459 भारतीय फीजी द्वीप में गन्ने के खेतों में काम करने के लिए ले जाए गए। ये भारतीय भारत के निम्नलिखित क्षेत्रों से ले जाए गए थे तथा अलग-अलग भाषाएं भी बोलते थे।¹

क. विभिन्न प्रदेशों से गिरमिट में आए भारतीयों का विवरण :

क्षेत्र का नाम	संख्या	प्रतिशत	क्षेत्र का नाम	संख्या	प्रतिशत
पश्चिमोत्तर प्रांत	21,131	46.5	अवध	13,207	29.0
बिहार	4,771	10.5	मध्यप्रदेश	2,802	6.2
पंजाब	828	1.8	राजस्थान	733	1.6
बाहरी उपनिवेश	640	1.4	नेपाल	398	0.9
बंगाल	150	0.3	पश्चिमी भारत	120	0.2
मद्रास	76	0.2	अन्य क्षेत्र	81	0.2
अनिश्चित	502	1.1			

ख. जिलों के अनुसार फीजी गए भारतीयों की स्थिति :

बस्ती	6,415	14.12	गोंडा	3,589	7.90
फैजाबाद	2,029	5.13	सुलतानपुर	1,747	3.85
आजमगढ़	1,716	3.78	गोरखपुर	1,683	3.70
इलाहाबाद	1,218	2.68	जौनपुर	1,188	2.06
शाहाबाद	1,128	2.48	गाजीपुर	1,127	2.48
रायबरेली	1,087	2.39	प्रतापगढ़	894	1.97
बाराबंकी	769	1.69	गया	765	1.68
बहराइच	750	1.65	रायपुर	744	1.64
बनारस	672	1.48	पटना	644	1.42
लखनऊ	613	1.34	कानपुर	583	1.28
उन्नाव	536	1.22	आगरा	549	1.20
मिर्जापुर	527	1.60	जयपुर	473	1.04

ग. गिरमितियों द्वारा बोली जाने वाली हिंदी की विविध उपभाषाएं :

गिरमितियों द्वारा बोली जाने वाली भारतीय भाषाओं के बोलने वालों की संख्या के 1956 तथा 1966 के तुलनात्मक आंकड़े बताते हैं कि हिंदुस्तानी, हिंदी और उर्दू (जो हिंदी के ही विभिन्न शैलीगत भेद हैं) के बोलने वालों की संख्या देश की कुल जनसंख्या का बड़ा भाग रही है।

भाषाएं	गृहभाषा 1956	गृहभाषा 1966	भाषाएं	गृहभाषा 1956	गृहभाषा 1966
हिंदुस्तानी	17,164	30,726	हिंदी*	3,644	783
तमिल	1,498	999	उर्दू	1,233	534
गुजराती	830	930	तेलुगू	797	309
पंजाबी	468	175			

*यहां हिंदी से अभिप्राय परिनिष्ठित खड़ी बोली और 'हिंदुस्तानी' से अभिप्राय फीजीबात/फीजी हिंदी से है।

घ. गिरमितियों द्वारा बोली जाने वाली हिंदी की विविध उपभाषाएं :

बिहारी	17,868	39.3
पूर्वी हिंदी	16,871	37.1
पं. हिंदी	6,903	15.2
राजस्थानी	1,111	2.4
अन्य भाषाएं	1,546	3.4
विदेशी उपनिवेश	640	1.4
अज्ञात	500	1.1
कुल	45,439	100%

आज जो आंकड़े हमें प्राप्त हैं उनके अनुसार 94% भारतीय हिंदी प्रदेशों से ले जाए गए थे तथा उनकी मातृभाषा हिंदी थी। स्वाभाविक ही था कि बहुसंख्यक भारतीयों की बोलचाल की भाषा हिंदी प्रवासी भारतीयों के मध्य भाषाभिव्यक्ति की भाषा बनती। तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, गुजरात और पंजाब से आने वाले भारतीय फीजी द्वीप समूह में बहुत बाद में आए। इस समय तक गिरमिटिए मजदूरों के मध्य एक संपर्क भाषा वस्तुतः विकसित हो चुकी थी जो प्रधानतया भोजपुरी मिश्रित अवधी थी जिसमें काईबीती तथा अंग्रेजी के निम्नलिखित शब्द भी सम्मिलित हो गए थे।

पंजाब, बंगाल, मद्रास, गुजरात आदि से आए प्रवासी भारतीयों ने शीघ्र ही हिंदी सीख ली और एक बड़ा हिंदी भाषी वर्ग तैयार हो गया। हिंदी अब विभिन्न भाषा भाषी भारतीयों के मध्य संपर्क भाषा बनी। वह उनके सुख-दुःख, आशा-निराशा की भाषा बनी। दिन भर गन्ने के खेतों में कड़ा परिश्रम करने के बाद रात को टिमटिमाते दिए के प्रकाश में वे थके-हारे गिरमिटिए, गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस का पाठ करते और श्रद्धा से मानस को 'रामायण महारानी' कहते। उन्हें लगता जैसे राम को बनवास मिला था और नियत अवधि समाप्त कर वे वापस अयोध्या लौट आए थे उसी प्रकार इनके भी बनवास (फीजी वास) के कठिन दिन कट जाएंगे और वे फिर अपने देश भारत जा सकेंगे। वे रोज रात रामायण पढ़ते, कबीर, मीरा, सूर, नानक के भजन गाते और सब जहाजी भाई मिल-जुलकर अपने कष्ट बांट लेते।¹ धीरे-धीरे अपने गांव से हजारों मील दूर बैठे इन प्रवासी भारतीयों को यह लगने लगा कि उन सबको साथ बांधे रखने का सबसे सशक्त माध्यम यदि कोई है तो वह उनकी अपनी भाषा हिंदी ही है। हिंदी को वह अपनी भारतीय अस्मिता की पहचान मानने लगे। आज फीजी के भरतवंशी संपूर्ण विश्व में फैले हुए हैं। आंकड़े बताते हैं कि फीजी हिंदी बोलने वाले फीजी में 313,798, न्यूजीलैंड में 27,882, आस्ट्रेलिया में 27,542, अमेरिका में 24,345, कनाडा में 22,770, टोंगा में 310 और अन्य फीजी के निकट द्वीप समूहों में बसे हुए हैं जिनके भावों और विचारों की माध्यम भाषा फीजीबात या फीजी हिंदी ही है।

फीजी में आज हिंदी के दो रूप हैं-पहला रूप बोलचाल की हिंदी का है और भारतीय उसका मातृभाषा के रूप में बड़ी सहजता से परिवार के बीच प्रयोग करते हैं। यह रूप वह है जिसका विकास फीजी के भारतीयों के मध्य पिछले सौ सालों में हुआ है, जिसे उन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी अपने पूर्वजों से सीखा है। हिंदी का दूसरा रूप औपचारिक हिंदी का है, जो संस्कृतनिष्ठ, परिनिष्ठित हिंदी है। आदर्श हिंदी के रूप में जिसका प्रयोग वे राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवसरों पर करते हैं। रेडियो, समाचार पत्रों तथा कक्षाओं में भी इसी हिंदी का प्रयोग होता है। एक फीजीवासी भारतीय अपनी बोलचाल की हिंदी को अशुद्ध, अपरिष्कृत, टूटी-फूटी तथा गंवार कहकर औपचारिक अवसरों पर उसका प्रयोग करने में संकोच करता है।² यदि किसी फीजीवासी भारतीय से आप मिलेंगे तो वह संस्कृतनिष्ठ हिंदी बोलकर आपको प्रभावित करना चाहेगा किंतु घर पर व परिवार में वह बोलचाल की हिंदी जिसे फीजी हिंदी या फीजीबात कहते हैं उसी का व्यवहार करेगा। भाषा द्वैत की यह स्थिति फीजी में बड़ी स्पष्ट दिखती है जहां मातृभाषा के रूप में वह फीजी हिंदी का व्यवहार करता है पर सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए वह परिनिष्ठित हिंदी का व्यवहार औपचारिक अवसरों पर करता है।³ यह आरोपित भाषा द्वैत फीजी में एक भारतवासी के लिए बहुत प्रियकर नहीं है और उसकी भाषा के विकास में बड़ी सीमा तक बाधक है।

मुझे याद है कि एक बार भारतीय राजनयिक के रूप में जब सार्वजनिक सभा में व्याख्यान देते हुए मैंने फीजीवासियों की 'फीजी हिंदी' के माधुर्य तथा उसकी भाषिक शक्ति की बात कही तो उनको बहुत अच्छा लगा। उनको यह लगा कि जो हिंदी उनकी अपनी है, जो उनके बीच विकसित हुई है, जो उनके अपने लोगों के बीच तीन-चार पीढ़ियों से भावों के आदान-प्रदान का माध्यम बनी हुई है वह इतनी गई बीती नहीं है। मेरे इस वक्तव्य का उन्होंने स्वागत किया, उनका मनोबल तथा आत्मविश्वास बढ़ा तथा उनके महत्वपूर्ण लोकप्रिय अंग्रेजी दैनिक में इसकी व्यापक चर्चा हुई।⁵

माफ स्ट्रीट, सूवा के रमेश चंद्र ने फीजी के दैनिक पत्र 'फीजी टाइम्स' के संपादक के नाम पत्र लिखते हुए भारतीय प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के फीजी आगमन की चर्चा करते हुए सार्वजनिक सभा में अपने भाषण में फीजी में बोली जानेवाली हिंदी की महत्ता की बात को रेखांकित किया था। उन्होंने यह भी लिखा कि इंदिरा गांधी ने 'फीजी हिंदी' की महत्ता की जो बात अपने भाषण में कही थी उसे रेडियो फीजी ने प्रसारित किए जाने वाले भाषण से निकाल दिया था। रमेश चंद्र ने फीजी रेडियो के कार्यक्रमों की हिंदी पर भी टिप्पणी करते हुए कहा कि जिस भाषा का प्रसारण कार्यक्रम में प्रयोग होता है उसको सुनकर तो ऐसा लगता है कि प्रसारित कार्यक्रम आल इंडिया रेडियो का है, न कि फीजी रेडियो का। उन्होंने यह भी आशा व्यक्त की कि चूंकि फीजी स्थित भारतीय हाईकमीशन के प्रथम सचिव डॉ. विमलेश कांति वर्मा ने फीजी-हिंदी को मान्यता दी है इसलिए आशा की जाती है कि धीरे-धीरे रेडियो फीजी में फीजी हिंदी को भी स्थान मिलेगा।⁶ कालांतर में फीजी रेडियो ने 'फीजी हिंदी' के महत्व को समझा और फीजी रेडियो में फीजी हिंदी के कार्यक्रम नियमित रूप से प्रसारित होने लगे।

फीजी हिंदी को प्रवासी भारतीयों ने कभी औपचारिक मान्यता नहीं दी।⁷ वे इसका प्रयोग घरों में बोलचाल की भाषा के रूप में ही करते, सामाजिक अवसरों पर वे परिनिष्ठित हिंदी का प्रयोग करते। संभवतः यही कारण था कि 'फीजी हिंदी' पर कोई कार्य नहीं हो सका। विदेशियों ने 'फीजी हिंदी' के इस बोलचाल के रूप को महत्व दिया, उसके सौंदर्य और माधुर्य को पहचाना, भारतीयों के मध्य कार्य करने के लिए 'फीजी हिंदी' सीखने-सिखाने के लिए भाषिक दृष्टि से थोड़ा कार्य भी किया।

'फीजी हिंदी' पर अब तक तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें मेरी दृष्टि में आई हैं-

(क) **फीजी हिंदी** : 'फीजी हिंदी' रोडने एफ. मोग द्वारा लिखित पुस्तक है। यह फीजी हिंदी का एक बेसिक कोर्स तथा रिफरेंस ग्रामर है, जिसका प्रकाशन आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी प्रेस, कैनबरा ने 1977 ई. में किया था। रोडने मोग अमरीकी सरकार के फीजी में फुलब्राइट स्कॉलर थे और 1975-77 ई. के बीच फीजी में रहकर उन्होंने 'फीजी हिंदी' के भाषिक स्वरूप का एक परिचयात्मक विवरण अपनी 291 पृष्ठों की इस पुस्तक में दिया है। सरकार के शिक्षा मंत्रालय के हिंदी एकक के वरिष्ठ शिक्षा अधिकारी रामानारायण ने परामर्शदाता के रूप में उनकी सहायता की।

अपने ग्रंथ की भूमिका में लेखक फीजी हिंदी के संदर्भ में लिखते हुए कहता है कि 2,70,000 व्यक्ति जो फीजी की जनसंख्या का 53 प्रतिशत भाग हैं उनकी गृह भाषा हिंदी है, यह संपूर्ण देश में बोली जाती है तथा वृद्ध और युवा दोनों ही वर्गों द्वारा समान रूप से प्रयोग की जाने वाली भाषा है। मोग का कहना है कि यह फीजी हिंदी पर लिखा गया पहला ग्रंथ है और इसमें पहली बार फीजी

की बोलचाल की हिंदी को लिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक का उद्देश्य अहिंदीभाषी फीजीयनों को तथा विदेशियों को फीजी में बोली जाने वाली हिंदी सिखाना है जिससे वे फीजी के भारतीय समुदाय के बीच सुविधापूर्वक कार्य कर सकें। वह सामाजिक गोष्ठियों, धार्मिक उत्सवों तथा कक्षा में पढ़ाई जाने वाली हिंदी को तो समझ लेता है किंतु बाजारों में, सड़कों पर तथा घर में बोली जाने वाली हिंदी नहीं समझ पाता इसलिए भारतीय समाज में सुविधापूर्वक काम करने के लिए बोलचाल की हिंदी 'फीजी हिंदी' में कौशल प्राप्त करना आवश्यक है।

इस पुस्तक में 6 पाठ इकाईयां हैं जिसमें अनेक वार्तालाप संबंधी अभ्यास हैं, संरचनात्मक सांचे हैं तथा व्याकरणिक व्याख्याएं हैं। 'फीजी हिंदी' के भाषिक पक्ष पर किया गया यह पहला तथा महत्वपूर्ण कार्य है।

(ख) अंग्रेजी-फीजी हिंदी-अंग्रेजी शब्दकोश : अंग्रेजी-फीजी हिंदी-अंग्रेजी शब्दकोश 'फीजी हिंदी' का पहला द्विभाषी शब्दकोश है जिसे सुश्री सूनन हाव्स ने तैयार किया है। प्रस्तुत ग्रंथ संपादक के साढ़े तीन वर्षों के परिश्रम का फल है तथा यह कार्य यूनाइटेड स्टेट्स पीस कार्पस तथा फीजी सरकार के शिक्षा मंत्रालय की संयुक्त आर्थिक सहायता से संभव हो सका है। पुस्तक की भूमिका श्री विवेकानंद स्कूल के रेमंड सी. पिल्लई ने लिखी है। फीजी हिंदी की स्थिति के बारे में लिखते हुए पिल्लई कहते हैं कि फीजी हिंदी को अभी भी एक सम्माननीय भाषा का स्थान नहीं मिला है।¹ कुछ तो फीजी हिंदी के अस्तित्व को ही नकारते हैं किंतु फीजी हिंदी का प्रयोग कम से कम तीन लाख व्यक्तियों द्वारा फीजी में होता है और साथ ही यदि किसी गैर भारतीय को फीजी के भारतीयों के मध्य कार्य करना है तो उनके लिए फीजी हिंदी का ज्ञान अनिवार्य है। उनकी दृष्टि में फीजी हिंदी के प्रारंभिक ज्ञान के लिए यह एक महत्वपूर्ण उपकरण है। फीजी हिंदी चूंकि केवल बोलचाल की भाषा है और उसका लिखित रूप नहीं है इसलिए उसमें प्रादेशिक भेद मिलना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ ऊपर-उप्पर, चमगादड़-गेदुर, चाहता-चाता आदि। यद्यपि इन संपूर्ण प्रादेशिक विभेदों की सूची प्रस्तुत करना संभव नहीं है फिर भी विभेदों को देने का प्रयत्न कोशकार ने किया है। प्रस्तुत शब्दकोश लघु आकार का कोश ग्रंथ है जिसके मुख्यतः तीन खंड हैं। पहले खंड (पृ. 7-20) में संपादक ने हिंदी वर्णों के अंग्रेजी, रोमन चिह्न, उच्चारण में जिह्वा की स्थिति तथा हिंदी ध्वनियों का उच्चारण दिया है। इसके उपरान्त कोश खंड है जो दो भागों में है। अंग्रेजी-फीजी हिंदी (पृ. 21-119) तथा फीजी हिंदी अंग्रेजी कोश (पृ. 121-204)। अंतिम पृष्ठ पर संपादक का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

(ग) से इट इन फीजी हिंदी : जेफ सीगल की पुस्तक 'से इट इन फीजी हिंदी' 55 पृष्ठों की एक लघु पुस्तिका है जिसका प्रकाशन पैसिफिक पब्लिकेशंस, सिडनी ने 1977 ई. में किया था। 1984 ई. में उसका पुनर्मुद्रण हुआ। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही लिखा हुआ है कि यह फीजी की आधी से अधिक जनसंख्या की दैनिक बोलचाल की भाषा के लिए उपयोगी पुस्तिका है। पुस्तक को आठ खंडों में बांटा गया है- 1. भूमिका 2. फीजी के भारतीय 3. हिंदुस्तानी ध्वनियों का परिचय 4. परिचित शब्द 5. फीजी हिंदी में अभिवादन, प्रश्न और उत्तर 6. भाषिक व सांस्कृतिक विशिष्टताएं 7. क्रियाएं 8. कुछ महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियां।

पुस्तिका की भूमिका में लेखक लिखता है कि फीजी के भारतीयों की भाषा सामान्यतः हिंदी या हिंदुस्तानी कही जाती है पर भारत में बोली जाने वाली भाषाओं से वह बहुत अलग है। फीजी के भारतीय अपनी भाषा को स्वयं फीजीबात या फीजी हिंदी कहते हैं। फीजी हिंदी में भारत की वर्तमान हिंदी की औपचारिकता नहीं है वरन् इसमें प्रशांत की सांगीतिकता देखने को मिलेगी। लेखक यह भी कहता है कि फीजी हिंदी को बहुत से लोग अवभाषिका (PATOIS) या मिश्रित भाषा (PIDGIN) कहते हैं उसे टूटी-फूटी तथा अपभ्रंश भी कहते हैं। वस्तुतः यह अशुद्ध हिंदी न होकर हिंदुस्तान में बोली जाने वाली हिंदी की किंतु उससे विभिन्न एक जीवंत बोली है जिसका अपना विशिष्ट व्याकरण है तथा फीजी के अनुकूल शब्द-भंडार है। यह पुस्तक उन लोगों के लिए लिखी गई है जो फीजी के भारतीय समुदाय की अनौपचारिक तथा बोलचाल की भाषा सीखना चाहते हैं। सीगल 'फीजीबात' को भाषिक विशिष्टताओं के आधार पर अवधी के निकट मानते हैं।¹⁰

फीजीबात या फीजी हिंदी न तो शुद्ध भोजपुरी है और न ही शुद्ध अवधी। वह हिंदी की एक नई विकसित भाषिक शैली है। फीजी हिंदी में भोजपुरी की शब्दावली पर्याप्त मात्रा में है, अवधी की वाक्य रचना के तत्व भी उसमें मिलेंगे पर फीजी हिंदी की अपनी भाषिक विशिष्टताएं हैं जो अवधी और भोजपुरी से अलग उसकी पृथक् सत्ता की घोषणा करती है तथा उसे हिंदी की विशिष्ट शैली का रूप देती है। उसमें अंग्रेजी फीजियन के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में हैं, उसकी वाक्य संरचना भी अलग है। स्वरूपतः वह अवधी का नवनिर्मित विदेश में विकसित रूप है जिसकी भाषिक संरचना मूलतः अवधी की है पर भोजपुरी तथा काईबीती भाषा की शब्दावली भी उसमें है।¹¹ फीजी हिंदी की भाषागत विशिष्टता है जोकि निम्नलिखित बिंदुओं के रूप में देखी जा सकती है।

ध्वनि-विचार :

फीजी हिंदी और हिंदी की स्वनिम व्यवस्था में बहुत समानता है पर कुछ महत्वपूर्ण अंतरों का संकेत किया जा सकता है। हिंदी 'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग शादी>सादी; 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग (विदेश>बिदेश) इसी तरह 'फ' के स्थान पर 'फ' (फल>फ ल) और 'ज़' के स्थान पर 'ज' (ज़मीन>जमीन) का प्रयोग फीजी हिंदी में सुनने को मिलेगा। इसी तरह दीर्घ 'आ' का ह्रस्वीकरण 'अ' (राजेन>रजेन) भी बोलचाल की भाषा में सुनाई पड़ता है।

शब्द भंडार :

फीजी हिंदी का शब्द भंडार मूलतः अवधी और भोजपुरी का है किंतु उसमें अंग्रेजी, काईबीती आदि भाषाओं के साथ विविध भारतीय भाषाओं के शब्द भी घुल-मिल गए हैं। कुछ विदेशी भाषा शब्द तो इतने बदल गए हैं कि उनको आज पहचानना भी मुश्किल हो गया है। गिरमिट (एग्रीमेंट के अधीन आनेवाला व्यक्ति), कोलंबर (काल नंबर-नंबर देकर बुलाया जाना) आदि शब्द ऐसे ही हैं। फीजी भाषा में जो अंग्रेजी शब्द हैं उनका उच्चारण भी अंग्रेजी से इतना अलग है कि वह फीजी भाषा की विशिष्टता ही माना जाएगा। मार्केट (मार्केट), बेग (बैग), गेर्ल (गर्ल), गराउंड (ग्राउंड), गरास (ग्रास), ओबासीज (ओवरसीज) आदि। फीजी हिंदी में काईबीती भाषा के भी शब्द पर्याप्त मिलेंगे। जैसे : नंगोना (फीजी का राष्ट्रीय मादक पेय), तांबुआ (लकड़ी का गोल गड्ढेदार पात्र), कोरो (गांव), केरे केरे (दूसरे की चीज को अपना समझकर हथिया लेना), लाली (लकड़ी का वाद्य)। परिनिष्ठित हिंदी के शब्द भी विकृत रूप में फीजी हिंदी में प्रयुक्त होते हैं। जैसे : केरा (केला), मछरी (मछली),

सादी (शादी), बदमास (बदमाश), अदमी (आदमी), मंगता (मांगता), उप्पर (ऊपर), जंता (जानता), नई (नहीं), अबी (अभी) आदि।

फीजी हिंदी में अंग्रेजी से आगत शब्दों के रूप इतने बदल गए हैं कि वे अंग्रेजी के अब मालूम ही नहीं पड़ते। नीचे ऐसे कुछ शब्द अवलोकनार्थ दिए जा रहे हैं-

हिंदी में अंग्रेजी से आगत शब्दों के प्रचलित व विकृत रूप देखिए-

फीजी हिंदी	अंग्रेजी	हिंदी	फीजी हिंदी	अंग्रेजी	हिंदी
अस्पताल	hospital	अस्पताल	आपुल	apple	सेब
कन्टाप	canetop	केनटाप	किचिन	kitchen	रसोई
कुलम्बर	oversear	काल नंबर	गिरास	grass	घास
गिर्मित	agreement	समझौता	गिलास	glass	ग्लास
गुआन	go on	जानवर को भगाना	चिनीटाट	Trinidad	त्रिनिदाद
डामरा	Demerara in British Guinea	डिमेरारा			
तमकु	tobacco	तम्बाकू	पराका	(fire) cracker	पटाखा
पलेट	plate	प्लेट	फ ल्म	plough	जोतना
फ़िल्म	film	फिल्म	बग्गि	buggy	बग्गी
बेल्फुट	breadfruit	ब्रेडफ्रूट	बोक्ष	box	बाक्स
बोल्ट	bolt	बोल्ट	मिरिच	Mauritius	मारीशस
मेरिट	marriage	विवाह	मोटर	car	मोटर
श्रीराम	Surinam	सूरीनाम	सब्ल	shovel	फडुआ
साकिस	cinema	सिनेमा	साट	shirt	कमीज
हामा	hammer	हथौड़ी			

सांख्यिक अभिव्यक्तियां :

फीजी हिंदी में संख्यावाची शब्दों के प्रचलित रूप लगभग हिंदी जैसे ही हैं। दस तक की संख्या के लिए हिंदी के ही शब्दों का सामान्यतः प्रयोग होता है। अपवाद है दो के लिए 'दुई' का प्रयोग। दस से अधिक की संख्या के लिए सामान्यतः अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग होता है। 20 से अधिक की संख्या पहले दहाई फिर इकाई जोड़कर बनाई जाती है जैसे 21 के लिए बिस और एक। इसी तरह सैंतीस को तिस और सात के रूप में कहा जाएगा। लाख और करोड़ संख्या फीजी हिंदी में नहीं है। निम्नलिखित तालिका हिंदी की संख्यावाची अभिव्यक्ति का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करती है :

फीजी हिंदी	हिंदी	फीजी हिंदी	हिंदी
बीस और एक	इक्कीस	बीस और दुइ	बाईस
बीस और तीन	तेईस	तीस और एक	इकतीस
तीस और दुइ	बत्तीस	तीस और तीन	तैंतीस
चालीस और एक	इकतालीस	चालीस और दुइ	बयालीस
चालीस और तीन	तैंतालीस		

वाक्य विचार :

क्रिया रूप (वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल) उदाहरणार्थ प्रस्तुत है जो फीजी हिंदी की वाक्य रचना की एक बानगी देंगे। 'सोचना' क्रिया के विभिन्न कालों तथा वचनों में रूप देखिए :

वर्तमान काल	एक वचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	ऊ सोचे	ऊ लोग सोचे
मध्य पुरुष	तुम सोचता	तुम लोग सोचता
उत्तम पुरुष	हम सोचता	हम लोग सोचता
भूतकाल		
प्रथम पुरुष	ऊ सोचिन	ऊ लोग सोचिन
मध्य पुरुष	तुम सोचा	तुम लोग सोचा
उत्तम पुरुष	हम सोचा	हम लोग सोचा
भविष्यकाल		
प्रथम पुरुष	ऊ सोची	ऊ लोग सोची
मध्य पुरुष	तुम सोचेगा	तुम लोग सोचेगा
उत्तम पुरुष	हम सोचेगा	हम लोग सोचेगा

कुछ बहुप्रचलित भाषिक अभिव्यक्तियों के नमूने फीजी हिंदी तथा परिनिष्ठत हिंदी में देखिए:

फीजी हिंदी

तुमार नाम/आपके नाम कौन ची है?
हम अभी आता (है)।
आपके लगे कितना मोटर है।
ऊ हमार भइया के नहीं जानता रहा।
हम नहीं समझा।
तुम मार्केट गया रहा।
ऊ लोग हमें कुछ नहीं बताइन रहा।
फिर से बोलना।
का हुए।
हम थक गया।
अच्छा लगे।
थोरा-थोरा।
खलास।
कितना दाम है?
हुवां सस्ता मिली।
दाम थोरा कमती करो।
अउर कमती।
खाली देखता।

परिनिष्ठत हिंदी

तुम्हारा/आपका क्या नाम है?
मैं अभी आता हूँ।
आपके पास कितनी मोटर हैं?
वह मेरे भाई को नहीं जानता था।
मैं नहीं समझा।
तुम मार्केट गए थे।
उन्होंने हमें कुछ नहीं बताया।
फिर से बोलिए।
क्या हुआ।
मैं थक गया।
मुझे अच्छा लगता है।
थोड़ा-थोड़ा।
समाप्त।
क्या दाम है?
वहां सस्ता मिलेगा।
दाम थोड़ा कम कीजिए।
और कम।
मैं केवल देख रहा हूँ।

लिपि :

फीजीबात/फीजी हिंदी रोमन तथा देवनागरी दोनों ही लिपियों में लिखी जाती है। रोमन लिपि में फीजी हिंदी का लिखा जाना इस बात का प्रमाण है कि फीजी हिंदी का भाषिक क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसका मौखिक प्रयोग काईबीती तथा अन्य सभी जाति के लोग करते हैं। ब्रज विलास लाल कृत 'मारित', रेमंड पिल्लई कृत 'अधूरा सपना' आदि फीजी हिंदी की रचनाएं रोमन लिपि में हैं जबकि शांतिदूत तथा भारतीयों के प्रयत्न से धीरे-धीरे देवनागरी का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। विद्यालयों में हिंदी शिक्षण के कारण फीजीवासी देवनागरी सीख रहे हैं। इस दिशा में सबसे बड़ा एवं महत्वपूर्ण प्रयास प्रो. सुब्रहमणी के उपन्यास का देवनागरी लिपि में प्रकाशन है। अब फीजी हिंदी भाषी यह समझने लगे हैं कि फीजी हिंदी का देवनागरी में लिखा जाना सही उच्चारण के अधिक निकट है और इसलिए अधिक व्यावहारिक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है फीजी हिंदी मूलतः बोलचाल की भाषा है। फीजी का रहने वाला भारतीय जब भावाभिव्यक्ति सार्वजनिक रूप में करना चाहता है तो वह परिनिष्ठित हिंदी का प्रयोग करता है। यही कारण है कि फीजी हिंदी में लिखित साहित्य बहुत कम मिलता है। काशीराम कुमुद, महावीर मित्र आदि कुछ कवियों ने कविताएं फीजी हिंदी में लिखी हैं। लोकगीतों में जो भावाभिव्यक्ति हुई है उसमें फीजी हिंदी की कुछ झलक जरूर मिलेगी। फीजी हिंदी टाइम्स के साप्ताहिक पत्र 'शांतिदूत' में संपादक महेंद्र चंद्र शर्मा 'विनोद', तिरलोक तिवारी छद्म नाम से प्रति सप्ताह 'थोरा हमरो भी सुनो' स्तंभ लिखते थे। यह स्तंभ बहुत ही लोकप्रिय था¹² और रोचक तथा व्यंगपूर्ण ढंग से महत्वपूर्ण घटनाओं का संकेत देता था। स्तंभ की लोकप्रियता से घबराकर फीजी हिंदी के कुछ विरोधियों ने इस स्तंभ को बंद करवाने की बात सोची और इस स्तंभ को बंद करने के लिए संपादक को पत्र लिखे। संपादक ने जब वह विरोधात्मक पत्र शांतिदूत में छपा तो सभी ओर से स्तंभ को न बंद करने की प्रतिक्रिया आई। संपादक के अनुसार उन्हें 356 पत्र ऐसे मिले जो कि स्तंभ के बने रहने के पक्षधर थे। उन्होंने इस संबंध में साउथ एंड वेस्ट कैनबरा के हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. रिचर्ड बार्ज, विरोधी दल के नेता पं. हरिश्चन्द्र शर्मा (जो बाद में देश के उप प्रधानमंत्री बने) के तीन पत्र छापे जिसमें 'थोरा हमरो भी तो सुनो' की प्रशंसा की गई थी तथा उस स्तंभ के नियमित प्रकाशन के लिए आग्रह किया गया। ये दो ही पत्र नीचे दिए जा रहे हैं जो स्तंभ की प्रकृति, उसकी महत्ता तथा लोकप्रियता का संकेत देंगे। प्रो. रिचर्ड बार्ज तथा पं. हरिश्चन्द्र शर्मा के पत्र उद्धृत हैं जिसमें उन्होंने 'थोरा हमरो भी तो सुनो' स्तंभ बंद न करने की संपादक से अपील की है।

(क) संपादक जी,

पिछले कई साल से मैं 'शांतिदूत' पढ़ता हूं। अपनी हिंदी की क्लासों में भी विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए 'शांतिदूत' के लेख दिया करता हूं। सबसे रुचिकर लेखों में तिरलोक तिवारी का 'थोरा हमरो भी तो सुनो' नामक कॉलम है। भाषा और विषय दोनों के दृष्टिकोण से फीजी का असली रस तिवारी के कॉलम से मिलता है। 'शांतिदूत' के 6 नवंबर के अंक में (पन्ना 4) मैंने पढ़ा कि कोई व्यक्ति चाहता है कि यह कॉलम बंद कर दिया जाए। मैं यह राय न मान सकता हूं और आशा करता हूं यह कॉलम 'शांतिदूत' में छपता जाएगा।

(रिचर्ड बार्ज, अध्यक्ष हिंदी विभाग, साउथ एंड वेस्ट एशिया सेंटर)

(ख) संपादकजी महाराज,

जय होय तिरलोक तिवारी के।

तिवारीजी के लेख 'थोरा हमरो भी तो सुनो' एतना अच्छा है कि हर हफ्ता जइसे शांतिदूत निकरे है, हमरे माफिक पता नहीं कितना लोग सीधा तिवारी वाला पन्ना उलिट के आंखी फार फार पढ़े हैं।

ई लेख के बाद हमरो बदनामी होई कि विरोधी दल के लीडर कहां ऐसन देहाती हिंदी में लिख मारिस। असली बात तो ई है कि हम गांव में पइदा भय रहा और आज भी हमार जस्ती समय देहाते में बीता करे है जहां तिरलोक तिवारी जी बड़ा भारी 'हीरो' है। जेही के सुनो वही तिवारी के बात करे है। होय सके है कि कोई कोई के तिवारी के बात ना अच्छा लगत होई ऊ लोग से बोलो कि तिवारी के लेख नहीं पढ़े।

बाकी एक बात हम बताय देई- जो 'थोरा हमरो भी सुनो' बंद भय तो तुम्हरे पैपर के बिक्करी कमती होय जाई। अब तुम ही सोचो कि तिवारी के लेख से शांतिदूत पढ़े वाले मजा लूटे हैं, ओहमें फायदा है कि लेख बंद कर देव और बिक्करी कमती होय जाए ओहमें?

(हरिश्चंद्र शर्मा, फीजी सरकार में विरोधी दल के लीडर, नांदी)

फीजी हिंदी में साहित्य सृजन :

फीजी के भारतीयों द्वारा विकसित हिंदी की नई विदेशी भाषिक शैली फीजीबात या फीजी-हिंदी इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि यह नई शैली कहीं से उधार ली गई कृत्रिम वार्तालाप की शैली नहीं है वरन् यह हिंदी का वह भाषिक रूप है जो प्रवासी भारतीयों द्वारा भारत से हजारों मील दूर विदेश में विकसित हुआ है जो हजारों लाखों भारतीयों द्वारा ही नहीं फीजी के रहने वाले सभी के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया है। भारतीयों को जोड़ने का यह सुदृढ़ माध्यम तो है ही हिंदी के विश्वव्यापी रूप का परिचायक भी है। इसकी सुरक्षा प्रवासी भारतीय बड़े यत्न से करते हैं। वे इसका सम्मान करते हैं तथा इसे अपनी भारतीय अस्मिता का परिचायक भी मानते हैं।

फीजी में शुद्धतावादी हिंदी के पक्षधर फीजी वासियों ने जो संख्या में बहुत कम थे पर जिनका भारत आना जाना बराबर बना रहता था और उनमें से कुछ ने भारत में रहकर विधिवत हिंदी सीखी भी थी, अपनी सामाजिक वर्चस्विता बनाए रखने के लिए 'फीजी हिंदी' का भरसक साहित्य सृजन के लिए विरोध किया जिससे फीजी हिंदी साहित्य की भाषा नहीं बन सकी पर जनसामान्य की भाषा तो फीजी हिंदी ही थी जिसका प्रयोग सभी भारतीय परिवार में या अनौपचारिक अवसरों पर करते थे इसलिए भावों और विचारों की अभिव्यक्ति भी वे अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी फीजी हिंदी में ही कर सकते थे। यही कारण था कि देश में एक वर्ग ऐसा भी तैयार हो गया जो साहित्य सृजन के लिए अपनी फीजी हिंदी को अधिक सक्षम तथा उपयुक्त मानता था। इस वर्ग के अधिकांश बुद्धिजीवी यूनिवर्सिटी ऑफ साउथ पैसिफिक में अध्यापक थे जो फीजी हिंदी में ही लिखना चाहते थे और निरंतर साहित्य सृजन में फीजी हिंदी का प्रयोग कर रहे थे। कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया पर इस दिशा में वे प्रयत्नशील रहे और अच्छी सृजनात्मक कृतियां वे समाज को दे सके जो साहित्यिक जगत में सम्मानित भी हुईं।

सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण नाम प्रो. रेमंड पिल्लई का है जिन्होंने अपना

नाटक 'अधूरा सपना' फीजी हिंदी में लिखा। यह नाटक 2007 में प्रकाशित हुआ। कालांतर में इस नाटक पर एक फिल्म भी बनी जो बहुत चर्चित रही। प्रो. ब्रिज विलास लाल ने अपना एक लघु उपन्यास 'मारित' नाम से लिखा। फीजी हिंदी में लिखी सबसे महत्वपूर्ण कृति प्रो. सुब्रमणी की 'डउका पुराण' 2001 में भारत में हिंदी बुक सेंटर से प्रकाशित हुई जो एक बृहत उपन्यास है। यह उपन्यास फीजी वासी भारतीयों के मध्य बहुत ही लोकप्रिय हुआ और इसने यह प्रमाणित कर दिया कि 'फीजी हिंदी' साहित्य सृजन के लिए एक सशक्त भाषा है। आस्ट्रेलिया के सुविख्यात भारतीय इतिहासकार प्रो. ब्रिज विलास लाल ने फीजी के प्रतिष्ठित दैनिक पत्र 'फीजी टाइम्स' को पत्र लिखकर 'डउका पुराण' की प्रशंसा की और 'डउका पुराण' का प्रकाशन फीजी के साहित्य जगत में एक महत्वपूर्ण घटना मानी गई।¹³ 'डउका पुराण' की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उपन्यास का जन भाषा फीजी हिंदी में लिखा जाना है। 'फीजी टाइम्स' में प्रकाशित अपने आलेख 'डउका पुराण इनवेडस होम्स' में लारा चेटी ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। भारत सरकार ने भी प्रो. सुब्रमणी को जो फीजी के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय यूनिवर्सिटी ऑफ साउथ पैसिफिक में अंग्रेजी विभाग के वरिष्ठ प्रोफेसर हैं, प्रतिष्ठित 'विश्व हिंदी सम्मान' देकर उनके महत्वपूर्ण साहित्यिक अवदान को मान्यता दी।

विश्व की अनेक भाषाएं आज विलुप्त होने के कगार पर हैं। कुछ विलुप्त हो चुकी हैं। विलुप्त भाषाओं के साथ उन भाषाओं के बोलने वालों की संस्कृति और उसमें संचित अभिव्यक्तियां भी लुप्त हो जाती हैं। अवधेय है कि मॉरीशस, त्रिनिदाद और दक्षिण अफ्रीका में बोली जाने वाली हिंदी जो वहां के प्रवासी भारतीयों के मध्य विकसित हुई थी उनके दुःख-सुख की, आशा-निराशा की अभिव्यक्तियों की संचित निधि थी वह लुप्त हो गई¹⁴ और उसका स्थान अंग्रेजी ने ले लिया है। यही स्थिति फीजी और सूरीनाम जैसे देशों की भी हो रही है जहां हिंदी को अंग्रेजी और डच जैसी सत्ता की भाषाएं निरंतर ग्रसती जा रही हैं। इस महत्वपूर्ण रहस्य को समझते हुए फीजी के प्रो. ब्रज विलास लाल, प्रो. रेमंड पिल्लर्ड, प्रो. सुब्रमणी, महेंद्रचन्द्र शर्मा 'विनोद', महावीर मित्र, काशीराम कुमुद, बाबू राम शर्मा जैसे सृजनात्मक लेखक से फीजी में और डॉ. जीतनराइन, हरदेव सहतू, आशा राजकुमार, अमर सिंह रमण जैसे व्यक्ति अपनी हिंदी को बचाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। वे इसमें साहित्य सृजन कर इसे प्रतिष्ठित कर रहे हैं और अच्छी साहित्यिक रचनाएं देकर विदेश में भी हिंदी को समृद्ध कर रहे हैं। यह सही है कि इन शैलियों में अभी भी कम रचनाएं हो रही हैं पर आशा की जाती है कि हिंदी के इन रूपों के महत्व को जैसे-जैसे हम समझेंगे इनमें अधिक रचनाएं आएंगी। परिनिष्ठित हिंदी इन भरतवंशियों की सायास सीखी हुई भाषा है इसलिए जो अधिकार अपनी हिंदी 'फीजी हिंदी' पर इनका है वह भारत की हिंदी पर नहीं हो सकता और अच्छी प्रौढ़ रचनाएं फीजी हिंदी में ही हो सकेंगी।

संदर्भ :

1. जय फीजी गिरमिट शताब्दी विशेषांक (11.05.1979) सं. कमला प्रसाद मिश्र, लौटाका, फीजी
2. वर्मा, विमलेशकांति : फीजी के प्रवासी भारतीय और उनकी हिंदी सेवा, राजभाषा भारती, वर्ष 16.अंक 62. जुलाई-सितंबर. 1993 गृहमंत्रालय, भारत सरकार,
3. गोविंद, रामनारायण : फीजी द्वीप में हिंदी दिवस, साहित्यकार, फीजी हिंदी साहित्य समिति

- का मुखपत्र. वर्ष 1. अंक 11968. पृष्ठ 7.
4. हाब्स, सूजन : फीजी हिंदी-इंगलिश-फीजी हिंदी डिक्शनरी. शिक्षा मंत्रालय, फीजी सरकार, सूवा, फीजी, 1985.
Fiji Times, Suva, Fiji Islands- 28.11.1985 (Sumitra Gokal : Fiji Hindi speaking Uttara Learns Hindi)
 5. Ramesh Chandra : Fiji Hindi – I am pleased that our Fiji Hindi is finally getting some recognition as an oral medium of mass communication and that it is in no way inferior to 'Pure Hindi' as said by Dr. Verma in the same article - Fiji Times, (Letter to Editor)14 May 1986.
 6. Now that our Fiji Hindi has been given some sort of recognition by the First Secretary of the Indian High Commission, Dr. Verma, I hope that Radio Fiji will air more programmes in our own evolved Fiji Hindi. Indeed many Fijian brothers speak it very well too. Letter to Editor, Fiji Times, Suva 28.11.1985.
 7. Fiji Sun, Lautoka Fiji Island, 26.3.1985 (Hazrat Adam : In Letter to the Editor) Fiji Sun, Lautoka Fiji Island, 10.4.1985 (Siegel in Letter to the Editor)
 8. सीगल, जेफ : से इट इन फीजी हिंदी, पैसिफिक पब्लिकेशन्स, सिडनी, 1984. पृष्ठ 5।
 9. देखिए परिशिष्ट सं. तीन सूजन हाब्स का साक्षात्कार, शांतिदूत साप्ताहिक 18.04.1985
 10. सीगल. जेफ : से इट इन फीजी हिंदी, पैसिफिक पब्लिकेशन, 1984. पृ. 51.
Fiji Sun 10.4.1985 (Siegel : All Languages Change- Letter to the Editor)
 11. वर्मा, विमलेशकांति : हिंदी और उसकी उपभाषाएं, एक संक्षिप्त सर्वेक्षण, प्रकाशन विभाग, सूचना व प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1995 पृ. 319
 12. शांतिदूत साप्ताहिक फीजी टाइम्स, सूवा, फीजी 6 नवंबर 1986 व 13 नवंबर 1986
 13. The publication of the novel is a major event in the literary and cultural history of the Indo-Fijian Community in particular and of Fiji in general, Far from being a 'flop', the novel is a powerful chronicling of a community and country caught in the grips of a traumatic transition 'Dauka Puran' reveals to us better than anything and know the inner world of the Indo-Fijian community that has almost vanished beyond recalls its rituals, ceremonies, superstitious, little goings on in the privacy of individual homes, that gave its coherence and character and nurtured its soul in often curcumfrances. Letter to Fiji Times by Prof. B.V. Lal to Fiji Times, Suva, Fiji, 13th Aug. 2002.
 14. सुब्रमणी Mother tongue, परिशिष्ट संख्या-तीन

परिशिष्ट-1

भाषा नमूना-एक :

हेरफोर्ड चौदहवां जहाज रहा जिसमें गिरमितिया लोग के लिए के इंडिया से फीजी लवा गइस रहा। इसके बाद ई जहाज दुइ अउर दफे फीजी आइस। ई जहाज 1510 टन गरु अउर लोहा के बना, पाल वाला जहाज रहा जिसके 1869 में ग्लासको के जे. एलडर एंड कंपनी, मर्चेंट शिपिंग कंपनी आफ लंडन खातिर बनइस रहा। शुरू में इसके न्यूजीलैंड नवा इमिग्रेंट लोगन के लिए जाए खातिर काम में लवा गइस रहा। 1882 में ई जहाज के नौस लाइन खरीद लीस अउर इसके वेस्ट इंडीज गिरमितिया लोगन के जाए खातिर काम में लवा गइस। ई जहाज फीजी पहिला दफे 24 अप्रैल 1888 में 539 गिरमितिया लोगन के लिए के अउर तीसरा दफे 28 जून 1884 के 511 गिरमितिया लोगन के लिए के आइस। 1898 में हेरफोर्ड के नार्वे के एक कंपनी के बेच देवा गइस अउर 1907 में ई अर्जेटीना के नंगीच एक चट्टान पे चढ़ के डूब गईस।

भाषा नमूना-दो :

ताजा खबर

- 19 नवंबर- इंडिया के प्राइम मिनिस्टर नरेन्द्र मोदी फीजी आइस
- 17 सितंबर- फीजी के जनरल इलेक्शन में बैनीबरामा के फीजी फर्स्ट पार्टी के जीत भइस
- 29 जून- नौसोरी के दक्म्बाऊ पार्क में नांदी, सुवा के एक्स्ट्रा टाइम में 1-0 से हराए के 2014 वोडाफोन फीजी फैक्ट के जीत लीस
- 20 जून- फीजी मिलिट्री के नवा कमांडर, ब्रिगेडियर जनरल मोसेसे तिकोईटोंगा, बताइस के मिलिट्रीराज के नीचे कुछ लाग के मारा अउआ स्टावा गईस रहा।
- 26 मई- नरेन्द्र मोदी इंडिया के 15 वां प्राइम मिनिस्टर बना
- 12 फरवरी- फीजी के प्राइम मिनिस्टर बैनीबरामा बताइस कि ऊ आपन पार्टी के बारे में अगला महीना अउर जानकारी दी।
- 1879 से लिए के 1916 तक, 42 जहाज 87 ट्रिप में 60,553 गिरमितिया लोगन के लिए के फीजी से आइस रहा। इसमें से 45,439 लोग कलकत्ता से अउर 15,114 लोग मदरास से जहाज में चढ़िन रहा।
- फीजी के लेजिसलेटिव काउंसिल के पहिला हिंदुस्तानी मेम्बर बदरी महाराज रहा, जिसके गवर्नर नामिनेट करिस रहा अउर जोन 1971-1923 अउर 1926-1929 तक काउंसिल के मेंबर रहा।

(फीजी हिंदी विकीपीडिया (पहिला पन्ना) से साभार)

परिशिष्ट-2

फीजी हिंदी के कुछ विशिष्ट शब्द और उनके हिंदी प्रतिरूप [लघु फीजी हिंदी-हिंदी शब्द को] संकेत चिह्न* अंग्रेजी शब्द + काईबीती शब्द

फीजी हिंदी	हिंदी	फीजी हिंदी	हिंदी
अक्किल	बुद्धि	अगोरना	प्रतीक्षा करना
अठारा	अठारह	अदली बदल	अदला-बदली
अनरस	अनन्नास	अपन	अपना
अपुल*	सेब	अब्बा /आपा	पिता
आखी	आंख	आगी	आग
आजा	बाबा	आजी	दादी
आदी-	अदरक	आरकाटी*	रेक्रूटर का अपभ्रंश रूप
आसू	आंसू	आस्ते	धीरे
उचकी	हिचकी	उज्जर	सफेद
उमिर	उम्र	ऊबी	ऊबना
ऐसन	इस प्रकार	कंटाप*	केन टॉप
कन्त्राक*	कॉन्ट्रैक्टर का अपभ्रंश रूप	कस्वीघर	वेश्यालय
केरे केरे ⁺	मांगना	कोंची	क्या
कोठियां	जागीरें	कोरो*	गांव
कोलम्बर*	कॉल नंबर का अपभ्रंश रूप	खस्सी	बकरा
गप	झूठ	गराउंड*	ग्राउंड
गिरमित*	एग्रीमेंट का अपभ्रंश रूप	गुमाश्ता	एजेंट
गेंग	गेंग	चा	चाय
जाती	काईबीती	जुलुम	सुन्दर
जोर	झटपट	झाप	दरवाजा
टंगड़ी	कुल्हाड़ी	टट्टी	पाखाना
टहरो	टहलना	टिबिल	मेज
टीचा	अध्यापक	टोच	टोर्च
डामरा	डीमेरारा (ब्रिटिश गुयाना)	तपोड़ी बजाना	ताली बजाना
तबाले	पत्नी का भाई	तबे	इसलिए
तमाखू	तम्बाकू	तलनवा	कहानी
तलब	मजदूरी	तागत	ताकत
तीता	कडुआ	तूड़ना	तोड़ना
तोपना	गाड़ना	त्रिनिटाट	त्रिनिदाद
थरिया	थाली	थिएटर	सिनेमा
थेथर	जिद्दी	दक्षिण	भारतीय
दफादार	भरती करने वाला एजेंट लासी	दस्तक	प्रमाणपत्र
नगोना ⁺	यंगोना (जड़ी- बूटियों से बनाया गया एक नशीला स्वागत पेय)		

पंजाबी	सिख	पल्ला	दरवाजा
बचन	वायदा	बड़कऊ	जेठ
बड़की अम्मा	बड़ी बुआ	बदरी	बदली
बम्बइया	बंबई का	बहिनी	बहन
बाक्स	बक्सा	बाजारू	वेश्या
बारना	जलाना	बिकरी	विक्रय
बिछौना	बिस्तर	बिया	भालू
बिलो*	नारियल का खेल नंगोना के लिए	बिस्तुइया	छिपकली
बिहान	आने वाला कल	बुढ़िया	वृद्ध स्त्री
बुलुट	बोल्ट	बेना	पंखा
बोखार	बुखार	बोडा बीन	बोड़ा
भईया	भाई	भउजी	भाभी
भगाओ	अपहरण करना	भाजी	हरी सब्जी
भोंग	भोंदू	भोतर	भोतरा
मनद्राजी	दक्षिण भारतीय	मालिक	भगवान
मिरिच	मारीशस	यार	दोस्त
तस्कर	नाविक	श्रीराम	सूरीनाम
सिरीराम	श्रीराम	सूतना	सोना

परिशिष्ट-3

सुब्रमणी : Mother tongue

Among the endangered languages is my own childhood vernacular – Fiji or folk Hindi.

I have written on this before, arguing that the up-rooting of Indo-Fijian farmers is not just a question of loss of livelihood (although that is equally important) & It also means the disintegration of a whole way of life.

Rural Fiji has been the stronghold of Indo-Fijian culture – it is where Fiji (folk) Hindi developed.

According to scholars who have studied the language (Rodney Moag) Jeff Siegel, France Mugler (Fiji Hindi is a mixture of Awadhi, Bhojpuri, Hindustani, and it has borrowed from the Fijian language (s) and English.

It is recognized as a fully developed language with its own grammar and logic and aesthetic qualities. Thus it is not a corrupt version of standard Hindi.

There are a variety of speakers of this language including ethnic Fijians. It is tragic fact that many educated Indo-Fijians fail to recognize that we have been in these islands for over a century and we have developed a language and culture of our own. Indo-Fijians are a distinct group of people now.

Unfortunately there exists a certain amount of disdain among some seg-

ments of our community for that language and culture. In the long run such an attitude can be very damaging for the status of Hindi in Fiji.

As the linguist Jeff Siegel has accurately pointed out: "It is ironic that because of their intolerance of my non-standard variety of Hindi, even though it is the mother tongue of the community, the purist may actually contribute to the demise not only of the nonstandard variety, but Fiji Hindi as well.

Thus, in South Africa, Trinidad and Guyana, the living nonstandard varieties are nearly gone and standard Hindi remains only as a "cultural language", learned as second or third language by some but of more symbolic than practical value.

The real danger is that our squabble over which language can result in our losing both the living and vital Fiji (folk) Hindi as well as the formally used standard Hindi.

The sensible approach should be to allow both languages to flourish without any bias and let people move freely from one language to another as we already do.

However, we must recognize that for most of us Fiji, (folk) Hindi is our mother tongue. Although in our mind it might not have the same prestige as standard Hindi, it is for us to give the language that prestige by using it elegantly and creatively.

I discovered the power and beauty of Fiji (folk) Hindi during the course of writing a novel in that language.

I do not have the space here to explain fully why I chose Fiji Hindi.

It was a carefully considered artistic and intellectual choice. I must say that I am gratified by the responses of Indo-Fijians and Indians from the subcontinent.

-Fiji Times, Suva, Fiji Island, 23.10.02

परिशिष्ट-4

सूजन हाब्स से एक साक्षात्कार

शीर्षक : 'फ़ीजी हिंदी डिक्शनरी हम लोग के वास्ते है, हिंदी जानेवाला लोग के वास्ते नहीं'

रेडियो और समाचारपत्रों के माध्यम से फ़ीजी के लोग यह सुन ही चुके हैं कि एक अमरीकी पीस को महिला, कुमारी सूजन होब्स (बी.ए.) 'फ़ीजी हिंदी' का शब्द कोश (डिक्शनरी) तैयार कर रही हैं जिसके खिलाफ और पक्ष में स्थानीय तथा विदेशी लोगों ने अपने विचार समाचार पत्रों में व्यक्त किए हैं।

कुमारी होब्स के विवादास्पद शब्दकोश के संबंध में हमने उनसे हिंदी में ही एक भेंटवार्ता की जिसका विवरण पाठकों की दिलचस्पी के लिए नीचे दिया जा रहा है और आशा है कि आप इसे पसंद करेंगे।

'सूजनजी आप कहां की रहने वाली हैं और यहां कब और क्यों आईं?'

'हमार पैदाइस केनाडा में, लेकिन हम मेसाचूसेट्स, अमेरिका में रहता है। हम हियां साढ़े तीन साल पहिले आया। दस हफ्ता पीस को ट्रेनिंग खलास तब हम श्री विवेकानंद हाय स्कूल में दुई

साल मेथमेटिक्स पढ़ाया फिर एजुकेशन रिसोर्स सेंटर, नसीनू में एक साल ग्रेफिक आर्टिस्ट रहा। अभी हम करीकुलम डिवेलपमेंट यूनिट, नसेसे में तीन महीना से काम करता है।’

‘आप ने हिंदी कहां सीखी और डिक्शनरी तैयार करने के बारे में आप ने कैसे सोचा?’

‘हम पीस को ट्रेनिंग के टाइम हिंदी सीखा और हमार दिलचस्पी इसमें बढ़ा। हम सोचा कि मेहनत करके हम सीखेगा। हमके बहुत अच्छा लगा। फिर हम हिंदुस्तानी परिवार में रहा और सब कुछ सीखा। ऊ लोग कैसे बात करे हम अच्छा से सुना। हमके बहुत फायदा भइस और हम सोचा कि जब हम पीस को लोग हिंदी सीखता है तो थोड़ा कड़ा लगे है। हम पूछा कोई डिक्शनरी नहीं है फीजी हिंदी के तो सब लोग बताइस नहीं है। तब हम एक आयडिआ सोचा कि एक फीजी हिंदी डिक्शनरी होता तो पीस को के वास्ते ठीक होता और हम हिंदी शब्द बटोरा। बहुत मेहनत करा और हमार डिक्शनरी जल्दी तैयार होय जाई। इससे पीस को के बहुत मदद मिली।’

‘अच्छा, इस डिक्शनरी में क्या रहेगा?’

हमार डिक्शनरी में 256 पन्ना है और दुई हजार से जादा वेड्स हैं और उच्चारन के साथे क्रिया के फोर्म भी हैं। हम दुइ हजार कोपी छपाएगा, औशीनिया प्रिंटरों में। हम सोचता है कि लगभग तीन हजार डोला लगी छपावे के वास्ते।’

‘आप किसके लिए यह शब्दकोश खास करके तैयार कर रही हैं?’

‘ई डिक्शनरी पीस को के वास्ते है, ऊ सब लोग के वास्ते है जौन हिंदी नहीं जाने हैं। ऊ हिंदुस्तानी के वास्ते भी है जौन साउथ इंडिया से या और कहीं से आइन लेकिन हिंदी उनके जुबान नहीं है। काईबीती लोग के भी उससे फायदा होई, बोरा लोग के भी। हिंदी जाने वाला के वास्ते ऊ नहीं है।’

‘आप कहां, ऐसी हिंदी काम में ला सकती हैं।’

‘जब हम लोग गांव में, दुकान, मार्केट, टाउन जाता है तब हिंदी में बात करता है। ऊ लोग बहुत खुशी होय है कि हम हिंदी बोलता है। ऊ लोग बेइमानी नहीं करे सके काहे के कि हम हिंदी जानता है।’

‘आप को इसे तैयार करने में कितना समय लगा?’

‘हम शुरू करा जब हम हियां रहा लेकिन सबसे जादा हम ऊ (पिछले) साल लिखा। हम पूरा तीन साल मेहनत करा, बहुत मेहनत लगा।’

‘किसी से मदद ली आप ने, सृजनजी?’

‘हां हम जहां कहीं जाता रहा तब हम सबसे बात करता और सिखता रहा। कोई नवा बात सुना तो उसके जल्दी से लिख लेता रहा और उसके मतलब पूछता रहा। ऐसे करते करते तीन साल में हम एक पूरा डिक्शनरी बना लिया। सुधारे के वास्ते हम कुछ हिंदुस्तानी लोग से पूछा और ऊ लोग हमके मदद करिस।’

‘आपने इस डिक्शनरी को हिंदी अक्षरों में क्यों नहीं लिखा?’

‘हम वहीं मंगता रहा लेकिन फीजी में इंगलिश और हिंदी टाइप सेटिंग करे के बहुत मुश्किल है। अगर होय भी जाई तो बहुत टाइम लगी और जादा कोस्ट होई। हमार पास टाइम नहीं है। ऐसे

लिखे में अच्छा भी रही काहे के वास्ते कि जौन लोग के हिंदी आवे नहीं है ऊ लोग के सीखे के बहुत सहज रही ।

‘अच्छा सूजनजी, हम आशा करते हैं कि आप की डिक्शनरी जल्द तैयार हो जाएगी और सभी भविष्य में आने वाले पीस को उससे सहायता मिलेगी ।’

(‘शांतिदूत’ साप्ताहिक, सूवा, 18 अप्रैल 1985)

संदर्भ :

1. अग्रवाल, प्रेमनारायण : प्रवासी, मानसरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद 1940
2. एंड्रयूज सी.एफ. व पियर्सन डब्ल्यू डब्ल्यू : फीजी में भारतीय प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा, प्रताप प्रेस, कानपुर 1919
3. काउटर, जोन वेसली : फीजी, लिटिल इंडिया ऑफ पैसिफिक, शिकागो विश्वविद्यालय 1948
4. कोंडपी, सी : इंडियंस ओवरसीज 1838-1949, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1951
5. गोविंद, रामनारायण : फीजी द्वीप में हिंदी दिवस, साहित्यकार, फीजी हिंदी साहित्य समिति का मुखपत्र वर्ष 1, अंक 1, 1985
6. गुप्ता, शुचि : फीजी में प्रवासी भारतीय, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, 2010
7. चतुर्वेदी, जगदीश प्रसाद : फीजी में प्रवासी भारतीय, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली 1985
8. द्वारकानाथ : ए हिस्ट्री आफ इंडियंस इन ब्रिटिश गयाना, थामसनेलसन एंड संस, लंदन 1950
9. नायडू, रेगीना : लैंग्वेज बैरियर्स, द फीजी टाइम्स आनलाइन 13 अगस्त 2012
10. पिल्लई, रेमंड : अधूरा सपना, (एन एंथालोजी ऑफ ड्रामा फ्राम फीजी जी, सं. इआन जैसकाल) पैसिफिक राइटिंग फोरम, सूवा 2001
11. बार्ज, आर. के व सीगल जे. : लैंग्वेज ट्रांसप्लैटिड- द डेवलपमेंट ऑफ ओवरसीज हिंदी, बाइसबेडेन 1988
12. मेस्त्री, राजेन्द्र : लैंग्वेज इन इनडेंचर, विटवाटरस्ट्रैंड यूनिवर्सिटी प्रेस, जोहानेसबर्ग, साउथ अफ्रीका, 1991
13. मोग, रोडने : फीजी हिंदी (ए बेसिक कोर्स एंड रिफरेंस ग्रामर, आस्ट्रेलियन यूनिवर्सिटी प्रेस, कैनबरा, आस्ट्रेलिया 1977
14. वर्मा, विमलेशकांति : हिंदी और उसकी उपभाषाएं- एक संक्षिप्त सर्वतोमुखी सर्वेक्षण, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय 1995
15. वर्मा, विमलेशकांति : फीजी में हिंदी : स्वरूप और विकास, पीतांबरा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
16. वर्मा, विमलेशकांति : फीजी का सृजनात्मक हिंदी साहित्य- साहित्य अकादेमी, संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार 2013
17. वर्मा, विमलेशकांति : विदेश में हिंदी पूर्वाह व उत्तरार्ध (गगनांचल (विशेषांक) वर्ष 27, अंक 1-4, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली 2004
18. वर्मा, विमलेशकांति : सूरीनाम का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2015
19. शर्मा, नेतराम : फीजी हिंदी और उसका व्यवहार क्षेत्र (अप्रकाशित लघु क्षेत्रीय शोध प्रबंध) केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली 1983
20. सनाढ्य तोताराम : फीजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष, बनारसीदास चतुर्वेदी, ज्ञानपुर, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1973
21. सन्यासी, भवानी दयाल : प्रवासी की आत्मकथा, आर्य युवक सभा, दक्षिण अफ्रीका, द्वितीय संस्करण 2013

22. सिनहा, दयाप्रकाश : गगनांचल (फीजी विशेषांक वर्ष 2, अंक 4, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् 1970)
23. सीगल, जे.एफ : से इट इन फीजी हिंदी, पैसिफिक पब्लिकेशंस, सिडनी 1984
24. सुब्रहमणी : डउका पुरान, हिंदी बुक सेंटर, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 2001
25. हाब्स, सूजन : अंग्रेजी-फीजी-हिंदी-अंग्रेजी डिक्शनरी, शिक्षा मंत्रालय, फीजी सरकार, सूवा, फीजी 1985

पत्रिकाएं :

1. Fijian Studies, Vol. 1 No. 1. Review by Soma Prakash, Head Dept. of Language & Literature, University of South Pacific, Suva, of Dauka Puran Writer Subramani (The Linguistic Wheel Coming Full Circle).
2. जय फीजी, गिरमित शताब्दी विशेषांक (11.5.1979) सं. कमला प्रसाद मित्र फीजी टाइम्स (अंग्रेजी) फीजी टाइम्स प्रकाशन, सूवा, फीजी

संपादक के नाम पत्र :

- 28.11.1985 Ramesh Chandra : Fiji Hindi
 28.11.1985 Sumitra Gopal : Fiji Hindi Speaking Uttara Learns Hindi
 14.05.1986 Ramesh Chandra : Fiji Hindi
 2.12.2001 Dauka Puran invades homes
 13.8.2012 Regina Naidu : Language barriers
 24.10.2002 Nikhat Shameem, (Dr.) Programme Leader, School of English & Applied Linguistics, UNITEC, Auckland, New Zealand : Fiji Hindi
 31.10.2002 Kalyan Chandra, Suva, Fiji Hindi
 9.11.2002 Narendra Gaji : Roman Vs. Hindi Script
 10.11.2002 ReginaAnthony : Linguistic fool
 21.11.2002 Tomasi Balmer, Nadi : Hindi Debate
 21.11.2002 Shri Ram : Fiji Hindi
 21.11.2002 Narendra Gaji : Fiji Hindi

फीजी सन, (अंग्रेजी) लौटोका, फीजी

संपादक के नाम पत्र

- 10.4.1985 Jeff Siegel : All language change, Pacific Language Unit, University of South Pacific
 26.3.1985 Hazrat Adam : Letter to the Editor

शांतिदूत साप्ताहिक, फीजी सरकार प्रकाशन, सूवा, फीजी

संपादक के नाम पत्र

- 18.4.1986 सूजन होब्स : फीजी डिक्शनरी हम लोग के वास्ते है, हिंदी जाने वाला लोग के वास्ते नहीं
 25.12.1986 संपादक जी महाराज, जय होय हिंदी भाषा के
 राजभाषा भारतीय राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, वर्ष 15, अंक 62, 1993
 भाषा, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली

करिबियन देशों में हिंदी भाषा और समाज

मोहन कांत गौतम

कहा जाता है कि क्रिस्टोफर कोलंबस ने वर्ष 1492 में पहली बार करिबियन देशों को खोजा था किंतु नए शोध बताते हैं कि इसके पहले मिंग साम्राज्य के तीसरे सम्राट Tgwinh का एडमिरल ज्यू वेन, डोमिनिका और ग्वापडालूप द्वीपों से होकर प्यूर्टोरिको पहुंचा था और इन देशों का पता वर्ष 1421-23 में लग चुका था। उसके बाद दो और पालवाले जहाज वहां पहुंचे थे (Menzies, 2003)। बाद में अंग्रेज, डच, फ्रांसीसी, पुर्तगीज और स्पेनिश सभी करिबियन देशों पर अधिकार जमाने के लिए आपस में लड़ने लगे। पहले तो वे सोने की खोज में लगे रहे। बाद में अपने द्वीपों में बागानों में कॉफी, ईख, कपास, केला तथा काकाओ आदि की खेती के लिए अफ्रीका से गुलामों को लाए। जब गुलामों के साथ वे पशुओं से भी बदतर व्यवहार करने लगे तब इंग्लैंड में गुलामी उन्मूलन का आंदोलन शुरू हुआ। 1806 में वहां की पार्लियामेंट ने उपनिवेशों में गुलामी व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया और 1833 में इस कानून को बंद कर दिया गया। गुलामों के स्वतंत्र होने के साथ बागानों में उत्पादन घटने लगा। श्रमिकों की कमी को दूर करने के लिए पहले तो यूरोप के श्रमिकों को बुलाने की मांग उठी। 1839-40 के बीच सैकड़ों गरीब फ्रांसीसी और जर्मन त्रिनिदाद पहुंचे। अकेले जमैका में 4,500 अंग्रेजों के बागानों में काम करने के लिए भर्ती हुई। इन्हें वेतन भी ज्यादा दिया गया। मालिकों को इसके लिए अंग्रेज सरकार ने 20 मिलियन पौंड भी दिए। चीनियों की भी भर्ती हुई। सभी नए श्रमिक, बागानों का सख्त काम नहीं कर सके। अंग्रेज यह जानते थे कि भारतीय किसानों में निपुण होते हैं इसलिए उन्हें बुलाने का प्रबंध किया गया। 1834 में मॉरीशस, 1838 में ब्रिटिश गयाना और 1845 से करिबियन द्वीपों में भारतीयों का 5 वर्ष के ठेके की शर्तबंदी के द्वारा बागानों में प्रवास होने लगा (Northrup, 1995)। आरंभ में ये अधिकतर उत्तर भारत के हिंदी और संबंधित बोलियों के अंचलों से आए। कलकत्ता के मुख्य 9 डिपो में जो भवानीपुर और गार्डन रीच में थे उन्हें 'भारतीय' के बदले 'कुली' कहा गया। फ्रांसीसी उपनिवेशों में अधिकतर दक्षिण भारतीय थे जो आरंभ में भारत के फ्रांसीसी उपनिवेशों में रहते थे और तमिल, तेलुगू आदि भाषाएँ बोलते थे।

प्रवासी भारतीय हिंदुस्तानी और अपनी मातृभाषा दोनों का उपयोग करते थे। हिंदुस्तानी एक संपर्क भाषा थी जिसे अंग्रेज अफसर, पुलिस और सेना के सैनिक सभी बोलते थे। मातृभाषाओं में ब्रज, मगही, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली, नेपाली, बंगाली और आदिवासी बोलियां परिवार और मित्रों के

साथ बोली जाती थीं। मानक हिंदी को जाननेवाले थोड़े लोग थे जो अपना नाम बदल कर करिबियन द्वीपों में गए थे क्योंकि अंग्रेज नहीं चाहते थे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय भी वहां जाएं। उपनिवेशों में 5 वर्षीय शर्तबन्दी की अवधि काटने के बाद वे अपने नाम के आगे ब्राह्मण और क्षत्रिय नाम का उपयोग करने लगे। वे प्रवासियों की एकता के लिए और धर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए कथा-वाचन, पंडिताई और संस्कार करने कराने लगे। अधिकतर ब्राह्मणों ने अपने को 'महाराज', 'गुंसाई' कहा। कुछ ने तिवारी, अवस्थी, मिश्र, पांडे और शर्मा आदि का उपयोग शुरू किया। सूरीनाम को छोड़कर अन्य करिबियन देशों में प्रवासी भारतीय हिंदी नहीं बोल पाते हैं। हां स्वतंत्रता के बाद भारतीय उच्चायोग खुलने से सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना द्वारा फिर से मानक हिंदी का प्रचार-प्रसार, शिक्षण और साहित्य बनने लगा। डच उपनिवेश सूरीनाम में ही हिंदी साहित्य का विकास हुआ। हिंदी न पनप सकी इसका मुख्य कारण उपनिवेशी सरकार की नीति थी। वे चाहते थे कि प्रवासी भारतीय अपनी भाषा भूल जाएं और अफ्रीकी लोगों में मिल जाएं और उन्हीं की भाषा में बोलें। औपचारिक अंग्रेजी, डच, और फ्रांसीसी भाषाएं जरूर अनिवार्य बन गईं। यह आत्मसात करने की नीति थी। सरकारी दबाव और अफ्रीकी क्रियोल समाज में प्रवासी भारतीयों को उन्हीं के साथ रहना पड़ा। प्रयत्न यह भी था कि प्रवासी भारतीय अपना विवाह क्रियोल समाज में करें। 'क्रियोल' नाम अफ्रीकी भाषा को गुलामी प्रथा के उन्मूलन के बाद मिला। क्रियोल समाज अपनी अफ्रीकी मातृ भाषाएं भूल चुके थे। वह एक तरह की सरल पाटुई और क्रियोल बोलते हैं जिसमें अंग्रेजी और फ्रांसीसी शब्द भी होते हैं और उसका व्याकरण साधारण है। अंग्रेजों ने उपनिवेशों में प्रवास के लिए स्त्रियों को भेजना उचित नहीं समझा था। शुरू में मुश्किल से 12% प्रतिशत स्त्रियां थीं जिनकी संख्या बाद में 30% प्रतिशत हो गई। स्त्रियों की कमी से प्रवासी पुरुषों को अकेलापन महसूस होने लगा। कुछ ने तो क्रियोल स्त्रियों से संबंध बना लिए और कुछ भारत वापस जाने के लिए प्रयत्नशील रहे। उनमें तनाव होने लगा और जलन, ईर्ष्या आदि के कारण आपस में मारपीट तक होने लगी। किसी न किसी तरह पांच वर्ष की शर्तबन्दी ठेका की अवधि बिताने के बाद वे या तो वहीं के निवासी बन गए या फिर भारत लौट गए। यहां हम करिबियन देशों में हिंदी की क्या स्थिति रही और यदि विकास हुआ तो कैसे हुआ इसको समझने का प्रयास करेंगे।

गयाना :

गयाना (ब्रिटिश गयाना) पूर्व में सूरीनाम, पश्चिम में वेनेजुएला, दक्षिण में ब्राजील और उत्तर में करिबियन समुद्र से घिरा है। सन 1616 में गयाना डच अधिकार में था। डचों ने इसके विकास में करिबियन उत्तरी समुद्री तट पर 200 कि.मी. लंबा बांध (कलाम) बनाया था और बागानों में खेती के लिए नहरों और सड़कों का जाल बिछाया था। अंग्रेजों ने इसे सन 1796 में अपने अधिकार में लिया। नेपोलियन की लड़ाइयों के बाद सन 1814 में अंग्रेजों ने इसे डच सरकार से खरीद लिया और पेरिस संधि के अनुसार सूरीनाम डचों की और कायेन (Cayane) या फ्रांसीसी गयाना फ्रांस को दे दिया था। अंग्रेजी औपचारिक भाषा बनी। सन 1833 में गुलामी उन्मूलन के बाद उपनिवेश के बागानों की स्थिति बहुत नाजुक हो गई। श्रमिकों की कमी से उत्पादन घट गया। श्रमिकों की तलाश में मॉरीशस के आधार पर सन 1838 में Gillenders, Arbuthnot - Co. से भारत के श्रमिकों की मांग हुई। भारतीयों को लाने वाला पहला जहाज 'हेसपेरस' था जिससे 414 मजदूरों का

दल कलकत्ता छोड़ने के 112 दिन बाद गयाना के बरबीस और डिमरारा बंदरगाह पहुंचा। इस पालवाले जहाज में हिंदी बोलने वालों के साथ 150 छोटा नागपुर (झारखंड) के ढांगर, मुंडा, कोल और ओरांव आदिवासी भी थे। दूसरा जहाज 'विटबी' था। यात्रा में 18 भारतीयों की मृत्यु होने से केवल 396 भारतीय ब्रिटिश गयाना पहुंचे। इस तरह 1838 से 1917 तक 2,39,000 प्रवासी भारतीय ब्रिटिश गयाना पहुंच चुके थे। 1862 के बाद ब्रिटिश गयाना में भी 5 वर्षीय ठेके की शर्तबंद स्थापित हो गई। सभी ने टूटी-फूटी हिंदी का उपयोग किया पर बोलचाल की भाषा क्रियोल ही रही। प्रवासी भारतीय अंग्रेजी से अपरिचित थे। वहां अनुवादक और दुभाषिए नहीं थे। 1876 में शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। प्रवासी भारतीयों ने इस डर से कि कहीं उन्हें ईसाई न बना दिया जाए बच्चों को स्कूलों में नहीं भेजा। फिर पढ़ाने वाले भी क्रियोल थे जो ईसाई थे। हिंदी भाषा और भारतीय संस्कृति को पढ़ाने का प्रश्न ही नहीं था। ईसाई मिशनरी अपने गिरजाघरों से लगे स्कूलों में ईसाई मत का प्रचार-प्रसार करते थे। सन 1862 में ई.एच. बोस ब्रिटिश गयाना आकर ऐंगलीकन ईसाई बन गए। उन्होंने 1865 से 1870 के बीच 30 प्रवासी भारतीयों को ईसाई बना डाला। बोस हिंदी में ही बात करते थे। जब 1917 में भारतीयों को उपनिवेशों में भेजना बंद किया गया तब 70% प्रतिशत से अधिक प्रवासी भारतीय अनपढ़ थे (Parsaud, 1993; Mangru, 2000; Rodney, 1982)।

सन 1890 में प्रवासी भारतीयों की स्थिति को आंकने के लिए भारत सरकार (ब्रिटिश) ने एक दल करिबियन देशों में भेजा था। उन्होंने ब्रिटिश गयाना के स्कूलों में भारतीय बच्चों की शिक्षा पर सिफारिशें कीं। वैसे एंगलिकन ईसाई मिशनरियों ने 1844 में पहले जार्ज टाउन में 'क्वीन्स कॉलेज' खोला था। यह ग्रामर स्कूल था और एंगलिकन गिरजाघर से जुड़ा था। सन 1880 में वीरास्वामी मुदालियर पहले दुभाषिए बने। वहां हिंदी बोलने वाले दुभाषिए (Rodney, 1982) नहीं थे। उस समय केवल भारतीयों के लिए 19 स्कूल थे जहां सिर्फ 1308 दस वर्ष के नीचे वाले बच्चे थे लेकिन उन स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई नहीं थी। सन 1911 में जार्ज टाउन में किंग जार्ज हिंदी स्कूल खोला गया जो दो वर्ष के अंदर ही बंद हो गया। 1916 में ब्रिटिश गयाना ईस्ट इंडियन एसोशिएशन ने आत्मसात करने के लिए क्रियोलों और प्रवासी भारतीयों के बीच फासला न बढ़े, इसे अपना लक्ष्य बनाया। इससे निकेरी (सूरीनाम) से लगे बरबीस प्रदेश में क्रियोल और अंग्रेजी पर बल दिया गया। उसी वर्ष न्यू एम्स्टर्डम नगर में कनेडियन प्रेसबिटेरियन मिशन ने एक स्कूल खोला जिसमें हिंदी को पाठ्यक्रम में रखा गया। 1931 में बाथबामानी अंचल में हिंदी स्कूल खुला जिसके पाठ्यक्रम में संस्कृत भी रखी गई। सन 1927 के बाद ब्रिटिश गयाना में सनातन धर्म महासभा और आर्य समाज की स्थापना के बाद स्कूलों में हिंदी पढ़ाई जाने लगी। सन 1929 में 'ब्रिटिश गयाना ईस्ट इंडियन' संस्था स्थापित हुई जिसका आशय था कि भारतीय अपनी भाषा, संस्कृति और धरोहर को न भूलें। साहित्य को बढ़ावा देने के लिए 1937 में बरबीस के कोरनतायन अंचल में भारतीयों ने 'ईस्ट इंडियन साहित्यिक संस्था' बनाई (Ruhomon, 1938)। 1934 में भास्करानंद गयाना आए और आर्य समाज के प्रचार के लिए, दस वर्ष तक रहे। उन्होंने गयाना 'ओरियंटल कॉलेज' की स्थापना की।

आर्य समाज की अनौपचारिक स्थापना भाई परमानंद ने 1910 में जार्ज टाउन में की थी। भाई परमानंद (1876-1947) त्रिनिदाद होकर गयाना आए थे। भारतीयों में एकता लाने के लिए उन्होंने हिंदी का प्रचार किया। सूरीनामी प्रवासी भी उनसे बहुत प्रभावित हुए और प्रयत्न करते रहे कि गयाना

की भाँति सूरीनाम में हिंदी लुप्त न हो जाए। 1950 के दशक में गयाना में 50 स्कूल थे जहाँ हिंदी का अध्यापन होता था। हिंदू धार्मिक सभा ने भी स्कूल खोले जिनमें हिंदी भाषा, कला, धर्म और संस्कृति पढ़ाई जाती थी। हिंदी केवल प्राथमिक कक्षाओं तक सीमित रही। स्कूल के अध्यापन का माध्यम अंग्रेजी ही बना रहा।

भारतीय अध्ययन करने के बजाय 'विजुअल' (visual) कार्यक्रमों पर अधिक ध्यान देते हैं। गयाना में भी 1929 से ब्रिटिश गयाना ड्रामेटिक सोसायटी के प्रोत्साहन से नाटक खेले गए। 'सावित्री' पहला नाटक था जिसकी निदेशक श्रीमती जे.बी. सिंह थी। बाद में अमरीका से आए एस. एन.घोष ने श्रीमती सिंह के साथ कई नाटकों को प्रस्तुत किया। दो नाम मुख्य थे 'महारानी अराकान की' और रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियों पर आधारित एकांकी। टैगोर की पुस्तकें भी भारत से मंगवाकर बांटी गईं। बाद में नाटकों में अंग्रेजी का भी प्रयोग होने लगा (Ruhomun, 1938; Persaud, 1988)। भारतीय फिल्मों के आने से लोग फिल्में देखना पसंद करने लगे और उनके गीतों को गाने लगे। डॉ. छेदी जगन स्वयं फिल्म देखने के शौकीन थे। वे गीत भी गाया करते थे। हिंदी के लुप्त होने का कारण क्रियोलों और भारतीयों के बीच बढ़ती दूरी भी थी। डॉ. छेदी जगन को, जो चुनकर राष्ट्रपति (1953) बने थे, इंग्लैंड और अमेरिका (USA) की साजिश से हटा दिया गया था। इसी बीच में गयाना में काफी दंगे-फसाद हुए। 1964 में चुनाव हुए उसमें फोर्बस बर्नहम राष्ट्रपति चुने गए। उन्होंने भारतीयों के विरोध में क्रियोलीकरण को अपनाया। उन्होंने गयाना नेशनल सर्विस के अंतर्गत रेडियो, टेलीविजन और समाचार पत्रों का सरकारीकरण किया और भारतीयों की सैनिक भर्ती अनिवार्य कर दी। इससे भारतीयों में रोष पैदा हुआ।

भारतीयों की लड़कियों को सेना के उन कैंपों में भेजा गया जहाँ सिर्फ क्रियोल सैनिक थे और उन पर जोर जबरदस्ती की गई। बाद में उनके माता-पिता को पता चला कि इन लड़कियों के क्रियोल बच्चे हैं। इस अपमान को खून के घूंट की तरह पीकर माता-पिता तड़पते रहे। अमरीका के राष्ट्रपति कार्टर ने अंग्रेजों से चुनाव की मांग की। सन् 1992 में चुनाव हुए और 18 वर्ष बाद डॉ. छेदी जगन फिर विजयी हुए। 1966 में गयाना की स्वतंत्रता के बाद भारतीय उच्च आयोग भी वहाँ खुला पर शुरू में वह बहुत कुछ नहीं कर सका। इसी बीच आधे से ज्यादा प्रवासी भारतीयों ने गयाना छोड़ दिया और वेनेजुएला, सूरीनाम, त्रिनिदाद, सं.रा. अमरीका, कनाडा और इंग्लैंड में जाकर या तो पढ़ने या व्यवसाय खोजने लगे। 1990 के दशक में तीन बार मुझे गयाना जाने का अवसर मिला। हिंदी के बारे में यह ज्ञात हुआ कि लोगों के पास हिंदी उर्दू की पुस्तकें तो हैं पर वे पढ़ नहीं सकते। भारतीय उच्चायुक्त श्री विजय कुमार ने भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के द्वारा हिंदी का प्रचार-प्रसार किया। रिपु प्रसाद कृषि मंत्री और लोकसभा के अध्यक्ष विजय कुमार अच्छे मित्र थे। दोनों जब मिलते तो बीच में हिंदी में भी बातें करते थे। रिपु प्रसाद नागपुर के प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में आए थे तब वह विद्यार्थी थे। 1995 में विजय कुमार ने भारतीय उच्चायोग के माध्यम से हिंदी में मासिक 'मयूरी-मंजर' समाचार-भारती निकाला था। इसमें गयाना और भारत के समाचार, महाभारत, रामायण, महान व्यक्ति जैसे गोस्वामी तुलसीदास, दयानंद सरस्वती, तथा भारतीय सब्जी बनाने की विधि, भारतीय स्वतंत्रता दिवस, महात्मा गांधी, और हिंदी की वर्णमाला-स्वर, व्यंजन आदि प्रकाशित होते थे। भारतीय उच्चायोग के खुलने से पहले महातम सिंह 1955 में गयाना आए थे और उन्होंने पूरे गयाना में

घूम-घूम कर हिंदी पढ़ाई थी। 1976 में उन्होंने ब्रिटिश गयाना हिंदी प्रचार सभा की स्थापना की थी। इसके निर्माण में सर्वश्री हरि प्रसाद, रामजस तिवारी, श्रीमती पंडित मोहन राय तथा बलवंत सिंह सहायक थे। महातम सिंह ने जार्ज टाउन में क्वीन्स कॉलेज के प्रेक्षागृह में नाटक भी करवाया। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के पाठ्यक्रम पर आधारित तीन परीक्षाएं-प्राथमिक, मध्यमा और राष्ट्रभाषा चल रही थी। भारतीय उच्चायोग में भी महातम सिंह ने काम किया था। उनके बाद श्रीमती रत्नमाया देवी दीक्षित (अम्मा) और योगिराज ने भी हिंदी का अध्यापन किया। उदय नारायण तिवारी ने भी वहां हिंदी पढ़ाई थी। हिंदी अध्यापन में आई.सी.सी.आर. ने काफी काम किया है और कर रहा है। इनका उद्देश्य मानक हिंदी पढ़ाने का था। दो स्कूलों में अब भी हिंदी के अध्यापन पर जोर दिया जा रहा है। बरबीस में स्थापित 'टैगोर मेमोरियल हाई स्कूल' की स्थापना प्रो. महाचार्य ने की थी और दूसरा हिंदू कॉलेज जिसे स्वामी पूर्णानंद जी महाराज ने स्थापित किया था। उन्हें भारत सेवाश्रम संघ ने गयाना भेजा था। यह स्कूल कोव एंडक जोन में डिमेरारा के पूर्वी तट पर है। यह कहना उचित होगा कि बिना हिंदी के मंदिरों में कोई काम नहीं हो सकता और हिंदू-मुस्लिम संस्कार और हदीस के नियमों को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। हिंदी रेडियो और टेलीविजन पर सुनाई और दिखाई देती है पर बोलने में लुप्तप्राय है। भारतीय संस्कृति और साहित्य की रचना अंग्रेजी में ही हो रही है। 'हिंदी की जय' भारतीय अवश्य दोहराते हैं पर उसका उपयोग नहीं कर पाते। गयाना विश्वविद्यालय, जार्ज टाउन में भी हिंदी और भारतीय संस्कृति के अध्यापन और अध्ययन न के बराबर ही है। प्रवासी भारतीयों के नाम पर शोध होते हैं पर हिंदी को शिक्षा माध्यम में कोई स्थान नहीं मिल सका है (Seecharan, 1999 (Alleyne, 1985)। हिंदी क्रियोली भाषा से मिल गई है। गयाना के प्रवासी भारतीय क्रियोल हिंदुस्तानी बोलते हैं जैसे 'मी जावे' (Mie jawe)। जब कोई भारतीय उन्हें मिलता है तब सर्वनाम 'आप' का प्रयोग होता है (Gamnbhir, 1986), रोजमर्रा के शब्द अवश्य हिंदी के हैं।

सन 1993 में मैंने गयाना की हिंदी की संरचना को समझने के लिए शोध किया तो अनेक साक्षात्कार लिए थे। भाषा और व्याकरणिक पक्ष के विश्लेषण से पता चला कि गयाना के पश्चिमी इलाकों में (ऐस्से किबो, मेमुनपड़व, और डिमेरारा, (Demerara) हिंदी लुप्त हो गई है। हां अपनी शब्दावली में क्रियोल और अंग्रेजी के साथ हिंदी की संज्ञाओं का प्रयोग अब भी करते हैं चाहे वे धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश से जुड़ी हों या खाने-पीने से संबंधित हों। गयाना के बरबीस अंचल में, जो पूर्व में सूरीनाम की सीमा से लगा हुआ है, एक आध वृद्ध लोग हिंदी या मिश्रित हिंदी बोलते हैं। समस्या उनके लड़के, लड़कियों और नाती, पोतों की है क्योंकि वे हिंदी को समझ ही नहीं पाते। हां मातृभाषा की शब्दावली से अवश्य परिचित हैं। बरबीस के स्केयलडन गांव में एक वयोवृद्ध स्त्री का पता लगा। जब मैंने उससे वार्तालाप किया तो वह बहुत प्रसन्न हुई क्योंकि उसकी हिंदी को बहुत कम लोग समझ सकते थे। उसकी हिंदी की संरचना अवधी से मिश्रित थी। उसकी क्रिया में भोजपुरी का पुट था। मेरे हर प्रश्न पर जो मैंने अवधी और भोजपुरी में पूछे उसने हिंदी ही में उत्तर दिया। मेरी बातचीत के हर दूसरे वाक्य के बाद प्रवासी भारतीय पूछते थे कि मैं आपको अंग्रेजी में बताऊं। उदाहरण के लिए मैं कुछ वाक्यों में उनकी हिंदी के बारे में बताऊंगा। उसका नाम था महादैया और 1993 में उसकी उम्र थी 86 वर्ष। उसके माता-पिता जेतीपुरा, आगरा से 5 वर्षीय

शर्तबंदी ठेके पर Springland बागान में आए थे। वहीं उसका जन्म हुआ था। किस जहाज से आई थी यह नहीं बता सकी।

‘हमार बाप-माई आई रही मुल्क हिंदोस्तान से। हमार बाप का गांव जेतपुरा रहा। जब बाप-मां आइली सब बोलत रहा फाल्गुन में आइला। हम न जाने कौन साल रहा। माई बाप के संगे नाना नानी भी आइली। हम मुल्क से न आइली, यही पैदा हुइली। बाप के 9 लड़कन रहे। अब दुई जना हैं। लोगी रहने के स्थान बारक रहा। मंदिर अब याद ना है।’

त्रिनिदाद और टोबागो :

त्रिनिदाद द्वीप गयाना के उत्तर पश्चिम में और वेनेजुएला के पूर्व उत्तर में करिबियन समुद्र में स्थित है। त्रिनिदाद के दक्षिण और उत्तर पश्चिम से वेनेजुएला का तट दिखाई देता है। टोबागो द्वीप छोटा है और उत्तर-पूर्व में स्थित है। आजकल टोबागो में अधिकतर अफ्रीकी क्रियोल रहते हैं। सन 1952 में स्पेनिश लोगों ने त्रिनिदाद में सेंट जोसेफ नगर स्थापित किया था जो आज के पोर्ट ऑफ स्पेन की उत्तरी पूर्वी सीमा से लगा हुआ है। सन 1637 में इस नगर को ध्वस्त कर दिया गया बाद में यह द्वीप वेनेजुएला के हाथ में आ गया। वर्ष 1757 में जब त्रिनिदाद के गवर्नर ने अपना कार्यालय बदला तब से पोर्ट आफ स्पेन का महत्व बढ़ने लगा। 1794 से 1796 के बीच फिर से फ्रांसीसी और अंग्रेज त्रिनिदाद को हथियाने में लग गए। 1797 में त्रिनिदाद पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। बाद में टोबागो भी त्रिनिदाद का भाग बन गया (Ashdown, 1988)। त्रिनिदाद के गवर्नर सर राल्फ वुडफोर्ड ने सन 1814 में ही भारतीयों को मंगवाने की योजना बना ली थी। उन्होंने उपनिवेश दफ्तर को अपने पत्र में लिखा था ‘भारतीय कृषक अपनी मेहनत और शांति से काम करने के लिए प्रसिद्ध हैं’ (समारू, हरक सिंह, आदि, 1995)। मारीशस और ब्रिटिश गयाना के उदाहरण के आधार पर शर्तबंदी भारतीयों का पहला जहाज ‘फतल रजाक’ था जो कलकत्ता से चलकर 30 मई 1845 को 225 भारतीयों के साथ त्रिनिदाद पहुंचा था। इस पाल वाले जहाज की यात्रा में केप आफ गुड होप तक 96 दिन लगे और 41 दिन त्रिनिदाद तक और लगे। इसमें दक्षिण भारतीयों के अतिरिक्त उत्तर भारत के हिंदी और उससे संबंधित भाषा-बोलियों के प्रवासी थे। 1845 से 1917 तक कुल 143000 भारतीय त्रिनिदाद में पहुंचे थे। 1870 के बाद जो प्रवासी भारतीय त्रिनिदाद में रहना चाहते थे उन्हें जमीनें मिली। सन 1870 से 1880 तक कोई 356 भारतीयों ने जमीनें खरीद ली थीं। सन 1897 से 1970 तक, 6,804 भारतीयों ने जमीन खरीद कर त्रिनिदाद में अपने घर बसाए (रामसरन, 1993)। कनेडियन प्रेसबिटेरियन मिशनरी के डॉ. जोन मार्टिन ने ‘इर गांव में पहला स्कूल स्थापित किया। बड़ी मुश्किल से पढ़ने के लिए तीन बच्चे मिले। प्रवासी माता-पिता को डर था कि इन ईसाई स्कूलों में धर्म परिवर्तन करने का षड्यंत्र है इसलिए जो ईसाई बन गए उनके बच्चों ने तो दाखिला लिया लेकिन शेष हिंदू और मुसलमान माता-पिता ने इन स्कूलों का बहिष्कार किया। 1869 में त्रिनिदाद के गवर्नर गोरडन ने अपने पत्र में, जो लंदन की लेजिस्लेटिव काउंसिल को लिखा था कि बड़ी कठिनाई से भारतीय बच्चे इन सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। सन 1970 में जब डॉ. ग्रांट ने दूसरा हाई स्कूल खोला तो हिंदी को भी पाठ्यक्रम में रखा। सन 173 में स्कूलों की संख्या 12 थी और 1911 में बढ़कर 61 हो गई। मुसलमानों ने फिर भी उर्दू को किसी न किसी प्रकार से सुरक्षित रखा (ब्रेरेटन, दूकरन, 1982)। तानापूना में एक छापखाना भी खोला। प्रचार हिंदी ही में होता था। हिंदी

की बाइबिलें भारत से मंगवाई गईं। बाबू लाल बिहारी ने 1882 में वाल्मीकि रामायण पर टीका तथा सारा मोर्टन ने 'रत्न माला' 'और' 'गतिमाला' लिखी (समरू, 1982)। 1987 में सिर्फ 82% अनपढ़ थे जो 1911 के आंकड़े से 21% रह गए (रामसरन, 1993)। 1922 तक 72 स्कूल खुल गए थे जिन्हें 'इंडियन स्कूल' कहा जाता था। काश्तकारी के साथ लोग अन्य व्यवसायों में लग गए। 1899 में इंडियन नेशनल पंचायत ऑफ त्रिनिदाद और 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' स्थापित हो चुके थे और प्रवासी भारतीयों में भारतीयता की भावना विकसित होने लगी थी। 1898 से पोर्ट ऑफ स्पेन से 'कोहिनूर' समाचार पत्र निकलने लगा, जो प्रत्येक रविवार को हिंदी का सप्लीमेंट निकालता था। ए.बी. सिंह के संपादन में एक साप्ताहिक पत्रिका 'ईस्ट इंडियन वीकली' निकली। अधिकतर सामग्री अंग्रेजी ही में लिखी होती थी (समरू, हरक सिंह, 1994)। सन 1990 में जब मैं त्रिनिदाद में था तब लोग हिंदी नहीं बोल पाते थे। हिंदी पढ़ने के लिए उसे रोमन लिपि में लिखते थे। भोजपुरी-अवधी-ब्रज मिश्रित हिंदी कभी-कभी अस्थायी बाजारों में बड़े बूढ़ों से सुनाई दे जाती थी। मैंने कुछ उदाहरण अपने टेप पर लिए थे पर बातचीत में अंग्रेजी ही थी, बीच-बीच में हिंदी की शब्दावली जरूर मिलती थी।

हिंदी के प्रति भारतीयता की भावनाएं 1950 के दशक में आरंभ हो गई थी। धार्मिक संस्थाओं ने यह समझ लिया था कि बिना हिंदी का प्रारंभिक ज्ञान लिए मंदिर भी उजड़ जाएंगे। हिंदी के प्रचार-प्रसार में पंडितों का बड़ा योगदान था। भदसे महाराज (1920-1971) और उनके दामाद सतनारायण महाराज (आजकल उम्र काफी हो गई है) ने हिंदी के लिए काफी काम किया। 1952 में सनातन धर्म महासभा का निर्माण हुआ और उसी वर्ष 'लक्ष्मी गर्ल्स स्कूल' बना। 1962 में त्रिनिदाद जब स्वतंत्र हुआ, पहले प्रधानमंत्री एरिक विलियम थे। बाद में भारतीय उच्चायोग स्थापित हुआ। प्रवासी भारतीयों से आकर्षित होकर डॉ. हरिशंकर आदेश वहां पहुंचे थे। भारतीय उच्चायुक्त आनंद मोहन सहाय ने हिंदी एजुकेशन बोर्ड की स्थापना की जिसमें दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की परीक्षाएं त्रिनिदाद में होने लगीं। गीता प्रेस, गोरखपुर की 'शिशुपाठ' पुस्तकें पाठ्यक्रम में रखी गईं। प्रो. आदेश ने दस वर्ष तक काम किया, बाद में उन्होंने भारतीय 'विद्या संस्थान' खोला जो आजकल आश्रम कहलाता है। डॉ. भूदेव शर्मा का इसमें बड़ा योग था। उन्होंने एक पत्रिका निकाली- 'ज्योति' उसके प्रथम अंक में लिखा :

*आंधी, पानी, ज्योति, अंधेरा,
चलते रहना काम है मेरा।*

इसके अतिरिक्त 'प्रगति' और 'विवेक' और बाद में 'हिंदी चेतना' त्रैमासिक पत्रिका निकाली। प्रो. आदेश कनाडा और त्रिनिदाद में रहते हैं। प्रो. आदेश ने चार महाकाव्य लिखे, 'अनुराग' (1983), 'शकुंतला' (1997), 'महारानी दमयन्ती' (2006) और 'नितीरा' (2008) साथ में कहानियां, उपन्यास, नाटक, निबंध, अनूदित साहित्य भी प्रकाशित किया। हिंदी सीखने के लिए हिंदी पद्य सुरभि, हिंदी गद्य सुरभि, 'हिंदी व्याकरण समीक्षा', 'आओ हम सब हिंदी बोलें' और 'हिंदी विवेक' (3 भागों में) लिखा। आजकल त्रिनिदाद के स्कूलों के अध्यापक प्रो. आदेश के ही विद्यार्थी हैं।

महाकवि आदेश का 'अनुराग' महाकाव्य 'महाभारत' के पात्रों पर लिखा गया है। इसके माध्यम से भारतीय संस्कृति की नैतिकता, आदर्श कर्तव्य की भावना आदि उच्चगुणों के प्रति युवा पीढ़ी को

जागृत किया गया है। महाकवि आदेश पिता शांतनु, माता गंगा, सत्यवती और पुत्र भीष्म आदि पात्रों के माध्यम से माता-पिता और बेटों का अपने एक-दूसरे के प्रति होने वाला कर्तव्य तथा नैतिकता के भाव व्यक्त करते हैं। इसमें राजा शांतनु का गंगा और सत्यवती के प्रति निःस्वार्थ प्रेम, माता गंगा का पुत्र के लिए त्याग, पुत्र भीष्म का पिता के लिए त्याग, सत्यवती द्वारा कन्या का कर्तव्य पालन आदि को व्यक्त किया गया है। (प्रो. पदमा पाटील के सौजन्य से, यश, आदेश, 1983)।

आदेश ने त्रिनिदाद में जाकर पश्चिमीकरण के द्वारा टूट रहे प्रवासी भारतीय परिवारों को देखा था। चूंकि धार्मिक मिथक और महाकाव्यों के पात्रों को, उनके परस्पर वार्तालाप को त्रिनिदाद के प्रवासी भारतवंशी आसानी से समझ सकते थे इसलिए यह एक अच्छी पहल थी। धार्मिक धरोहर को समझने के लिए हिंदी का बड़ा योग रहा है। प्रवासी भारतवंशी हिंदी की दुहाई इसलिए भी देते हैं कि धार्मिक मूल्यों को जीवित रखना है तो हिंदी अवश्य पढ़ी, लिखी जाए और बोली जाए। त्रिनिदादवासी हिंदी रोमन लिपि में लिखते हैं किंतु संचार में अंग्रेजी का ही उपयोग करते हैं। हां, बीच-बीच में हिंदी शब्दावली जरूर सुनाई देती है।

प्रो. आदेश ने संगीत, बाल साहित्य और धर्मशिक्षा पर भी पुस्तकें लिखीं और त्रिनिदाद के लोक गीतों को भी लिपिबद्ध किया। वे त्रिनिदाद के प्रवासी भारतीयों को फिर से भारत से जोड़ने और उनमें भारतीयता विकसित करना चाहते थे। आज त्रिनिदाद में आदेशजी को त्रिनिदाद का भारतीय माना जाता है। उन्होंने हिंदी साहित्य सृजन के लिए विद्यार्थियों को प्रेरित किया। वे त्रिनिदाद के हिंदी सेवकों पर एक संकलन तैयार कर रहे हैं।

यह कहना अनुचित न होगा कि हिंदी के प्रचार-प्रसार में 'सनातन धर्म महासभा', 'त्रिनिदाद अकादमी ऑफ हिंदुइज्म', विश्वज्योति और गनाइजेशन', 'सनातन विद्वत विद्यालय', हिंदू प्रचार केंद्र', हिंदू टीचर्स एसोसिएशन', 'वेदिक मिशन', 'सेकेंडरी स्कूल सांस्कृतिक संगम', तथा 'आर्य प्रतिनिधि सभा' आदि का महत्वपूर्ण योगदान था (महाराज, 1919)। संस्थाएं अपनी पत्रिका भी निकालती हैं जिसमें हिंदी कम अंग्रेजी अधिक होती है। सतनारायण महाराज सनातन हिंदू महासभा से एक समाचार पत्र 'बम' निकालते हैं, जिसमें हिंदी से जुड़े विषयों पर लेख होते हैं। राजनीतिक गतिविधियां और सामाजिक समाचार अंग्रेजी में होते हैं। रवि महाराज 1980 के दशक से अंग्रेजी में Sunday Guardian निकालते हैं जिसमें धर्म, समाज, तीज-त्यौहार, कविताएं, निबंध और विशेष अंक दिवाली और रामायण पर लेख होते हैं। 'हिंदी निधि' संस्था की स्थापना 30 अप्रैल, 1986 में हुई और त्रिनिदाद सरकार ने इसे 20 जुलाई, 1989 को मान्यता दी। सन 1992 में हिंदी निधि ने प्रथम हिंदी सम्मेलन किया। सन 1996 में पांचवां विश्व हिंदी सम्मेलन हुआ। 1990 के दशक से वेस्टइंडीज यूनिवर्सिटी में भी हिंदी पढ़ाई जाने लगी है जो भारतीय उच्चायोग आई.सी.सी.आर. की सहायता से भारतीय हिंदी प्रोफेसर को बुलाती रहती है (चंकासीताराम, 1989)।

दो और पत्रिकाएं दिवाली नगर से निकलीं : 'दिवाली नगर' और 'आगमन'। 'आगमन' पत्रिका में भारतीय उच्चायोग की सहायता होती है। इस पत्रिका के द्वारा प्रवासी भारतीयों के 'आगमन' को बताया जाता है। 1995 में जब वासुदेव पांडे त्रिनिदाद के प्रधानमंत्री थे तो उन्होंने मुझे अपने हृदय की बात बताई थी। वे कहने लगे 'मैं चाहता हूँ कि हिंदी में बोलूँ ताकि मैं जब भारत अपने पुरखों के गांव जाऊँ तो वहां लोगों के साथ हिंदी ही में बातचीत कर सकूँ'।

जो प्रवासी भारतीय हिंदी पढ़ते हैं उनका ध्येय होता है पंडित बनना, भारत से व्यापार करना या भारत में ऊंची शिक्षा के लिए जाना। त्रिनिदाद के पंडित हिंदी सीखने के बाद भी अपने, मंत्र, भजन, वक्तव्य, हिंदी (देवनागरी) में नहीं लिख पाते। वे लिखते हैं रोमन लिपि में, रेडियो, टेलीविजन में हिंदी के कुछ शब्द बोलकर सारी घोषणाएं अंग्रेजी में ही होती हैं। हंस हनुमान सिंह प्रत्येक रविवार को हिंदी सांस्कृतिक मैगजीन प्रसारित करवाते थे। जब 1944 में कमालुद्दीन मुहम्मद ने अपना पहला रेडियो स्टेशन खोला उसके प्रसार के आरंभ में कहा था :

*मुद्ई लाख बुरा चाहे क्या होता है
होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है।*

उनका आशय यही था कि भारतीय संस्कृति और भारतीय की अस्मिता की पहचान को 'किरवल' (क्रियोल) नहीं रोक सकते। माता-पिता भी नवयुवकों से कहते थे 'हिंदी बोल, तू लिखल बोलो या कान हिंदी बोले, अंग्रेजी बात हम ना समझे'। नौटंकी की शैली में आरंभ में नाटकों को प्रस्तुत किया जाता था जो देवी-देवताओं पर होते थे। आरंभ में मूक फिल्मों भी लोगों ने देखी थी। 'बालजीवन' (गुप्ता 2014) पहली फिल्म थी जो त्रिनिदाद में दिखाई गई थी। उसमें अपने पुरखों के देश भारत से जोड़ा गया था। फिल्मी गीतों को लोग उच्च स्वर से गाते हैं। यदि जब गीत के शब्द समझ में नहीं आते तो उन्हें गुनगुनाते हैं। करीब-करीब सभी कार्यक्रमों में भारतीय फिल्म के गीत बजाए जाते हैं। क्रियालों के 'कालिप्सो' गीतों की तर्ज पर प्रवासी भारतीय अपने सांस्कृतिक कार्यक्रमों में 'चटनी' गाते हैं जैसे- 'फुलौरी बिना चटनी कैसे बने, कैसे बने'। यह करिबियन प्रवासी भारतीयों में इतना मशहूर हो गया है कि उसको सुनते ही लोग नाचने लगते हैं। इसका कारण यह भी है कि चटनी गीत भोजपुरी अंचल की 'मेलोडी' पर आधारित हैं। जब प्रो. जगन्नाथन वेस्टइंडीज विश्वविद्यालय, सेंट ओगस्टीन में हिंदी पढ़ाते थे (1996) तब उन्होंने अपनी पुस्तक 'स्वयं हिंदी सीखें' (दो भागों में) चार टेप भी प्रस्तुत किए थे जिनको सुनकर भी हिंदी सीखी जाती थी। त्रिनिदाद मानक हिंदी का केंद्र बन गया था। पास पड़ोस के फ्रांसीसी और अंग्रेजी बोलने वाले प्रवासी नवयुवक हिंदी पढ़ने आते थे। त्रिनिदाद की NIHERST (National Institute of Higher Education, Research, Science and Technology) संस्था ने 1987 से हिंदी अध्यापकों के शिक्षण का भार अपने ऊपर ले लिया है।

त्रिनिदाद में बोली जाने वाली मिश्रित हिंदी का भाषा विश्लेषण भी हुआ है (Mohan, 1978)। गयाना की भांति त्रिनिदाद की हिंदी प्रवासी भारतीयों की 1950 के दशक के बाद केवल हिंदी शब्दावली के उपयोग तक सीमित रह गई है। एक तरह से अंग्रेजी में हिंदी आत्मसात हो गई है (Bhatia, 1982)। शब्द भंडार केवल धर्म, खाना-पकाना, संस्कार, मसाले, बर्तन, और रिश्तेदारी संबंध तक ही सीमित है। कुछ लोग तो त्रिनिदाद की हिंदी को 'क्रियोल हिंदुस्तानी' भी कहते हैं। वैसे व्यवसाय और बाजार में भी इसका उपयोग कम हो रहा है। फिर भी इसकी प्रतीकात्मक स्थिति होने पर भी प्रवासी भारतीय नई पीढ़ी समेत हिंदी और भारत की संस्कृति पर गर्व करते हैं। त्रिनिदाद एक बहुभाषिक समाज है इसलिए वहां के सभी निवासी अंग्रेजी, क्रियोल और हिंदुस्तानी (हिंदी, गुजराती, तमिल और तेलुगू आदि) इन तीन भाषाओं को आसानी से बोल सकते हैं। प्रवासी भारतीयों की भारतीयता की भावनाओं से यह स्पष्ट है कि त्रिनिदाद में भी साहित्य सृजन आरंभ हो गया है।

इन करिबियन देशों को चार श्रेणियों में रखा जा सकता है :

- (अ) ब्रिटिश औपनिवेशिक प्लाटेशन द्वीप समूह
- (ब) फ्रांसीसी डिपार्टमेंट द्वीप समूह
- (स) डच औपनिवेशिक द्वीप समूह
- (द) स्पेनिश देश

(अ) 1. जमैका :

प्लाटेशन-बागानों में सन 1840 से ही श्रमिकों की कमी होने से ईख के उत्पादन में भी समस्याएं शुरू हो गई थीं। जमैका की सरकार ने ब्रिटिश सरकार से निवदेन किया कि श्रमिकों को मंगवाने का प्रबंध किया जाए। एक्ट XX1 के द्वारा 16 नवंबर, 1842 को भारतीय श्रमिकों को मंगवाने का रास्ता खुल गया। इस कानून के बन जाने से 1845 से जमैका और त्रिनिदाद में पाल वाले जहाज से 5 वर्षीय शर्तबंदी ठेके पर भारतीयों का आना शुरू हो गया। 8 मई, 1845 को 'ब्लनडेल हंटर सेंड' नामक पहला जहाज 261 भारतीय कुलियों को लेकर जमैका पहुंचा। वह 9 मई को ओल्ड हार्बर पहुंचा जहां ईख के बागान थे (Ehrsich, 1989, Shepherd, 1993 : Mansingh, 1999, Gautam, 2005)। कुल मिलाकर 37,027 भारतीय जमैका पहुंचे जिसमें से 11,000 भारत लौट गए। भारतीयों की संख्या जमैका में सूरीनाम से ज्यादा थी। जो उत्तर भारत से गए थे उनकी मातृभाषा, अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मगही, और साधनी थी किंतु बोलचाल में संप्रेषण की भाषा हिंदुस्तानी ही थी जिसे अंग्रेज अफसर भी (जो भारत में थे) समझ सकते थे। अधिकतर भारतीय अवधी बोलते थे। जमैका की इस मिश्रित हिंदुस्तानी में अवधी और ब्रज का काफी प्रभाव था।

हिंदुस्तानी मातृभाषाएं केवल घर तक ही सीमित रहीं और धीरे धीरे लुप्त हो गई हैं। शब्द भंडार में विशेषतः संज्ञा में हिंदी शब्दों का अवशेष अब भी मिलता है। इसका कारण यह भी था कि अन्य उपनिवेशों के प्लाटेशन द्वीपों की तुलना में जमैका एक बहुत बड़ा द्वीप है। ईख के प्लाटेशनों से भारतीय अन्य भारतीयों से नहीं मिल सकते थे। बाहर जाने के लिए आज्ञा परमिट लेना पड़ता था। फिर प्लाटेशनों के बीच दूरी बहुत थी। प्लाटेशनों में शर्तबंदी भारतीयों ने हिंदुस्तानी में ही अपने विचारों को व्यक्त किया। हिंदी जितनी विकसित हो सकती थी नहीं हो पाई। स्त्रियों की कमी के कारण प्रवासी भारतीय क्रियोल स्त्रियों से विवाह करने लगे। अस्मिता की सुरक्षा के लिए और आज-आजी की स्मृतियों को सजीव रखने के लिए इतवार की शाम को प्रवासी भारतीय मिलते, बैठकें करते, ढोल बजाते और लोक गीतों को गाते।

बहुत से भारतीय जमैका के जीवन से तंग आकर अच्छे काम और वेतन के साथ नया जीवन बसाने के लिए क्यूबा, ब्रिटिश होनडुरास (बेलिज) और पनामा चले गए। आंकड़ों के अनुसार 1850 में 500, 1882 में 1737 और 1892 में 2523 भारतीयों ने नए देशों को अपना लिया। स्पेनिश देशों में स्पेनिश सीखी और कठिन परिश्रम किया। 1892 में जब भारतीय दूसरे देशों में जाना चाहते थे उन्हें अनुमति नहीं दी गई तब 1137 भारतीयों ने कानूनी कार्यवाही की तब उन्हें जमैका छोड़ने का अवसर मिला। 1912 में 1512 और 1913 तथा 1930 में 2011 भारतीयों ने जमैका छोड़ दिया। 1890 में भारतीय औपचारिक भाषा अंग्रेजी को बोलने लगे थे। 1850 से शर्तबंदी ठेके की समाप्ति पर बहुत से भारतीय किंग्सटन और सेंट एंड्रू नगरों में बसे थे। जब डॉ. कोमिन्स प्रवासी भारतीयों

की स्थिति समझने और आंकने के लिए जमैका गए। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि प्रवासी भारतीयों (कोई 89% प्रतिशत) के लिए स्कूलों की व्यवस्था नहीं थी। स्कूलों में ज्यादातर जमैकी अफ्रीकी क्रियोल बच्चे ही थे। प्रवासी भारतीय भी इन स्कूलों में बच्चे भेज सकते थे पर डर यही था कि वे धर्म ही नहीं अपितु भारतीय अस्मिता से भी वंचित हो जाएंगे। कुछ अध्यापक जो भारतीय थे हिंदी तो बोलते थे पर प्रयत्न करते थे कि बच्चे अंग्रेजी ही बोलें (Shepherd, 1993)। 1930 में त्रिनिदाद के बच्चे अब नेता बन गए थे और वह वहां की क्रियोली संस्कृति के हिमायती बन गए। भारतीय और क्रियोलों के बीच में दंगे फसाद भी हुए। धीरे-धीरे भारतीयों ने संस्थाएं खोलीं। 1940 में ईस्ट इंडियन प्रोग्रेसिव पार्टी स्थापित हुई। बाद में हिंदू समाज, यूनियन ऑफ हिंदू सोसाइटी-सतसंग, इंडो-जमैकन सांस्कृतिक सोसायटी (जिसकी स्थापना भारत से गए डॉ. गर्ग ने की), इंडो कल्चरल सोसायटी, तथा क्लब इंडिया आदि संस्थाएं भी खुलीं। सन 1965 'सनातन धर्म सभा' और 1972 'प्रेम सतसंग' नामक संस्थाएं खुलीं जिनका मुख्य आशय था कि भारतीय संस्कृति सुरक्षित रहे और हिंदी किसी न किसी रूप में जीवित रहे। घरों में अब भी धार्मिक संस्कार पंडित ही करवाते हैं और चाहते हैं कि भारतीयता जीवित रहे और भारत से संबंध बना रहे। बहुत से प्रवासी भारतीय ईसाई बन चुके हैं पर जब भारत की बात आती है तो भारत और उनके पुरखों की स्मृतियां उनके आंसुओं से अभिव्यक्त होती है। आज भारतीय अपने को 'त्रिनिदादियन इंडियन (इंडो-त्रिनिदादियन) कहते हैं और समय पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों की त्यौहारों पूजा और शादी पर लोकगीत, चटनी गीत, शास्त्रीय और लोक नृत्य, संगीत और फिल्मों के आयोजन पर हिंदी में नहीं अपितु अंग्रेजी ही में व्याख्यान देते हैं। हिंदी साहित्य का सृजन हो सकता है यदि यूनियर्सिटी ऑफ वेस्टइंडीज या किसी विश्वविद्यालय द्वारा हिंदी विषय भी पढ़ाया जाए।

2. सेंट लुशिया द्वीप, ग्रेनाडा द्वीप, सेंट विनसेंट और बोलिज आदि :

सेंट लुशिया करिबियन समुद्र के बीच में है। ग्रेनाडा इसके दक्षिण पश्चिम में, सेंट विनसेंट द्वीप इसके उत्तर में है और बोलिज (ब्रिटिश होनडुरास) मैक्सिको के दक्षिण-पूर्व में है। सेंट लुशिया, सेंट विनसेंट और ग्रेनाडा द्वीपों का विंडवार्ड द्वीप के अंतर्गत माना जाता है। ब्रिटिश सरकार ने सेंट लुशिया को श्रमिकों की मांग पर सन 1858 में अनुमति दी थी। शर्तबंदी भारतीयों का प्रवास 1859 में आरंभ हुआ और 1862 तक रहा। बीच 4 पाल वाले जहाजों से उत्तर भारत से कलकत्ता के बंदरगाह से 1602 शर्तबंदी भारतीयों ने (Tinker, 1974) बाद में 1878 और 1900 अरसे में और भी भारतीय प्रवास पर आए। इनकी कुल संख्या 4500 थी। चीता, बन्ना, आरोन, ब्रासेल आदि जहाजों के नाम थे। 1854 और 1884 में हैजा के प्रकोप से बहुत से प्रवासी भारतीयों की मृत्यु भी हुई। 1874 में सेंट लुशिया में चीनी के कई कारखाने थे पर कीमतों के गिरने से और मांग की कमी से 1940 में सिर्फ 4 कारखाने रह गए। 1960 में चीनी बनाना बंद कर दिया गया। प्रवासी भारतीय बच्चों की शिक्षा के लिए पहली बार गिरजाघरों के द्वारा हिंदुस्तानी का उपयोग हुआ। प्रेसबिटेचरन कनेडियन मिशन ने यह काम 1883 में शुरू किया। हिंदुस्तानी बोलने वाले त्रिनिदाद से आए थे। सेंट लुशिया में भी बहुसंख्य अफ्रीकी क्रियोल थे जो अपनी भाषा पाटुई (पाटुआ, patois) बोलते थे। अल्पसंख्यक प्रवासी भारतीयों ने भी इसे सीख लिया। इसी भाषा का बाजार, आने-जाने के साधनों आदि में उपयोग होता था। भारतीय और क्रियोल में कोई संघर्ष और नस्ती विभेद नहीं था। जब 1947 में भारत स्वतंत्र

हुआ तब प्रवासी भारतीयों में काफी प्रतिक्रिया हुई। इंडिया इज इन योर ब्लड (भारत आपके रक्त में है) के नारे लगाए गए।

1948 में एक 'आध्यात्मिक संस्था' की स्थापना हुई। 'इंडो-त्रिनिदादियन संस्था' ने कल द साक (cul-di-sac) में एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसके सचिव डोनाल्ड गजाधर और उप-सचिव विलियम्स और मराज (महाराज) बने। इसका ध्येय भारतीय अस्मिता को सुरक्षित रखना था। यह संस्था धन राशि की कमी से ज्यादा दिन नहीं चली। डोनाल्ड के पिता डेविड गजाधर पहले फोरेस्टीरे (Forrestiere) के स्कूल में हिंदी के अध्यापक और असिस्टेंट हेड टीचर थे। 1916 में प्रेसब्टैरियन मिशन ने अपना काम बंद कर दिया और 'मैथोडिस्टी मिशन' को सुपुर्द कर दिया। मैथोडिस्ट मिनिस्टर बेंजमिन बायर ने 1930 के दशक में गिरजाघरों में हिंदी में धर्म शिक्षा देने को हतोत्साहित किया। डेविड गजाधर हिंदी के धर्म शिक्षक थे और हिंदी में ही अपना प्रवचन देते थे। हिंदी में धर्म शिक्षा न दी जाए इसका उन पर भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने खुलेआम कहना शुरू कर दिया : 'अब भारतीय संस्कृति की समाप्ति है' (This is the end of Indian culture)। उनको इसका बहुत दुःख हुआ। वैसे 1925 में जब 'ईस्ट इंडियन फ्रेंडली सोसाइटी' बनी तब उसके सचिव डेविड गजाधर सभापति और उनके लड़के एलबर्ट गजाधर सचिव बने। हिंदी और हिंदुस्तानी दोनों का उपयोग होने लगा। 1949 में क्रियोल और प्रवासी भारतीयों के संबंध काफी खराब हो गए (Mahabir, Mahara, 1994)। जब चुनाव हुए तब दो भारतीय मंत्री थे, रूस विलियम्स (जन्म 1918) जो स्वास्थ्य, मनोरंजन, और अंतरराष्ट्रीय-विदेश मंत्री थे और हैराल्डीन गजाधर-रोक जो गृह, समाज विकास और स्थानीय नगर पालिकाओं की मंत्री थीं। वह पार्लियामेंट में पहली प्रवासी भारतीय स्त्री थीं। 1985-86 में खोदरा परिवार के माध्यम से उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति की विक्टोरिया पार्क में (आजकल मिन्डो पार्क है) प्रदर्शनी की और हिंदी देवनागरी लिपि का भी उपयोग किया।

इससे पहले 1886 में सेंट लुशिया में दो हिंदी-अंग्रेजी के दुभाषिए जोन अल्लाहदुआ और जगेश्वर दोनों प्रवासी भारतीयों की शिक्षा त्रिनिदाद में हुई थी (Morton, 1916; Mahabir and Maharaj, 1994)। हिंदी साहित्य का विकास सेंट लुशिया में न के बराबर है क्योंकि अल्पसंख्यक प्रवासी भारतीय क्रियोल समाज में घुल-मिल गए हैं। नवयुवक अधिकतर बाजारी भाषा 'पातुई' और अंग्रेजी का उपयोग करते हैं। जो भी साहित्य सृजन होता है वह अंग्रेजी में ही होता है। हां उनके विषय और कहानियों में भारतीय परिवार होते हैं। तीज-त्यौहार, हिंदू संस्कार और मुस्लिम हदीस के उसूल भारत जैसे ही माने जाते हैं। अब भी सेंट लुशिया में पंडित और मौलवी हैं। हिंदी शब्दों का इस्तेमाल संगीत, पोशाक, खाना-पीना, मसाले और अंचार में होता रहता है। लोक गीत अब फिर लौट रहा है लेकिन वे रोमन लिपि में अक्सर लिखे जाते हैं, जैसे-देखो हमार कान्हा कन्हैया (dikho hamar kanh kanhiya)। पंडित धोती, पगड़ी पहनकर पूजा और कथा अब भी करते हैं। प्रवासी भारतीय त्रिनिदाद के रेडियो 610 पर भारतीय संस्कृति कार्यक्रम सुनते हैं। एक तरह से त्रिनिदाद विंडवार्ड द्वीपों को सांस्कृतिक प्रेरणा दे रहा है। अब भी घर और समाज के काम फिल्मों के गीत-बाजे से शुरू होता है। अभी तक प्रवासी भारतीयों ने अपने पारिवारिक नामों का इस्तेमाल किया है ढोलक और मंजीरों पर लोकगीत अब भी सुनाई देते हैं।

सेंट विनसेंट द्वीप ने 1861 और 1880 के बीच 2,471 श्रमिक भारतीयों को मंगवाया था जिन्हें

36 प्लांटेशन बागानों में काम करने के लिए भेज दिया गया था। प्रवासी भारतीयों में हिंदी और तमिल बोलने वाले भी थे। 1866 में एक ही दुभाषिया था जो 'मद्रासी' था और कलकत्ता से आए भारतीय श्रमिकों की भाषा ठीक से नहीं बोल सकता था। शर्तबंदी समाप्त होने के बाद बहुत से भारतीय श्रमिक लौट गए। भारत में भी न तो उनको घर पर शांति मिली और न काम ही मिला। बहुत से भारतीयों ने मजदूरी के लिए पुनः प्रवास किया। 1887 में वापस त्रिनिदाद लौटे। 1885 और 1895 के बीच 74 ने पहले सेंट विनसेंट में काम किया था और 3 ने ग्रेनाडा में। अरगिल इस्टेट के प्लांटेशन मालिक को नराड सिमान्स ने प्रवासी भारतीय बच्चों के लिए एक स्कूल खोला। पाठ्यक्रम में अंग्रेजी ही थी। हिंदी न होने से सेंट विनसेंट ने भारतीय बच्चों को बहुसंख्यक समाज में आत्मसात करने के लिए मजबूर कर दिया। क्रियोलिकरण की प्रक्रिया ने प्रवासी भारतीयों के धर्म, भाषा, पोशाक, खान-पान, नाम और शादी-विवाह पर बहुत प्रभाव डाला। माता-पिता ने भी बच्चों को पढ़ने पर जोर दिया। हां जब शर्तबंदी पर पहला जहाज सेंट विनसेंट पहुंचा तो क्रियोलों को अच्छा नहीं लगा था। बाद में क्रियोलों के साथ संबंध अच्छे बने। भारतीय स्त्रियों की कमी के कारण क्रियोल स्त्रियों के साथ विवाह हुए। भारतीय संस्कृति के अवशेषों में भारतीय खाना, मसाले आदि से भारतीय अस्मिता अब भी झलकती है पर हिंदी और तमिल भाषाएं लुप्तप्राय हैं। (Cox, 2000) 1987 में वहां 600 प्रवासी भारतीय थे। (Thomas, 1995, Clarke-Peach-Vertovec 1990)

ग्रेनाडा द्वीप :

ग्रेनाडा द्वीप को 1498 में कोलंबस ने देख लिया था, पर वहां उतरा नहीं था। इसे 1609 में उपनिवेश बनाया गया। 1450 में फ्रांसीसियों ने सेंट लुशिया, सेंट विनसेंट और ग्रेनाडा को अपने अधिकार में कर लिया था। 1783 में वरसाइल (फ्रांस) की संधि हुई और ग्रेनाडा में अंग्रेजों का अधिकार बन गया, वैसे 1763 में अंग्रेजों ने इसे फ्रांसीसियों से ले लिया था। 1856 में ग्रेनाडा में 47 प्लांटेशन थे जिनमें ईख की उपज होती थी और चीनी व रम (शराब) बनाई जाती थी। बाद में कोकोआ और जायफल का भी उत्पादन होने लगा। सन 1857 से 1885 के बीच में 3200 शर्तबंदी भारतीय श्रमिक ग्रेनाडा आए। उत्तर भारत के हिंदी और संबंधित बोलियों के इलाकों से कलकत्ता बंदरगाह से आए थे। इनमें वे भी थे जिन्होंने 1857 के सैन्य विद्रोह के असफल होने के बाद शर्तबंदी मजदूर बनकर बाहर के प्लांटेशन उपनिवेशों में प्रवास किया। अरकाटियों ने जब इनकी भर्ती की तो इन्होंने अपने पारिवारिक नाम को न बता कर सिर्फ बोलने वाले नामों का इस्तेमाल किया। रामायण और भगवद् गीता से ही हिंदुओं को प्रेरणा मिली। भगवान की भक्ति हिंदुस्तानी में ही की जाती थी। शर्तबंदी भारतीय श्रमिक, जिन्हें 10 पौंड बागानों से उदार इनाम मिला था जिसे नई जमीन खरीदकर ग्रेनाडा में बस गए या फिर त्रिनिदाद और ब्रिटिश गयाना दुबारा प्रवास कर गए। जब बस गए तो बच्चों की शिक्षा का प्रश्न उन्हें सताने लगा। धर्म परिवर्तन के डर से सरकारी और मिशन स्कूलों में बच्चों को भेजना उचित नहीं समझा गया।

हिंदुस्तानी या हिंदी की शिक्षा प्रेसबिटेरियन मिशन स्कूल ने आरंभ की थी। 1864 से धार्मिक शिक्षा भी हिंदुस्तानी में दी जाने लगी जिसे प्रवासी भारतीयों ने बहुत पसंद किया (Steele, 1976)। 1882 में 657 प्रवासी भारतीय ईसाई बन गए थे। मिशन के स्कूल में शिक्षा के बाद बच्चों को अच्छे काम मिलने लगे। 1980 में पंडित और सभी कुली, धोती पहनते थे और हिंदी, अंग्रेजी और पटुआ

में बातें करते थे। 1930 में भी बहुत से लोग हिंदी फिल्मों के गीतों का उपयोग करते थे। स्त्रियां साड़ी पहनती थीं। खाना हिंदुस्तानी मसालों के साथ बनता था। शर्तबंदी ठेके पर आए भारतीय मजदूरों ने जिन्हें 'कुली' कहा जाता था काश्तकारी से प्लांटेशन बागानों में उत्पादन में बहुत मेहनत से काम किया था (Cox 2000)। अब भी प्रवासी भारतीय अपनी भारतीयता की भावनाओं को सुरक्षित रखे हैं पर अंग्रेजी ही संप्रेषण की भाषा है।

दूसरे द्वीपों में जैसे सेंटक्रोई जो एक डेनिश उपनिवेश है, बागानों में उत्पादन की कमी को पूरा करने के लिए 1862 में 80 भारतीय मजदूरों को मंगवाया गया था। दक्षिण-पश्चिम में भारत में भी डेनमार्क का एक एनक्लेव था जो कारीकल (फ्रांसीसी बंदरगाह) के उत्तर में था वहीं से भारतीय मजदूर सेंटक्रोई गए और बाद में वहीं के हो गए। भाषा, धर्म सहित उन्हीं लोगों में घुल-मिल गए। अब पता भी नहीं लगता कि कौन भारतीय है। हिंदी तो वे बोलते नहीं थे। तमिल भी भुला दी। सब डेनिश भाषा बोलते हैं। (Tinker, 1974)।

सेंट किट्स द्वीप :

सेंट किट्स एक बहुत छोटा सा द्वीप है जो सेंट किट्सनेविस कहलाता है। यह द्वीप समूह (छोटा सा) लीवार्ड (Leewards) द्वीप समूह में आता है। 1905 और 1916 के बीच 2000 स्वतंत्र प्रवासी भारतीय जमैका से ग्वांतोनामो शुगर कंपनी में काम के लिए गए थे। यह एक अमेरिकी कंपनी थी। ये प्रवासी जानते थे कि कंपनी में अच्छा वेतन मिलता है। ठेके के बाद सभी इस Plantation के पास-पड़ोस में बस गए। 1930 में पहले प्रवासी भारतीय सेमुअल शंकर (सेमुअल शंकर) ने जमैका में शर्तबंदी ठेका करने के बाद दुबारा प्रयास किया था। इनका जन्म दिल्ली में हुआ था और हिंदी बोलते थे। पहले तो वे रंगसाज (Painter) थे, बाद में अपनी खुद की काश्तकारी की। प्रवासी भारतीय अपनी मर्जी से बिना शर्तबंदी ठेके पर गए थे। वहां उन्होंने औपचारिक और बाजारों में बोली जाने वाली स्पेनिश भाषा सीखी, किंतु अपने धर्म और रीति-रिवाजों को मनाते रहे। आरंभ में ये अवधी और हिंदुस्तानी बोलते थे। क्यूबा में हिंदी पढ़ाने का कोई उपाय नहीं था। स्कूलों में स्पेनिश ही पढ़ाई जाती थी। 1919 में जब चीनी की कीमतें बढ़ी तो प्रवासी भारतीयों को काफी लाभ हुआ। बहुतों ने अपने नाम बदल दिए। पीतांबर जूल का पारिवारिक नाम पितंबर फ्लोरेंस हो गया। इसी प्रकार लछमनी मराच (महाराज) का नाम जुआन दाकोस्टा बन गया। स्त्रियों की कमी से विवाह क्यूबा की लड़कियों से हुआ। वहां शादी के बाद पति लड़की के घर जाकर रहता है। जो बच्चे हुए वे स्पेनिश परिवेश और वातावरण में पले और भारतीय अस्मिता से दूर हो गए। फिर भी खाने में रोटी, दाल, सब्जी और गोश्त भारतीय मसालों से बनाने लगे। धार्मिक पूजा बनी रही जैसे काली और शिव पूजा। पूजा भारतीयों बाजों और भजनों के साथ होती रही। आज करीब एक सदी के बाद प्रवासी भारतीय स्पेनिश संस्कृति के अंग बन गए हैं। फिडेल कास्त्रो के समय से साम्यवाद के डर से वे अपने को क्यूबा का निवासी ही कहने लगे। हिंदी के स्थान पर वहां स्पेनिश भाषा के प्रयोग से (कोड स्विचिंग की शिफ्ट से) हिंदी को मृत्यु ही समझी जा सकती है। (Tinker, 1989)

ब्रिटिश होनुरस (बोलिज) :

बोलिज भी अंग्रेजों के उपनिवेश होने के कारण शर्तबंदी भारतीय मजदूरों को मंगवाने के लिए एक अच्छी प्लांटेशन कॉलोनी थी। सन 1850 से 1857 के बीच 3000 प्रवासी भारतीयों ने जमैका

से बोलिज में दुबारा प्रवास किया। वे बोलिज नगर के पास क्वीन शारलोट स्ट्रीट पर जिसे 'कुली टाउन' कहते थे, जाकर बस गए। कम संख्या के कारण क्रियोलीकरण में आत्मसात होने से ये लोग भारतीय भाषा और सांस्कृतिक रीतिरिवाज भूल बैठे। आजकल बोलिज में 700 प्रवासी भारतीय हैं। बोलिज के उत्तर में सान आंटोनियो कारोलिना और कलकत्ता गांवों में रहते हैं। भारतीय संस्कृति के अवशेष भी दिखाई देते हैं- जैसे श्राद्ध और होसे-रमजान त्यौहार। खाने भी भारतीय मसालों से बनाते हैं। चावल, सब्जियां और हल्दी (हर्दी) का उत्पादन करते हैं। हिंदी भाषा यहां लुप्त हो चुकी है। उत्तरी बोलिज में एक प्रवासी भारतीय संग्रहालय भी है जहां प्रवासी भारतीय अपने पुरखों द्वारा भारत से लाई गई चीजों को देखकर अपने को भारतीयता और भारत से जोड़ते हैं। सभी की भारत दर्शन की प्रबल इच्छा है। बोलिज के प्रवासी भारतीयों के बारे में कुछ पता नहीं था पर त्रिनिदाद के डॉ. ब्रिन्सहले समारु (जो स्वयं प्रवासी भारतीय हैं) ने शोध किया है। (Tinker, 1974; Lucas, 2009)।

ग्वा डेलूप और मार्तिनिक, फ्रांसीसी द्वीप समूह :

21 जुलाई 1860 में एक एंग्लो फ्रेंच कंवेशन पेरिस में हुआ था। उस सभा में यह तय किया गया कि भारतीय श्रमिकों की मांग फ्रांसीसी उपनिवेशों में भेजने के लिए स्वीकार्य है। आखिर में 1 जुलाई, 1861 से यह मांग कानूनी बन गई। इसी सिलसिले में India Act XL VI प्रभावशाली बन गया किंतु 1 जुलाई, 1862 में इसे व्यवहार में लाया गया। 1853 से 1889 के बीच पालवाले जहाजों द्वारा 42,326 भारतीय श्रमिकों ने ग्वाडेलूप और मार्तिनिक द्वीपों के लिए प्रस्थान किया। इन भारतीय श्रमिकों में 31000 दक्षिण भारतीय थे जो कारीकल और पांडिचेरी से जो फ्रांसीसी उपनिवेश से करिबियन फ्रांसीसी प्लांटेशन उपनिवेशों में गए थे। बाकी 11326 उत्तर भारतीय थे जो कलकत्ता से रवाना हुए थे। भारतीय श्रमिकों की मांग का कारण दास प्रथा का उन्मूलन था। फ्रांसीसियों ने दास प्रथा का उन्मूलन 1848 में किया। अफ्रीकन गुलामों की स्वतंत्रता से प्लांटेशनों के उत्पादन में गिरावट आ गई थी। फ्रांसीसियों को पता था कि भारतीय श्रमिक मेहनती ही नहीं काश्तकारी के काम में भी दक्ष हैं। पहला पालवाला जहाज औरिली था जिसमें कैप्टन ब्लाक के नेतृत्व में 44 भारतीय श्रमिक करिबियन पहुंचे। 8000 भारतीय काम के बाद भारत लौट गए।

यह फ्रांसीसी नीति थी कि जो भी फ्रांस में काम करे वह फ्रांसीसी बोले और अपना धर्म परिवर्तन कर ले। हालांकि हिंदू पंडित भी गए थे जिन्होंने मौखिक रूप में हिंदू लोक परंपरा को जीवित रखा। फ्रांसीसी अफ्रीकी क्रियोल की अधिकता से भारतीयों को उन्हीं के साथ मिलकर रहना पड़ा और बोलचाल में फ्रांसीसी क्रियोल अपनाई गई। ग्वाडेलूप में डॉ. कोमिन जब भारतीयों की स्थिति के मूल्यांकन और जांच के लिए आए तब उन्हें पता चला कि ब्राह्मण अपने को अहीर बताते थे। ब्राह्मण उपनिवेशों में बड़ी जाति के नाम से भर्ती नहीं हो सकते थे, अतः उन्होंने अपना पारिवारिक नाम और जाति दूसरी बताई। इन्हीं लोगों ने भारतीय संस्कृति को जीवित रखा। प्रवासी भारतीय भी अपने को फ्रांसीसी कहने लगे और ऊंची पढ़ाई के लिए फ्रांस गए। पर वे भारतीयता को नहीं भूले। 1971 में ग्वाडेलूप में 'ग्वाडेलूप एसोसिएशन ऑफ फ्रेंड्स ऑफ इंडिया' नामक संस्था बनी। इसी प्रकार मार्तिनिक में भी 'एसोसिएशन ऑफ मार्तिनिक एंड इंडिया' संस्थान 1984 में स्थापित हुई। अभाग्यवश न तो तमिल और न ही हिंदी को कोई फ्रांसीसी सरकार से सहायता मिली। प्रवासी भारतीयों ने अपनी संस्कृति के इन शब्दों को सुरक्षित रखा जो खान, पान, धार्मिक पूजा, पौधे, आदि

में प्रयुक्त थे। एक प्रकार से प्रवासी भारतीयों ने हिंदी और तमिल मातृभाषा को किसी सीमा तक सुरक्षित रखा। भारतीय संगीत, नृत्य और रामायण, महाभारत और नाल्ला तंगू धार्मिक ग्रंथों की पंडितों से कथाएं सुनी और अपने को धन्य समझा। उत्तर भारत के प्रवासी भोजपुर अंचल (शाहाबाद, सारण, गया आदि) से थे। भारतीय भाषाएं अब लुप्त हैं और फ्रांसीसी भाषा औपचारिक होने के कारण घर, बाजार, और दफ्तर में बोली जाती हैं। 1996 में जब त्रिनिदाद में विश्व हिंदी सम्मेलन में गया था तो कुछ फ्रांसीसी विद्यार्थियों ने जिन्होंने हिंदी त्रिनिदाद में सीखी थी हिंदी की कविताएं सुनाईं। भारत के प्रति उनका दर्द उनकी कविताओं में स्पष्ट झलकता था (Tinker, 1974; Schnepel, 1993; Jha, 1993; Singa vraelou, 1975)।

सूरीनाम (डच गयाना) में हिंदी के विकास, भाषिक संरचना और वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में यह कहना उचित नहीं होगा कि 20 वीं शताब्दी के अंत तक भारतीयों को विदित नहीं था कि 19वीं सदी के तीसरे दशक से 20वीं सदी के दूसरे दशक तक (1834 से 1917) कोई डेढ़ और पौने दो मिलियन भारतीयों को मजदूर बनाकर 'कुली' की संज्ञा देकर 5 वर्षीय शर्तबंदी ठेके पर उपनिवेशों के बागानों में भेज दिया गया था। मजदूरी की तलाश में भारतीयों को उत्तर भारत के भर्ती करने वाले अरकाटियों ने प्लांटेशन-बागानों के सब्ज बाग दिखाकर अपने जाल में फंसा लिया था। उत्तर भारत के हिंदी या उससे संबंधित भाषा-बोली बोलने वाले भारतीय, आगरा, अवध, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, राजस्थान और नेपाल से थे। दक्षिण भारतीय तेलुगू, तमिल और कुछ कन्नड़ बोलने वाले भी थे। 1857 में जिन लोगों ने सैन्य विद्रोह में भाग लिया था उन्हें पकड़ने को अंग्रेजों के भारतीय हितैषी कोशिश कर रहे थे। दिल्ली में होता हुआ कत्ल वे देख चुके थे। अपने नामों को बदलकर बाहर जाने के लिए भर्ती हो गए। जिनकी भर्ती होती उन्हें 'गिरमितिया', 'कलकतिया' और 'मद्रासी' कहा जाता था। शर्तबंदी ठेके की समाप्ति पर या तो फिर से नया ठेका लेते या वहीं बस जाते और फिर से अपनी भाषा, धर्म, लोक-रीति रिवाजों की सुरक्षा में भारतीय अस्मिता की अभिव्यक्ति करते।

ऐतिहासिक भूमिका :

सूरीनाम को पहले डच गयाना कहा जाता था। यह उत्तर करिबियन समुद्र से, पश्चिम में गयाना से, पूर्व में केयन (फ्रांसीसी गयाना) से और दक्षिण में ब्राजील से घिरा है। उपनिवेशी सरकारों की प्लांटेशन को लेकर एक ही स्पष्ट नीति थी कि किसी तरह से भारतीयों को बहुसंख्यक क्रियोल समाज में मिला दिया जाए। सूरीनाम देश 1975 में स्वतंत्र हुआ था (Gautam, 1975)। सूरीनाम में दो बड़े नगर हैं, पारामारिबो, जो सूरीनाम की राजधानी है और पश्चिम में गयाना से लगा हुआ निकेरी है जो 250 किलोमीटर दूर है।

कहा जाता है कि जब क्रिस्टोफर कोलंबस करिबियन पहुंचे तो उन्होंने ब्राजील का उत्तरी तट देखा रहा होगा। 1621 में डच ईस्ट वेस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना के बाद डच भी गुलाम-व्यापार में जुट गए थे। पोर्चुगीज, स्पेनिश और अंग्रेजों ने तो गुलाम व्यापार 16वीं सदी ही में शुरू कर दिया था। 1686 में सूरीनाम पर डच का अधिकार हो गया और वहां के आदिवासी 'रेड इंडियन' से संधि कर ली। डच गर्वनर कारनेल फान आरसस फान सोस्मेलसडाइक ने 'रेड इंडियन' लड़की से विवाह कर लिया। 1786 में डच सरकार ने प्लांटेशन-बागानों का जाल बिछाया और उत्पादन आरंभ किया। सूरीनाम से गुलामी प्रथा का उन्मूलन अंग्रेजों के 30 वर्ष बाद 1863 में हुआ। श्रमिकों की कमी से

पड़ोस के देश गयाना की उन्नति को देखकर 1872 में इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया और डच राजा विलियम तृतीय के बीच एक संधि हुई और 1873 से शर्तबंदी 5 वर्षीय ठेके पर भारतीय मजदूर 'कुली' भारत से मंगवाए गए। (Gautam, 2003)। हिंदुस्तानी उनकी भाषा थी जिसकी शुरुआत फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना (1800) से पहले ही हो चुकी थी। तब भारतीय श्रमिकों को अपमानपूर्वक 'कुली' कहा जाता था, उन्हें नौकरी मिलने पर भी उन्हें 'नौकर' नहीं कहा गया (Gautam,1999)। भिन्न-भिन्न अंचलों में भर्ती होने से वे अपनी-अपनी मातृभाषाएं अंचल से आए हुए लोगों के साथ बोला करते थे। यात्रा के दौरान इन्होंने अपने मित्र बना लिए, जिन्हें 'डिपुआ-भाई' और 'जहाजी भाई' कहते थे। हिंदुस्तानी या सूरीनामी हिंदी या बोलचाल की सूरीनामी जब विकसित होने लगी तो उसी को बाजार, पड़ोस और गांव की भाषा बना लिया गया। मातृभाषाएं मिलने लगीं और 'सूरीनामी' का विकास होने लगा। इस विकास यात्रा को हम चार चरणों में आंकेगे।

प्रथम चरण (1872 से 1890) :

1872 में अरकाटियों ने 5 वर्ष के लिए शर्तबंदी भारतीयों की भर्ती शुरू की थी। इसके कई सब डिपो थे जहां भर्ती के बाद उनका पहला पड़ाव होता। वहां अपनी बोलियों में वार्तालाप करते और शाम को रामचरित मानस (रामायण) गीता और पुराणों की कहानियां आपस में साझा करते। खाना साथ खाते और समय बिताने के लिए बैठकर भजन-कीर्तन गाते वहीं से भाईचारा 'डिपुआ भाई' की शुरुआत हुई। मुख्य डिपो कलकत्ता में पहुंचकर उन्हें जहाज की प्रतीक्षा में गार्डन रीच बंदरगाह में दूसरा पड़ाव करना पड़ता। यहां दूसरे अंचल से भारतीयों के साथ वार्तालाप होता। मुख्य डिपो के कर्मचारी जैसे चौकीदार, दरबान, जमादार, गुमाश्ता, डॉक्टर आदि के साथ हिंदुस्तानी बोलते। मुख्य डिपो में, बाद में जहाज पर अंचलों की भाषाएं आपस में मिलने लगे हालांकि शब्द भंडार मातृभाषा के भी होते। 'जहाजी भाई' के रिश्तेदारों से भारतीयों ने नए रिश्ते बना लिए। जाति प्रथा भी टूटने लगी और धीरे-धीरे एक नया भारतीय मजदूर समाज बनने लगा। सूरीनाम पहुंचने तक 'कोयनी' (koine) सिद्धांत से भाषा के बीच की दूरी कम होती गई और एक सूरीनाम भाषा पनपने लगी। इस कोयनीकरण प्रक्रिया से सभी मातृ भाषाएं मिलकर एक भाषा बन गई। इसमें मातृभाषाओं की 'कोड स्विचिंग' हुई। ऐसा यह जान-बूझकर एक-दूसरे को समझने और बातचीत करने के लिए हुआ (Gautam, 1999)।

1873 और 1874 में आठ पालवाले जहाज सूरीनाम पहुंचे। पहला जहाज लल्ला रूख में 410 भारतीय मजदूर थे जिन्हें 6 बागानों में भेज दिया गया। बाद में 1873 में 4 और जहाज आए। जिनके नाम थे- 'बंगाल', 'योर्कशायर', 'मंगलोर', और 'कलकत्ता'। 1874 में 3 जहाज आए, 'केट केल्लोक', 'मीडिया' और 'हावड़ा'। पहले जहाज में 296 ब्रज, 75 अवधी, 49 भोजपुरी और मगही बोलने वाले थे बाकी 14 बंगाली, 2 मराठी-गुजराती भाषा के थे। उड़ीसा से, 1 राजस्थान से, 1 पंजाब से 1 बुंदेली अंचल से, 1 छत्तीसगढ़ से और 5 अज्ञात अंचलों से थे। (de KLERK, 1953)। इन 8 पाल वाले जहाजों से जो भारतीय मजदूर बागानों में गए उनकी कुल संख्या 4,862 थी। इनमें से 20% प्रतिशत की मृत्यु हो गई (748) और 112 लापता हो गए। कुल शेष 3,085 भारतीय मजदूर बागानों में काम कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार को यह अच्छा नहीं लगा और 1875 से 1876 तक जहाजों को भेजना बंद कर दिया। भारतीय मजदूरों ने तय किया कि वे अपनी हिंदी हिंदुस्तानी भाषा, धर्म, संस्कृति और

रीति-रिवाज सुरक्षित रखेंगे। इस तरह हिंदी सुरक्षित रह गई (Gautam,199, 2001)। यदि भाषानुसार भारतीय मजदूरों के आंकड़े देखें तो विदित होता है कि भोजपुरी बोलने वाले 48.04%, अवधी वाले 34.36%, बिहारी 9.37% और बाकी लोग 8.23% प्रतिशत थे। सूरीनामी भाषा या सूरीनामी हिंदी का एक तरह से संस्थापन हो गया था। 1873 से 1891 के बीच कुल 28 जहाजों में 13,972 भारतीय मजदूर सूरीनाम आए। इस बीच उन्होंने न तो अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में और न मिशन स्कूलों में भेजा। घर पर ही शाम को धर्म, भाषा और संस्कृति की अनौपचारिक रूप में पंडितों ने, मित्रों ने शिक्षा दी ताकि वे अपना नाम देवनागरी लिपि में लिख सकें।

1876 में कानून द्वारा यह निश्चित हुआ कि भारतीय मजदूरों के बच्चे भी स्कूल में पढ़ें किंतु इसमें समस्या थी कि 10 से 15 वर्ष आयु के लिए बच्चों को बागानों में काम करना अनिवार्य था। बाद में 1883 में बच्चों की उम्र 7 से 12 कर दी गई। हिंदी में शिक्षा न होने से बच्चों को उनके माता-पिता ने स्कूल नहीं भेजा। भारतीय मजदूरों के बच्चों के लिए गवर्नर लोहमान ने नया तरीका खोजा और कुछ बड़े बागानों में नए स्कूल खुलवाए। ये 'कुली' स्कूल 1890 से पहले मरियनबर्ग, निकेरी तथा वाटरलू में खुले थे (Adlin,1973)। सूरीनाम में 1873 से 1890 तक की परिस्थितियां प्रवासी भारतीय श्रमिकों के लिए मुश्किलों से भरी थीं। न तो अस्पताल थे और न दुभाषिए। उनकी शिकायतें भी कोई नहीं सुनता था। बोलचाल की भाषा या तो क्रियोली की श्रानांग तोंगो थी या औपचारिक डच जो सरकारी भाषा थी। अंग्रेज चाहते थे कि भारतीय श्रमिकों के साथ ठीक मानवीय व्यवहार हो। 1874 में जब केंट केलाक 458 भारतीय श्रमिकों को लेकर रवाना हुआ तो उसे सूरीनाम पहुंचने में 94 दिन लगे। इस जहाज में विपिन बिहारी दत्त और उनकी पत्नी भी थी। यह गार्डन रीच के मुख्य डिपो में डिपो-डॉक्टर थे और भारतीय-श्रमिकों के साथ हिंदुस्तानी में ही बातें करते थे। डॉक्टर और दुभाषिए होने के कारण वे भारतीय श्रमिकों की पूरी देखभाल करते थे। जहाज के कैप्टन को यह अच्छा नहीं लगा कि डॉक्टर कुलियों के साथ घुलमिल जाए। उसने केपटाउन (दक्षिण अफ्रीका) और सूरीनाम के बीच सेंट हेलेना द्वीप पर पानी और फलों के लिए पड़ाव किया। विपिन बिहारी दत्त को कैप्टन ने बर्खास्त कर दिया और सपरिवार उसी द्वीप पर छोड़ दिया। भारतीय श्रमिकों को कैप्टन का व्यवहार अच्छा नहीं लगा पर वे कुछ नहीं कर सकते थे। दत्त को जहां छोड़ा गया था वह छोटा सा एसेनशियन द्वीप (सेंट हेलेना का ही) था। कैप्टन बेवन ने कहा कि डॉ. दत्त भारतीय श्रमिकों को बगावत करने के लिए भड़का रहे थे। (Tinker, 1947)। कहा यह भी जाता है कि अंग्रेज सरकार ने 'बंगाल जहाज' (1874) में एक दुभाषिए को भी भेजा था जिसका नाम वरूणी शरण था (Jha, uw, 1983) पर इस दुभाषिए के बारे में कोई संदर्भ नहीं मिलता है। हां, 'आइल्सा II' नामक जहाज से 1880 में बाल अवस्था में शीतल महाराज पहुंचे थे। उन्हें याख्तलुस्त के मालिक (मंझा) बर्नित लेओ ने पुत्र की तरह पाला था और बाद में वह दुभाषिए (tolk तोल्क) बने। 1891 में एजेंट जनरल कातो फान रोसफेल्ल के देहांत के बाद बार्नेट लेओ एजेंट जनरल बने। हिंदी का स्वरूप वह कोइनीकरण (koinasation) से अब एक भाषा बन गया था जिसे, हिंदी, हिंदुस्तानी कहते थे जिसमें अवधी, ब्रज, भोजपुरी, श्रानांग तोंगो और डच भाषा के शब्द पर्याप्त थे जो सूरीनाम में बस गए उन्होंने हिंदी में भारत के गांवों से, रिश्तेदारों से पत्र व्यवहार किया। लिखित पत्रों को उन्होंने सुरक्षित नहीं रखा। वैसे भी पहले यह भारतीयों की आदत थी कि पढ़ने के बाद पत्र को फाड़कर

फेंक देते थे।

द्वितीय चरण (1891-1916) :

ब्रिटिश सरकार ने भारत से 1879, 1886 और 1888 में भी जहाजों का भेजना रोक दिया था। सूरीनाम की डच औपनिवेशिक सरकार ने भारतीय श्रमिकों से निश्चित घंटों के बाद भी बहुत काम करने के लिए एक तरह से कानूनी अनुमति प्लांटेशन-बागानों के मालिकों को दे रखी थी। जब भी भारतीय श्रमिक शिकायत करते उसे अनसुना कर देते थे। भारतीय श्रमिकों की स्थिति को देखने के लिए भारत से डॉ. कोमिन (Comins, 1893) को भेजा गया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि भारतीय श्रमिकों को मानवीय तरीके से रखा जाए, अच्छा बर्ताव किया जाए और उनकी शिकायतों को सुन कर समस्याओं का हल पुलिस के द्वारा नहीं पर सीधे किया जाए। उन्होंने यह भी लिखा कि भारतीय श्रमिक, जो सूरीनाम में बसना चाहते हैं उनकी सहायता की जाए और उनके बच्चों को पढ़ने का अवसर भी मिले। ऐसे दुभाषिए भी बढ़ाए जाएं जिन्हें हिंदी, डच और अंग्रेजी आती हो। इसी बीच 'मोरावियन' और 'रोमन कैथोलिक मिशन' भी बच्चों को हिंदी पढ़ाने लगे। 1890 के स्थापित चार 'कुली स्कूलों' में हिंदी के लिए नाथूराम की हिंदी पुस्तकें, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से मंगवाई गईं। अकसर जो दुभाषिए का काम कर रहे थे वही अध्यापक बनकर हिंदी (उर्दू के शब्दों के साथ) पढ़ाने लगे। यू.एल.ओ. (Lowe Middle class) ही आखिरी सनद पढ़ाई के बाद मिल सकती थी। 1906 में 'कुली स्कूल' बंद कर दिए गए। 1906 से डच सरकारी स्कूलों में हिंदी का अध्ययन भी होने लगा पर 1927 में इन स्कूलों में हिंदी का पढ़ाना बंद कर दिया गया। कहा जाता है कि जब आवश्यकता होती तो नाऊ ही जाकर मीटिंग आदि के बारे में बताता रहता था। प्रेस न होने से इशतहार नहीं छपते थे। हाथ से लिखे परचे जरूर बंटते थे (Adin, 1969)। डॉ. कोमिन्स की रिपोर्ट से स्पष्ट है कि बागानों से स्वतंत्र हुए प्रवासी श्रमिकों ने दूसरे व्यवसाय करने शुरू कर दिए थे जिसमें कुछ सरकारी दुभाषिए थे, वरूणी शरण, शीतल महाराज, हजारी, शिवप्रसाद, पलई सिंह, तुलसी, करामत अली, अकरम, बालकिसुन, रामदास, जफर, दिलरोशन और उदय राज सिंह वर्मा हिंदी उर्दू भी पढ़ाते थे। इनमें बाकी थे दुकानदार, खोमचे वाले, सुनार, नौकर, घास काटने वाले और काश्तकार। अधिकतर शर्तबंदी ठेके पर ईख और काकाओ के बागानों में काम कर रहे थे। 1895 में अल्कसमार में पहली बार भारतीय को रहने के लिए मिली। 100 रुपये और 1 हेक्टर जमीन के अनुदान से सूरीनाम में बसाने का आकर्षण दिया। इसके बाद कई स्थानों में प्रवासी भारतीय बस गए। हिंदी की शिक्षा दुभाषियों के द्वारा कुली स्कूलों में उनके बच्चों को दी जाने लगी। आरंभ में प्रवासी भारतीय कहा करते थे 'हम कुछ न मांगे हैं सिर्फ पैसा और धन, हिंद न मांगे हैं'। कारण था कि मात-पिता चाहते थे कि उनके व्यवसाय में बच्चे निपुण हो जाएं। हिंदी में ही बच्चों से बातें करते धर्म और संस्कृति सिखाते। यह भी कहते 'हमरे मरे के बाद ई जिंदा रहे, हियां खतम न हो जाय'। खंजरी पर हिंदू-मुसलमान दोनों ही भजन गाया करते थे-

'हमरे तो राम नाम धन खेती, राम नाम के बीज बोवत ही उपजत हीरा मोती'

डॉ. कोमिन के अनुसार 'कुली स्कूलों' में करीब 140 भारतीय लड़के और लड़कियां थीं जिनका अध्यापन दुभाषिए करते थे जो जरूरत पड़ने पर बागानों में दुभाषिए का भी काम करते थे। इनका काम 114 बागानों में था। सन 1898 में 'एवोन' जहाज से मुंशी रहमान खान (1874-1972)

शर्तबंदी मजदूर बनकर सूरीनाम गए। वहां से उनको 5 वर्षीय ठेके पर 'लस्ट एन रुस्टस' बागान में भेज दिया गया। मुंशीजी रामायण से प्रेरित थे। अपने साथ कोई प्रति नहीं ले गए थे। सप्ताहांत पर लोगों ने उन्हें रामायण पाठ के लिए बुलाना शुरू कर दिया। अनौपचारिक रूप से हिंदी भी पढ़ाने लगे। रामायण और हिंदी के प्रसार से उनका नाम पंडितों में गिना जाने लगा। उन्होंने अपनी डायरी 1940 में 'जीवन प्रकाश' के नाम से लिखी। उनकी 14-15 पांडुलिपियां मेरे पास हैं जिन पर मैं शोध कर रहा हूं। (Gautam, 1999; 2004) ये पुस्तकें हिंदी धार्मिक सत्संगों और धार्मिक पुस्तकों की कथा सुनने से उपयोग में आने लगी।

भाई परमानंद 1910 में न्यूयार्क (अमरीका) से ब्रिटिश गयाना आए थे और जोर्ज टाउन में हिंदू स्कूल खोला था। वहां वह एक वर्ष रहे थे। कहा जाता है कि उन्होंने सूरीनाम के निकेरी, जो ब्रिटिश गयाना के पूर्वी तट से लगा है, प्रवासी भारतीयों से मिलने के लिए एक-दो दिन वहां रहे थे। सूरीनाम के कुंज बिहारी त्रिपाठी ने हिंदू स्कूल में भाई परमानंद को सुना था जो हिंदी पढ़ने पर जोर देते थे। त्रिपाठीजी ने अनौपचारिक रूप से सूरीनाम में आर्य समाज की स्थापना की और हिंदी का प्रचार-प्रसार करने लगे (Bhai Parmanand, 2002)।

1910 में प्रवासी भारतीयों ने 'सूरीनाम माइग्रेंट एसोशिएसन' स्थापित की जिसका लक्ष्य था कि किस तरह भारतीय अस्मिता, शिक्षा का विकास, मवेशी पालन, काश्तकारी और व्यापार का विकास किया जाए? इसके सम्मानित संरक्षक सलाहकार एजेंट-जनरल फान ड्रिम्मलन, और सचिव करामत अली और सभापति शीतल प्रसाद (महाराज) थे। उसी वर्ष भारत से एक प्रतिनिधि-मंडल आया जो प्रवासी भारतीयों की स्थिति और समस्याओं का पता लगाना चाहता था। प्रवासी भारतीय संस्था ने इसके समुख याचिका निवेदन पत्र प्रस्तुत किया और कहा कि सूरीनाम में भी 50% प्रतिशत स्त्रियां भेजी जाए, भारतीय-विवाह को मान्यता और शिक्षा विकास पर ध्यान दिया जाए। प्रस्ताव पढ़ने के बाद ही लोग खड़े हो गए और तालियां बजाई। प्रतिनिधि मंडल के सभापति ने कहा- 'भारत माता की संतानों, भाइयों और बहनों हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि आपकी समस्याओं के निवारण के लिए हम भारत की अंग्रेजी सरकार से बात करेंगे।' तालियां गूंज उठी और सभा समाप्त हो गई। इस सभा में 2-3 ही प्रवासी भारतीय स्त्रियां थीं। निवेदन पत्र हिंदी में ही लिखा गया था (Gautam, 1999)। 1911 में 'ikhtiyar aur Hag' और सूरीनामी ब्रिटिश इंडियन यूनियन 'संस्थाएं स्थापित हुईं'। फान ड्रिम्मलन ने प्रवासी भारतीयों को हर तरह की सहायता दी जमीनें दिलवाई। उन्हीं के नाम पर फान ड्रिम्मलन पोल्टर बस्ती निकेरी में है। 1889 में भारत से श्रमिक रूप में बाबू लक्ष्मण सिंह गंगेज जहाज से सूरीनाम आए। शर्तबंदी ठेके के बाद सूरीनाम में बस गए। यह विदित होता है कि वह पढ़े लिखे व्यक्ति थे। जब सूरीनाम की प्रवासी संस्था स्थापित हुई तो वह उसके पुस्तकाध्यक्ष थे। सभा के लिए अपनी पारामारिबो की सब संपत्ति दान कर दी थी। कुछ संपत्ति गरीब भारतीयों को भी दी। वह 1922 में भारत लौट गए। अपने समय में उन्होंने काफी ध्यान हिंदी प्रचार-प्रसार में लगाया था। 1913 में फिर दो व्यक्तियों का (चिमनलाल और मेकनेल) प्रतिनिधि-मंडल भारत सरकार से सूरीनाम भेजा था। वे शीतल प्रसाद के अतिथि बने। भारतीयों की स्थिति पर शीतल प्रसाद ने उन्हें बतलाया कि उनके साथ अच्छा व्यवहार हो रहा है। एक योरोपियन डच महिला जो डॉ. स्नैदर्स की मां थी। उसे मां स्नैदर्स कहा जाता था। चिमनलाल और मेकनेल की बनी रिपोर्ट को उन्होंने गलत

बताया और सभा की समाप्ति के बाद भारत सरकार को पत्र लिखा। इसका प्रभाव भारतीय नेताओं पर हुआ और शर्तबंदी ठेका को 1916 में समाप्त कर दिया गया। फिर कोई जहाज भारतीय श्रमिकों को लेकर सूरीनाम नहीं आया।

तृतीय चरण (1917 से 1945) :

ईसाई मिशनरियों ने पारामारिबों के राजपुर में ऊंची शिक्षा के लिए स्कूल खोला था। बाद में 1918 में गिरजापुर स्कूल भी खोला गया। इधर हिंदी की पढ़ाई सरकारी स्कूलों में चलती रही। 1918 में शर्तबंदी प्रथा का उन्मूलन हो गया। इससे प्रवासी भारतीय बड़े दुःखी हुए। अब उन्हें नए जहाजों के आने से जो भारत और उनके गांवों के समाचार मिलने बंद हो गए। 1920 में प्रवासी भारतीयों ने 4 व्यक्तियों का एक प्रतिनिधिमंडल भारत भेजा। प्रवासी भारतीय चाहते थे कि फिर से श्रमिक आएंगे। ये 4 व्यक्ति थे : शीतल प्रसाद, हजारी, बाबू लक्ष्मण सिंह और डॉ. सिंह। ये प्रतिनिधि अहमदाबाद में गांधीजी, बनारस में मदन मोहन मालवीय और अन्य नेताओं से मिले जिन्होंने श्रमिकों की शर्तबंदी प्रथा का उन्मूलन करवाया था। वे असफल लौटे। 1922 में फिर एक 'भारतीय उदय' संस्था खुली। 1924 में एक और नई संस्था बनी 'नवयुग उदय' जिसके सभापति थे विश्वामित्र और सचिव थे अब्दुल सोवान। विश्वामित्र सूरीनाम के पहले वकील थे। उनके माता पिता लखनऊ से आए थे। वे हिंदी बोलते थे। 1927 में डच सरकार ने घोषणा की कि अब जो भारतीय बच्चे सूरीनाम में जन्म लेंगे वे 'डच नागरिक' कहलाएंगे। काफी दुःख हुआ कि आगामी पीढ़ी भारतीय होकर डच नागरिक कहलाएगी। एकाएक फिर से भारतीय अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए धार्मिक संस्थाएं बन गईं और सभी का ध्येय था कि भारतीयता की पहचान को भाषा, धर्म और संस्कृति के माध्यम से जीवित रखा जाए। हिंदी ही में अब मंदिरों में प्रवचन दिए जाने लगे। 1930 में 'आर्य समाज', 'हिंदू महासभा' और 'इस्लामी मजलिस' आदि संस्थाएं बन चुकी थीं। भारत से जो भी प्रचारक आए उन्होंने अपना प्रचार हिंदी में ही किया। 1933 में कील्ट्रा नए गवर्नर बने और आत्मसात करने वाली नीति का खंडन किया। वह चाहते थे कि एशियाई लोगों के समाज का विकास हो। उपनिवेश की सूरीनामी सरकार में सभी लोगों का प्रतिनिधित्व हो और उनकी विवाह प्रथा को सरकारी वैधता मिले। इंडोनेशिया के मॉडल पर उन्होंने 'देसी स्कूल' खोले जहां भारतीय प्रवासी अपने स्कूलों को अपने अनुसार चलाएं। इस चरण में दो खास बातें हुईं। स्कूल के बच्चों को और प्रवासी भारतीयों को भारतीय संस्कृति से साक्षात्कार कराने के लिए 'नाटकों' को प्रस्तुत किया। जैसे 'इंदर सभा', 'रूप बसंत', 'हरिश्चंद्र', 'श्रवण कुमार', 'दशावतार', 'आल्हाखंड', 'नौलखा हार', 'राजा नल', 'गोपीचंद', 'भक्त प्रह्लाद', 'कृष्ण अवतार', 'सत की विजय', 'वीर हकीकत राय' और 'पृथ्वीराज चौहान' आदि। ये 1964 तक होते रहे। रामायण कथा तो आदर्श थी ही। साथ-साथ रामलीला भी खेली जाने लगी। पारामारिबो, मीरजोर्ख, निकेरी में रामलीला हिंदी में ही खेली गई, साथ में वाणी, बिरहा, कथाएं और लोकगीत भी चलते रहे। लिखित सामग्री के लिए खोज आवश्यक है। टुंकी गीत, जाता गीत, सोहर गीत भी सुरक्षित रहे। मुंशी रहमान खान 1931 में कई स्थानों में रहे। अंत में वह डाइकफेल्ड, पारामारिबो (1920) में रहे। उनका आदर्श था कि हिंदू-मुसलमान मिलकर रहें। उन्होंने लिखा था:

*'दुई जाति भारत से आए, हिंदु मुसलमान कहलाए
रही प्रीति दोनों में भारी, जैसे दुई बंधु एक महतारी।'*

उनका यह आदर्श एकाएक टूट गया, जब हिंदू और मुसलमानों में दरारें पड़ने लगीं। हिंदू-मुसलमानों के इस परस्पर विरोध को मिटाने के लिए उन्होंने, लिए बीच बचाव किया और अपनी साहित्यिक प्रतिभा को प्रकट किया। (Gautam 1995, 1997, 1999, 2003, 2003, 2007, 2009, 2014)।

1. मुंशी रहमान खान (1874-1972) :

मुंशीजी का जन्म, भरकारी गांव, मौधा तहसील, हमीरपुर जिले में यूनाइटेड प्रोविन्स (आजकल के उत्तर प्रदेश) में हुआ था। इनकी शिक्षा मौधा के मदरसे में हुई। शिक्षक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे मौधा के सरकारी स्कूल में पढ़ाने लगे। इनको लोग 'मुंशी' कहने लगे। बचपन से ही हिंदू मित्रों के साथ वे रहते थे। गोस्वामी तुलसीदास और उनकी रामायण की प्रेरणा से उनके स्वप्नों का आदर्श 'रामराज्य' था। उन्हें पूरी रामायण कंठस्थ थी। दोहे और चौपाइयों का पाठ करते। आरंभ से ही हिंदी कविताएं, तुकबंदी, पत्र सब देवनागरी ही में लिखते। उर्दू की लिपि नस्तलिक इन्हें नहीं आती थी। 'रामलीला' देखने के लिए यह कानपुर गए। जब लौट रहे थे दो अरकाटियों ने इन्हें चिकनी चुपड़ी बातों से फुसलाकर श्री राम देश टापू के लिए फंसा लिया और गिरमिटिया बनाकर 5 वर्षीय शर्तबंदी ठेके पर मजदूर के रूप में सूरीनाम भिजवा दिया (Gautam, 1999)। वहां ठेका काटने के बाद वह बागान लुस्ट एन रूस्ट में कोकाओं के उत्पादन में काम करने लगे। ठेका काटने के बाद 3 और बागानों में 'सरदार' बने। 1920 में डाइक फल्लु (देइकफलेत-मुंशीजी के शब्दों में) चले गए। मुंशीजी पर गोस्वामी तुलसीदास के साथ बिहारी, बृन्दी, रहीम, गिरधर आदि का भी प्रभाव है। मुंशीजी ने अपनी डायरी में सब कुछ विस्तार से लिखा था। कविताएं तो लिखते रहे। जब 1930 के दशक में हिंदू-मुसलमानों में पारस्परिक विरोध हुआ और मुसलमानों का मिलने से, बुलाने से, खरीददारी से बहिष्कार हुआ। उन्होंने पत्रों को कविताओं में लिखा था। कुछ उदाहरण देखिए-

*'ईश्वर दीनदयाल है, करै दीन पर छोह
चूक दीन की धरत नहीं, कबहु करत नहीं कोह।
अंत्यामी प्रभु अहैं जानत जन की पीर
उनके सुमरन से कटैं, कठिन जाल जंजीर
अलख नाम सुमरिन करू, धरूं चरण निज माथ
करि है मनसा पूर्ण मम, हैं वे करुणानाथ।'*

जब 22 फरवरी 1934 में सनातन धर्म ने भी आर्य समाज की तरह 6 मुसलमानों की शुद्धि करके हिंदू बना लिया तो उन्होंने कुछ चौताले लिखी थीं :

उपदेश चौताल
*'तुम कौन वेद के सहारे शुद्धि कर डारे।
करिकै ब्राह्म मंडली तुमने सकल पवन परिहारे।
नीच कर्म कर लाज न आवत, तुझ अपन धर्म बिगारे।
शुद्धिकरि डारे॥1॥
देखहु साम यजुर अरु ऋण में कहीं नहीं उचारे।
मनुस्मृति में कहिं न देखा हो, तुम नास्तिक धरम प्रचारे।
शुद्धिकरि डारे॥2॥*

जब हिंदुओं ने बहिष्कार करके गैरकानूनी 'हिंदू बाजार' बनाया तो सरकार ने हस्तक्षेप किया। मुसलमानों की पहली मस्जिद की नींव रखी गई तो मुंशी जी ने विनय पत्र लिखा जिसमें 55 चौपाइयां और दोहे थे। अंत के दोहों में लिखा था :

'नहिं विद्या नहि बाहुबल हूं नहिं चतुर सुजान।
धन नहिं प्रभुता है नहिं लिखा पत्र रहमान॥15
करूं सलाम मैं सभा को विनय करूं करि जोरि।
बंदा माफी मांगता भूल चूक होय मोरि॥16॥

जब रामनारायण मिश्र ने उन्हें जवाब चौताल लिखकर दिया और कहा कि आप कैसे मुंशी हैं और कैसे कवि हैं तो मुंशीजी ने उत्तर दिया :

'कूप मध्य' दादुर कह जानैं। सिंधु अपार सार नहि मानैं॥
निज भाषा को अर्थ न जानै। सो किमि जग में विप्र बखानै॥
विप्र शब्दों को अर्थ जो पाते। तौ तुम सबको शीश नवाते॥

'गुनियां तो गुन को गहै निरगुन गुनहिं धिनाय।
बैलहिं दीजै जायफल क्या बुझे क्या खाय॥'

'गुरु विचारा क्या करै जब चेलहिं में है चूक।
शान बान बेधै नहिं, बास बजावै फूंक॥
ज्यों वरजा बनजार के फिरत धनेरे देश।
खांड भरे मुस खात हैं बिनु गुरु के उपदेश॥'

2. पं. रामनारायण मिश्र :

ये सनातन धर्म महामंडल सभा के मंत्री पं. शिवनारायण जी के छोटे भाई थे। वे कविताएं लिखते थे और नाम के आगे 'कवि' भी। अभी तक उनकी साहित्यिक रचनाओं के बारे में जानकारी नहीं है। इतना जरूर विदित है कि जब 1933 में हिंदू मुसलमानों में परस्पर विरोध हुआ तब वह अपने भाई के नाम आए हुए पत्रों का उत्तर जो मुंशीजी के नाम होते थे, कविता-पत्र में लिखते थे। उदाहरण देखिए जब सनातन धर्म ने 6 मुसलमानों को हिंदू धर्म में परिवर्तित कर दिया था। मुंशीजी को उन्होंने उत्तर दिया था-

'चौताल'

तुम सुनहुजमन सरदार शुद्धि मयोजारी।
उपदेशक को कार्य यही है करै धरम प्रचारी।
करि उपदेश ज्ञान शुद्धि कर, खोलऊ सत्यकर्म कभारी।
शुद्धि भयो जारी॥1॥
मांस नहीं शुद्धि करता मैं ज्ञान शुद्धि करिडारी।
मानुष जन्म जगत में पाकर, निज धर्म को दियो बिसारी॥
शुद्धि भयो जारी॥2॥

3. पं. लक्ष्मी प्रसाद बलदेव (1915-1951) :

इन्हें लोग उनके उपनाम 'बग्घा' से पहचानते थे। वह आर्यसमाजी थे और हिंदी देवनागरी लिपि में सीखी थी। वह स्वाध्याय मंडल ला प्रोविडेंस संस्था (La Providence) के सक्रिय सदस्य थे। उन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं और उन्हें साइक्लोस्टाइल करके बांटा।

(अ) गप्पी चेला और कलियुगी गुरु :

इस पुस्तक में 29 पृष्ठ हैं और ऋग्वेद के 10वें मंडल पर आधारित हैं। इसके अनुसार वर्ण को महत्व दिया गया है जो जन्म से नहीं अपितु कर्म पर आधारित है। सनातन धर्म महामंडल सभा को चुनौती दी है और यह भी कहा है कि यदि कोई विरोध करता है तो वह सबूत दे। उसे 2000 गिल्डर का इनाम मिलेगा। उस समय हिंदू मुसलमानों में परस्पर विरोध था किंतु आर्य समाज सनातन धर्मों हिंदुओं को समय-समय पर ललकार रहा था। पुस्तक में दोहा भी लिखा था :

*सोची कोऊ मानै नहीं, झूठी जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठ बिकाय ॥*

गोस्वामी तुलसीदास, ऋग्वेद, अथर्ववेद, मनुस्मृति, गीता, यजुर्वेद के संदर्भों की सहायता से हिंदी गद्य में लिखा है। अंत में शिक्षा पद्य लिखते हैं :

*'जाको गुरु है आंधरा, चेला काह कराय।
अंधा-अंधा ठे लिया, दोऊ कूप पराय ॥
हीरा तहां न खोलिए, जहं गुंडों की हाट।
सहज गाठी बांध के, लगे अपनी बाट ॥'*

3. श्रीमंगल प्रसाद :

मंगल प्रसाद लक्ष्मी प्रसाद बलदेव के शिष्य थे और सहयोगी भी थे। इनकी पुस्तक 'असत्य से फूट' गद्य और पद्य दोनों में है। मुझे नहीं मिली। संभव है कि सूरीनाम में किसी के पास अवश्य हो (Sahtoe, 2003)।

4. मुंशी रहमान खान :

इन्होंने दो छोटी पुस्तकें 1953 और 1954 में देहाती पुस्तक भंडार, दिल्ली में छपवाई थी। बाद में सूरीनामी संस्था 'द हेग' ने फिर से दोनों पुस्तकों को 1984 में छपवाया था। ये भी : दोहा शिक्षावली तथा ज्ञान प्रकाश अर्थात् शिक्षाप्रद दोहे कुंडलियां।

इन पुस्तकों के काव्य के बारे में यहां उल्लेख नहीं किया जा रहा है क्योंकि काफी लोगों ने अपने आलेखों और पुस्तक संकलनों में छापा है (पुष्पिता, 2003, विमलेश कांति वर्मा और भावना सक्सेना, 2015)। ज्ञान प्रकाश के मुख्य पृष्ठ पर मुंशीजी लिखते हैं।

*दोहा - सुंदर शिक्षा ज्ञानहित रच्यो ज्ञान परकाश।
पढिहैं बालक युवक वृद्ध होय तिमिर को नाश ॥1
तिमिर नाश भये ज्ञान हो ज्ञान से धर्महिं प्रीति।
धर्म प्रीति में ईश है यह सदग्रंथन नीति॥2*

इन पुस्तकों में इस्लामी कुंडलियां भी हैं जिनको संकलनकर्ताओं ने अपने संकलन में भी ले लिया है। प्रवासी भारतीय कैसे भारत से आए, बागानों में गए, जमीनें खरीदी, बस गए और कुछ

वापस चले गए को ज्ञान प्रकाश में 'भारतीय' के नाम से कुंडली में लिखा है।

‘आए हम सब हिंद से करन नौकरी हेत।

गिरमितकाटी कठिन से फिर सरकारी खेत॥

फिर सरकारी खेत कोई निज देश चले गए।

कोई खरीदी भूमि कोई गांवन में बस गए॥

कहैं रहमान भाग्य के कारन पाय लक्ष्मी बहुत हर्षाए॥

रहा भाग्यन विपरीति जिन्हों काव्य है कि यह नाहक हम आए॥’

वर्ष 1980 में उनकी पांडुलिपियाँ देखने को मिली जो मुंशीजी के पोते अलबर्ट रहमान के पास थी। उनकी सहायता से मैंने सभी पांडुलिपियों की जीरोक्स फोटोकापियां बनाई और तभी से मुंशीजी पर काम शुरू कर दिया। उनके गांव मरकारी गया उनके निवास स्थाकन डाइकफेल्ट गया और उनके मित्रों से मिला। अब भी शोध चल रहा है।

चतुर्थ चरण : (1946 से अब तक) :

मुंशी रहमान खान के बारे में उनके साहित्य सृजन के बारे में तृतीय चरण में लिखा गया हालांकि 1945 के बाद भी उन्होंने लिखा था। यह कहना उचित होगा कि उन्होंने हिंदी साहित्य का सृजन 20वीं सदी में ही आरंभ कर दिया था वह संभवतः पहले सूरीनाम के हिंदी साहित्यकार थे। भारत और हिंदी से सदैव जुड़े रहे। वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से उनका संबंध था। सूरीनामी प्रवासी भारतीय समाज में कबीर, तुलसीदास और भक्ति के अन्य रचनाकारों की प्रेरणा से सूरीनाम को 'रामराज्य' जैसा मॉडल बनाना चाहते थे। उनके गद्य और पद्य में एक ही समस्या थी- भारतीयता का पश्चिमीकरण। वह चाहते थे कि जो भी कुछ अपनाया जाए उसे अवश्य अपनाएं पर भारतीय अस्मिता को उससे खतरा न हो।

पं. लक्ष्मी प्रसाद और मंगल प्रसाद ने सनातन धर्म पर आरोप लगाया और कहा कि वर्ण व्यवस्था ही सनातन है तो उन्होंने ब्राह्मण वर्ण को श्रेष्ठ बताया क्योंकि भाषा, धर्म और संस्कृति की सुरक्षा का वही अगुआ होता है। उन्होंने आर्य समाज के सिद्धांत का खंडन किया। अपनी पुस्तक 'ब्राह्मण महत्व विवेचन' (1947) द्वारा सूरीनाम हिंदू समाज में जाग्रित करने का बीड़ा उठाया। गुप्त जी सनातनी थे।

मुंशी रहमान खान ने अपनी पांडुलिपियों में लिखा है कि भर्ती के बाद भारत में ही जाति प्रथा मेलों में, रेलगाड़ियों में, बस-डिपो में, मुख्य डिपों में, जहाजी यात्रा में, बागानों में, कचहरी और जेलों में समाप्त होने लगी थी। लोगों ने वर्ण को विवाह प्रथा में बहुत महत्व दिया। स्त्रियां पुरुषों के अनुपात में बहुत कम थीं। आवोन जहाज के प्रवासी ने उसी को हिंदी में दूसरे प्रकार से लिखा। उनका कहना था कि मुस्लिम क्यों नहीं हिंदुओं से सीखते, अगर सीख लेते तो मुस्लिम समाज में परेशानियां नहीं होती। हिंदू भाइयों के बच्चे गरीब होने पर भी स्कूल में पढ़ने शौक से जाते हैं पर मुसलमान बच्चे स्कूल नहीं जाते और आवारा हो जाते हैं। 'चूँकि तालीम अधूरी रह गई है इसीलिए बाबू नहीं बन सकता' धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।

हजरत नबी मुहम्मद रसूल्लिलहल्लाह का जीवन चरित्र पुस्तक को मुंशीजी ने दोहे और चौपाइयों में लिखी है। उन्होंने चाहा था कि रामायण की भांति भारतवंशी मुसलमान पैगंबर मुहम्मद के जीवन

चरित्र को पढ़ें। इसीलिए तुलसीदास की दोहा चौपाई शैली अपनाई थी। इसमें 140 पृष्ठ हैं :

दोहा - आदि अंत प्रभु का नहीं, नहीं कोई सिरजनहार।
माता पिता प्रभु के नहीं, नहीं कोई पालनहार॥
जो कहें नूर रसूल का, नहीं रचत रहमान।
तौ कुदरत रब आपनी, प्रकटन करत जहान ॥
नूर की उत्पत्ति जसमई, है यह सब रब की शान।
है यह नूर रसूल का कहूं संक्षेप बरवान ॥
जिबरा ईल रसूल में, जौन भयउ संबाद।
उन दोनहु की बाती, करूं यहां इरशाद ॥

चौपाई- नहीं थी भूमि नहीं आकाश, चंद्र सूर्य नहीं करे प्रकाश।
नहीं जीवन नहीं सरिता सागर, खुदा एक था सबसे अकबर॥
सब पोथिन असकहि समुझावा, ईश्वर का कोई मार न पावा।
ईश्वर वचन कर करहिं विश्वासा, अजर अमर सोई कुरान प्रकाशा॥

मुंशीजी भारत के लिखे पत्रों में भी दोहे लिखते थे। उदाहरण देखिए :

यहां कुशल है कृपा तुम्हारी, तुम्हारी कुशल रखते त्रिपुरारी।

भारतीयों ने सूरीनाम में बसने के बाद संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में अपने पारवारिक जाति नाम बदल दिए। (Gautam, 1999)। 1950 से सूरीनाम में राजनीतिक चेतना से प्रवासी भारतीय अब भारतीय नहीं अपितु सूरीनामी भारतीय कहने लगे। वास्तव में भारतीयों ने अपने को 'हिंदुस्तानी' कहा। यह भी कोइनीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव था। भारत की दूरी 15-16 हजार मील होने के कारण भारत से कोई सहायता नहीं मिल सकती थी। हां, भारतीय मिशन के खुलने के बाद फिर से संबंध बनाने लगे।

3. बाबू महातम सिंह :

सूरीनाम ही नहीं, त्रिनिदाद और गयाना में भी बाबू महातम सिंह ने जो हिंदी प्रचार-प्रसार का काम किया, वह अनूठा था। वह स्वयं भोजपुरी अंचल से आए थे। भारत सरकार की अंतरराष्ट्रीय सांस्कृतिक परिषद से हिंदी और भारतीय संस्कृति के अध्यापन के लिए इन्हें भेजा था। 1954 में कुछ समय त्रिनिदाद में रहने के बाद गयाना चले गए थे। वहां उन्होंने ब्रिटिश गयाना हिंदी प्रचार सभा संस्था की स्थापना की (1955)। उन्हीं के शिष्य हरि प्रसाद ने अपना जीवन हिंदी को समर्पित कर दिया और अपने खर्चे से कुछ स्कूल गयाना में खुलवाए (Butisingh, 2003)। 1960 में सूरीनाम चले आए। आने के बाद बाबूजी की प्रेरणा से भारतीय उच्चायुक्त के सांस्कृतिक सचिव की पत्नी रत्ना माया देवी दीक्षित, जिन्हें 'अम्मा' के नाम से बुलाया जाता था, ने हिंदी-प्रचार प्रसार किया तथा सूरीनाम में उन्होंने हिंदी के लिए 'माता गौरी संस्थान' स्थापित की, साथ में हिंदी पुस्तकालय खोला। और उन्होंने घूम-घूमकर प्रवासी भारतीय बच्चों और नवयुवकों को पढ़ने के लिए प्रेरणा दी। उसे हिंदू, मुस्लिम और ईसाई समाज में स्थापित करने का प्रयत्न किया। संस्थान ने 1977 में रामलीला उत्सव आयोजित किया। गोस्वामी तुलसीदास की ताम्र प्रतिमा माता गौरी के आंगन में लगवाई और रामायण सम्मेलन किया। विश्व के काफी साहित्यकारों ने इसमें भाग लिया जिसमें शंकर दयाल सिंह, यशपाल

जैन, लल्लन प्रसाद व्यास, राजेंद्र अवस्थी, विष्णुकांत शास्त्री, विद्यानिवास मिश्र, मोहनकांत गौतम आदि प्रमुख थे। उन्होंने एक पत्रिका निकाली 'सेतु बंध' जो अब भी चल रही है।

3. चंद्रमोहन रणजीत सिंह (1918-1992) :

बाबू चंद्रमोहन रणजीत सिंह, सनातनी होने के कारण चाहते थे कि हिंदी का प्रचार-प्रसार, भजन और कीर्तनों द्वारा हो। प्रवासी सूरीनामी भारतीय जितना गीतों के गानों में रस लेते हैं उतना पढ़ने में नहीं। इसीलिए रेडियो पर फिल्मी और चटनी गीत प्रस्तुत होते हैं। इसलिए उन्होंने अपनी पुस्तक इसी पर ध्यान देकर लिखी।

(अ) संगीत सुमन (1958)- इस पुस्तक का प्रकाशन भारत (नई दिल्ली) में हुआ था। सभी पुस्तकों में चंद्रमोहन रणजीत सिंह ने आरंभ 'मंगलाचरण' से किया है क्योंकि उनके अनुसार सनातन धर्म सत्य आस्तिक वेद को मानने वाला धर्म है। पुस्तक में 49 भजन हैं जो सर्वसत्य ईश्वर, उसके कृष्ण और राम के रूपों, हिंदूनाम, ईश्वर लीला, ब्रह्मज्ञान, भारत, सनातन धर्म और ऋषि, मुनियों पर पद्य में लिखे हैं। साथ में गद्य में हिंदू धर्म क्या है? भजनों के अंतराल में वर्णन किया है। भजनों को फिल्मी धुनों और तर्ज पर गाना बताया गया है जो प्रवासी भारतीयों को फिल्म और ग्रामोफोन रिकार्डों से याद थे।

(ब) संगीत प्रभाकर (1978)- इसका प्रकाशन पारामारिबो में हुआ था। पुस्तक में 'दो शब्दों' बाबू महातम सिंह ने लिखे हैं और लेखक को बधाई दी है। बाबू चंद्रमोहन रणजीत सिंह ने भी महातम सिंह को प्रेरणा का मानकर है लिखा है :

सिरनाम देश में भारत से सांस्कृतिक दूत जब से आए।

हो गई धन्य हिंदी भाषा, हिंदी प्रेमी के मन भाए॥

संगीत प्रभाकर में भिन्न-भिन्न विषयों पर कविताएं लिखी हैं जैसे भारतीय हिंदी साहित्यकार, धर्म, भारतीय स्वतंत्र वीर, कर्मवीर, और सूरीनाम के पहले भारतीय नेता जगन्नाथ लक्ष्मण।

(स) चंद्र मुक्तावली (1985)- इस पुस्तक में सूरीनाम के हिंदी कवियों को चंद्रमा माना है। देखिए

शशि सम सुरजन अमर सिंह, या मुंशी रहमान।

कविता सरिता विमल जल, करत किए स्नान॥

इस मुक्तावली से वेद, शास्त्र गीता-रामायण का संदेश सुनाते हैं लेकिन इंसानियत के कवि कबीर पर मुख्य ध्यान दिया है। पश्चिमीकरण और अंधविश्वास की कट्टरता से हटकर मानवतावादी भारतीय बने इसका संदेश देते हैं। इनकी शैली भक्तिकालीन दोहा, छंद, कवित्त और मुक्त छंदों से भरी है। हिंदी मातृभाषा को ही सूरीनाम की भाषा माना है। हरिश्चंद्र की तरह उन्होंने कहा है-

'निज भाषा को भूलना है भारी अज्ञान।

अपनी भाषा सीखिए, नित होगा कल्याण॥

सब कुछ सीखे जगत में, भए गुणों के धाम।

निजभाषा सीखे नहीं, समझो सब बेकाम॥'

फिर अंतिम पंक्तियां हैं-

*‘राष्ट्रीय भाषा को पढ़ो, होय सदा कल्यान ।
मातृ भाषा भी पढ़ो, तब हो चुतर सुजाना।’*

चंद्रमोहन रणजीत सिंह ने नाटक भी लिखे थे। ‘तो प्रस्तुत भी हुए थे। बाबू महातम सिंह ने भी इन नाटकों में इनकी सहायता की थी। अपनी ‘मातृभाषा’ कविता इन्होंने 260 दोहों में रची है। इस आलेख में उनका साहित्य सृजन का पूरा ब्यौरा देना संभव नहीं होगा।

4. महादेव खुनखुन (1919-1998) :

महादेव खुनखुन जी का नाम सुखराज खुनखुन है, इनके पुरखे भी भारत से शर्तबंदी ठेके पर आए थे। परिवार और मित्र सभी इन्हें महादेव के नाम से बुलाते थे। धर्म, समाज और भाषा पर सदैव चिंतन करते थे। उन्हीं विषयों पर लेकर सभ्य मानव बनने के लिए कबीर के संदेश भरे आडंबर रहित दोहों में उन्होंने जीवन ज्योति पुस्तक लिखी। जीवन ज्योति या कबीरावली (2003) पुस्तक में 415 मुक्त दोहे हैं जो देवनागरी और रोमन लिपि में लिखी हिंदी में हैं। उनका निम्नलिखित दोहा जन्म विषय पर है :

*‘जात पात जनम से है नहीं, भगवान रचा संसार ।
मानव जाती में मानव हैं सभी, जाने दुनिया जहान ॥’*

5. श्री निवासी (1926) :

श्री निवासी का वास्तविक नाम मार्टिन हरिदत्त लक्ष्मन है। इनके पिता ने ईसाई धर्म अपना लिया था। एक बार मेरी उनके माता-पिता से मुलाकात हुई। वृद्धावस्था में वे रोटर्डम में रहते थे। पता पड़ा कि उनके पिता या माता दक्षिण भारतीय थीं। श्री निवासी को मार्टिन नाम से बुलाते थे। मेरी श्री निवासी से मुलाकात छठे दशक (1965) में द हेग (The Hague) में हुई थी। 1966 में उनकी कविताओं का संग्रह ‘अंजलि’ नाम से प्रकाशित हुआ। जन्म दिन पर ही ‘अंजलि’ मुझे भेंट की। श्रीनिवासी ने मुंशी रहमान का योगदान हिंदी साहित्य में सदैव माना। डच और हिंदी दोनों भाषाओं में उन्होंने लिखा। भारत और धर्म-संस्कृति को समझने के लिए हिंदी लिपि आवश्यक है। वह सदैव मुझसे हिंदी में ही बातें करते थे। प्रतीक्षा (1968), एक मिनट शांति (1970), दिल आकार (1970) इनकी अन्य कृतियां हैं।

श्रीनिवासी ने दो पुस्तकें डच में लिखी हैं, हिंदी में ‘आंख में आख’ और ‘सूर्य के चारो ओर’ (1974, 1972)। सूरीनाम के राष्ट्रीय कवि माने जाते हैं, आजकल क्यूरासाओं में रहते हैं। दो कविताओं की पुस्तकें संपादित भी की हैं और अब भी कविताएं लिख रहे हैं। विदेशी और डच साहित्यकारों ने इनका नाम सूरीनाम के साहित्यकारों में गिना है (POS, 1979, Gaikhorst, 1995, G Garg, 1986, Kemen, 2003, Helmen, 1977, Koeford, 1984)।

6. सुरजन परोही :

सुरजन परोही अपना पूरा दिन चाक चलाकर मिट्टी को मरोड़कर बर्तन बनाते रहते हैं। बातें करते हैं तो हिंदी में किंतु और लोगों के साथ अन्य भाषाओं में जब चाक चलाते हैं तब उनका मस्तिष्क भी विचारों में उलझा रहता है और बाद में कविताएं लिखते रहते हैं। उनकी कविताओं का नमूना देखिए :

‘हिंदी हमारी’
हिंदी न आगे रखो
न पीछे
साथ-साथ रखो
घर, बाहर, दफ्तर में
मन के घर में, वाणी में
परदेस में
हर भाषा सीख
पर अपनी भाषा मत भूल
मातृभाषा नाश
तो धर्मजाति नाश।

सुरजन परोही ने काफी कविताएं लिखी हैं जिनके विषय देश, राजनीतिज्ञ, भारतीय संस्कृति और धर्म रहे हैं। उन्होंने कुल तीन पुस्तकें लिखी हैं।

7. अमर सिंह रमण (1932) :

अमर सिंह से मुलाकात कई बार हुई। नाथूराम की हिंदी पुस्तकों से उन्होंने हिंदी सीखी। 1957 में जयप्रकाश हिंदी स्कूल खुला उसमें हिंदी पढ़ाने लगे। बाबू महातम सिंह से उन्हें प्रेरणा मिली। 1964 से हिंदी में लिखना आरंभ किया। सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सहायता करते हैं। व्यवसाय से किसान और दर्जी हैं। इन्होंने 4 पुस्तकें लिखी हैं : फूलों के पंछी (1984), फूलों की बहार (1986), कृष्ण सुदामा और लक्ष्मी पूज्य तथा बसंत होली।

इनकी ‘प्रवासी विरह’ कविता प्रवासियों की स्मृति का दर्पण है :

प्रवासी विरह

‘छोड़ अइली हिंदुस्तानवा बबुवा पेटवा के लिए
छोड़ली मइया, बप्पा, बंधु, सारा परिवारवा
कि छूटल मिलन की आश
पड़ली मरम में छूटल पटना के शहरवा
छूट गइली प्यारी गंगा मइया के अंचरवा
नाहीं मानली एकौ बाबा मइया के कहनवा
बबुआ पेटवा के लिए।
रोते होइ हैं जोरू और गोद के गदेलवा
कि करि-करि ददुवा के आश।
फूटी गैले करम कि टूटी गैले नातवा
समुझि समुझि मन रोए कलकतवा
जियरा के बुझावे काही गाली गावे लगली गानवा
बबुवा पेट के लिए।
स्ववर्ग से जहान मोरा छूटल वेद औ पुरानवा

कि होयगा धरम का नाश।
रामधाम छूट गइले मिला बनवसवा
चुन्नी खुद्दी खाय खाय काटली है धासवा
मांग के गुलामी करली तो मिलल दई दानवा
बबुवा पेटवा के लिए।'

रामदेव रघुबीर, डॉ. उमाशंकर 'सतीश' के समय में 1981 से 1983 तक भारतीय दूतावास में सांस्कृतिक सचिव और सांस्कृतिक केंद्र के अध्यक्ष थे। उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए सूरीनामी प्रवासी भारतीयों की प्रतिभा का पता लगाया तभी रामदेव रघुबीर से मुलाकात हुई। रामदेव रघुबीर को जब भी कार्यक्रम होता बुलाते थे। रामदेव रघुबीर ने नाटकों पर भी ध्यान दिया। उनके 'धरती मैया' नाटक को काफी प्रसिद्धि मिली। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों ही में रचना की।

इन्होंने नाटकों में सामाजिक और धार्मिक विषयों को लिया जैसे, 'बहू भी बेटी है', 'तुलसीदास' और 'सूरदास'। सूरीनामी भारतीय संस्कृति पर डच में भी पुस्तकें लिखी थीं। 'संस्कृति की बातें' (1987) में भारतीयों की वेश-भूषा, रहन-सहन, धार्मिक उत्सव, कीर्तन, भजन, रामायण, रामलीला, प्रवासी भारतीयों का इतिहास आदि के बारे में विस्तार से बताया गया है (Raghoebir, 1987)।

9. प्रेमानंद (1936-) :

प्रेमानंद में सूरीनाम के निकेरी अंचल के हैं। आरंभ में उन्होंने कई स्कूलों में हिंदी पढ़ाई। 1976 में पढ़ने के लिए 'हिंदी स्वयं शिक्षा' (3 भाग) लिखी। उनका कहना है कि हमें यही पूछना चाहिए कि हम अपने देश के लिए क्या कर सकते हैं। इन्होंने हिंदी देवनागरी लिपि में और रोमन लिपि में 'परदेसी' कहानी लिखी (1980)। उन्होंने मुक्तक सूक्तियां भी लिखीं। 'दीपक' इनकी दूसरी कहानी है (1987)। यह भी हिंदी और डच में है।

10. हरिदेव सहतू (1942-2013) :

हरिदेव सहतू को मैं वर्षों से जानता था। उनसे मेरी मुलाकात सातवें दशक में हुई थी और वह भी मेरी छात्रा श्रीमती शीला सहतू-वैजनाथ शाह के घर पर। शीला ने पहली बार अपना एम.ए. का शोध-प्रबंध मेरे ही निर्देशन में लिखी थी। उसका विषय था 'सरनामी का प्रयोग' जिसमें व्याकरण की रूपरेखा प्रस्तुत की थी (1975)। सहतू जी को वह 'काका' कहती थी। क्योंकि सहतूजी उनके पति के काका थे। तभी से उन्होंने उपनाथ 'अंकल' रख लिया। 1977 से 1998 तक सूरीनामी हिंदी परिषद संस्था के काम में लगे रहे। बाद में सूरीनाम साहित्य मित्र संस्था के अध्यक्ष बने और 'शब्द शक्ति' पत्रिका निकालते रहे। बहुत से स्कूलों में उन्होंने हिंदी का अध्यापन किया। सहतूजी हिंदी तो चाहते थे पर सरनामी मातृभाषा के हितैषी थी। उनकी मशहूर कविता ने लोगों को दुविधा में भी डाला और मातृभाषा के प्रति सदभाव भी दिया। उन्होंने काफी कविताएं लिखीं। 'सरनामी' (1971) में उनको काफी याद किया।

'सरनामी
हम तोके का बोली
बोली बोली
भाषा बोली

अवधी कि भोजपुरी
 हिंदी कि खड़ी बोली
 हम तोके का बोली...
 टूटल भाषा की अइली-गैली
 आपन भाषा में एक बात बोली
 तोहं से हम्मे बहुत है प्यार
 महतारी भाषा हमार, महतारी भाषा हमार
 सरनामी हमार, सरनामी हमार

उनकी सरनामी कविताएं हैं 'रुक जा', 'मुर्गा के गोस', 'लड़की' और 'पगड़ी वाला'।

उन्होंने एक कहानी 'हम जाइला' शीर्षक से लिखी। अपनी कविताएं मुझे हस्तलिखित भेजी थीं। मैं भी उनकी पत्रिका 'शब्द शक्ति' में लिखता रहा हूँ।

11. जीत नारायण (1948) :

जीत नारायण का पारवारिक नाम है बलदेव सिंह। मेरी इनसे मुलाकात सातवें दशक में हुई थी। तब वह चिकित्सा शास्त्र की पढ़ाई लायडन विश्वविद्यालय के मेडिकल कॉलेज में कर रहे थे। सरनामी भाषा के आंदोलन में उनका महत्वपूर्ण योगदान था। वे हेग में डॉक्टरी व्यवसाय करने के बाद 1991 में सूरीनाम चले गए और वहां चिकित्सालय चला रहे हैं। वह अपने को हिंदुस्तानी नहीं, सूरीनामी कहलवाना पसंद करते हैं। मैंने आज तक उन्हें हिंदी बोलते नहीं देखा। कहते थे हिंदी विदेशी भाषा है और सरनामी सरनाम की उनकी मातृभाषा है। पहले वह रोमन लिपि का ही उपयोग करते थे। 1988 में जब उनकी कविताएं संपादित हिंदी लिपि में माता प्रसाद त्रिपाठी ने की और पुस्तक का नाम दिया 'जीत नारायण की सरनामी कविताएं' तभी से उन्होंने देवनागरी, लिपि एक तरह से अपना ली। इस पुस्तक में 12 कविताएं हैं। जीत नारायण की दस पुस्तकों को मैं देख चुका हूँ, दाल, भात, चटनी पुस्तक (1971) और एक रिकार्ड भी अपने खर्च से निकाला था। उनकी कविताओं में वेदना और विद्रोह साफ झलकता है। उन्हें मानवता में विश्वास है, किसी धर्म को नहीं मानते, इंसानियत ही उनका आदर्श रहा है। सभा में यदि कोई धार्मिक आदर्शों की बातें करता है, तो एकदम उठकर उसका मुंह बंद करने की उनकी आदत है। उनकी कविताएं देखिए (Tripathi, 1988)।

दोहा - 'अपन देख के प्यार में पूजीला दिल से डाड़ी
 सोच के मन से मरीला, सरनामी संस्कृति गाड़ी
 भाग बड़ा तेज हमार, हम पक्का सरनामी
 इही देस में हमार प्रेम नगर है, इही के करबे आबादी'
 'आजा' 'मर गैले
 धंस गैले
 महि में मिट गैले
 देस के तागत टूट गैल
 फट गे करेजा

मकुवान है हम
सोचिला का हुई?’

12. बिहारी लाल कल्लून :

इन्होंने कविताओं के तीन संकलन छापे हैं। ‘पुकार’ (1991), ‘अपनों की खोज’ (1997) और ‘पूर्वजों की याद में’। ‘पुकार’ पुस्तक में ‘पुकार’ शीर्षक कविता देखिए-

‘नौजवानों, धर्म की रक्षा तुम्हें करनी पड़ेगी।
वेद रक्षा के लिए हिंदी तुम्हें पढ़नी पड़ेगी।।
तुम परेशां हो रहे हो पर धर्म का अनुकरण करके।
आज अपने धर्म पर श्रद्धा तुम्हें करनी पड़ेगी।।’

आखिरी पंक्तियां - प्रेम का पैगाम जग को अब तुम्हें देना पड़ेगा।

हिंद, हिंदी, हिंदु-हित कल्लु तुम्हें लड़ना पड़ेगा।।

इन संकलन में अन्य विषय हैं, विश्वास, वैदिक धर्म, हमारा देश सूरीनाम, ब्रह्मचर्य, सलाह, लरवागीत, जन्मदिन, स्वामी दयानंद सरस्वती। पूर्वजों की याद में पुस्तिका सूरीनाम के प्रवासी भारतीयों के आगमन पर लिखी थी। इसमें विषय है- अप्रवास की कहानी, पूरब का सूरज, सूरीनाम में भारतवासी, मातृभूमि आदि। इसमें बच्चों के लिए एक कहानी भी है- ‘आप्रवास का किस्सा’।

अन्य कवि : सूरज, रिनी शितिम, लछमी प्रकाश मल्लू। सूरज ने ‘मेरी आवाज’ पुस्तक में हिंदी कविता देवनागरी में न लिखकर रोमन में लिखी थी (1982)। कविताएं सरनामी और हिंदी में लिखी हैं। रिनी शितिम ने ‘मोहिनी’ सूरीनामी और हिंदी में लिखी है। कविताएं रोमन लिपि ही में लिखी हैं (1975)। लछमी प्रकाश मल्लू (1918-1997) आर्य समाजी थी। उनकी रचनाएं आर्य समाज के विषयों पर थी। सूर्य प्रसाद बीरे, सुरेंद्र संतोखी, किसुन दयाल रामदास, पं. रामरूप, श्रीमती कमला जगमोहन, बृहस्पति नारायण, जयजय रामप्रसाद, रबीन बलदेव सिंह, धर धीवती चुन्नी, चित्रा गयादीन, चांदनी, रामौतार सिंह, राज रामदास, ब्रिस महावीर, राजमोहन आदि सूरीनामी और हिंदी साहित्यकार नीदरलैंड्स में रहते हैं। नीदरलैंड्स की हिंदी पर अलग से लिखा जा सकता है। ये सब अपने को डच हिंदुस्तानी कहते हैं और करिबियन हिंदुस्तानी कहलवाना पसंद नहीं करते हैं।

14. इसके अंतर्गत नाटक, लोकगीत, चटनी, पत्रिकाएं, समाचार पत्र, व्याकरण और शब्दकोश आदि विषयों का सूरीनामी हिंदी और सरनामी के विकास में क्या योगदान रहा है? विचार करेंगे। इस प्रसंग में निम्नांकित निवेदित है-

1. हिंदी और सरनामी नाटकों का आयोजन द्वितीय चरण में आरंभ हो गया था तब इसी माध्यम के द्वारा हिंदी, धर्म और संस्कृति की जानकारी खुले आम दी जाती थी जिसके दर्शकों में डच अफसर और क्रियोल कर्मचारी भी होते थे। तृतीय चरण में नाटकों का आयोजन केवल हिंदी में होता था जैसे राजा हरिश्चंद्र, इंदर सभा, भक्त प्रहलाद आदि। आर्य समाज की ओर से ‘वीर हकीकत राय’ नाटक पं. हिंडोरी ने आयोजित किया था। यह भी बीसवीं सदी के तीसरे दशक की बात है। पं. हिंडोरी तब पं. सुखराम के नाम से जाने जाते थे। प्रवासी भारतीय मुसलमान इस नाटक पर नाराज हो गए। उनके अनुसार यह मुसलमानों के खिलाफ था। इस पर भी दंगा-फसाद हुआ। गाय और सूअर काटे गए और उन्हें मंदिर और मस्जिद के आगे फेंका गया। मुसलमानों ने सरकारी प्रशासकों से शिकायत

की। पुलिस शांति के लिए बुलाई गई और नाटक बंद कर दिया गया। बाद में हिंदुओं ने भी मुसलमानों का बहिष्कार किया। नाटकों का खेलना बंद हुआ पर नौटंकियां होती रही। मैंने 1993 में सूरीनाम में शोध किया था जिसके इंटरव्यू मैंने टेप किए थे। बाद में उस नाटक के पात्रों (जो तब वयोवृद्ध हो गए थे) से भी बातें की। सन 1960 के बाद फिर से नाटकों का आयोजन होने लगा। गुरुदत्त कल्ला सिंह भारतीय संस्कृति और भाषा की जानकारी रखते थे और गीतों के गाने में प्रसिद्ध थे। इन्होंने हरि रामदास के साथ 'परवासी' नाटक सरनामी हिंदुस्तानी में लिखा और सूरीनाम में 05 जून, 1960 और बाद में भी प्रवासी भारती के सूरीनाम आगमन के दिन खेला गया। बाद में गुरुदत्त ने 'पड़ोसिन' (1961), 'घर के भेड़ा' (1963) और 'सास-पतोहू' (1965) आयोजित किए जिनमें भारत की स्मृतियां, मुख्य डिपो, जहाजी यात्रा, बागानों में मेहनती काम, पड़ोस का समाज, पारिवारिक समस्याएं और सास-बहू के बीच समस्याओं को प्रदर्शन किया। 1969 में डच सरकार ने सूरीनाम में उन्हें 'सांस्कृतिक विशेषज्ञ' के खिताब से अलंकृत किया। 1968 में गुरुदत्त जी (जो मेरे निकट के मित्र थे) ने और भी नाटक लिखे।

2. लोकगीत आरंभ से अब तक गाए जाते हैं। पहले ढेंकी, जाता (चक्की पीसते वक्त) विवाह पर सोहर, लोरी आदि होते थे। अब ढेंकी और जाता के न होने से संस्कारों पर स्त्रियां मिलकर गाती हैं। लोकगीतों की अब डीवीडी बन गई हैं। चटनी भी सूरीनाम में प्रसिद्ध है। सूरीनाम के चटनी गीत गाने वाले श्री रामखिलावन प्रतिभाशील व्यक्ति हैं। समयानुसार आयोजनों में स्टेज पर ही कविता बना लेते हैं। पिछले वर्ष मारीशस में प्रवासी भारतीयों के कार्यक्रम में उन्होंने मोदी जी, सुषमा जी और मारीशस के संबंधों पर गीत बनाया।

3. सूरीनाम में सूरीनाम हिंदी परिषद, सूरीनामी साहित्य मित्र संस्था और माता गौरी संस्थान पत्रिकाएं निकालते हैं और नवयुवकों को प्रेरणा देते हैं कि वे कहानी और कविताएं हिंदी देवनागरी लिपि में लिखें। हां कोई समाचार पत्र हिंदी में नहीं है। अखबार डच ही में निकलते हैं। रेडियो राधिका (पारामारिबो) और रानी (निकेरी में भारतीयों पर उनके जन्म, जन्मदिन, विवाह और मृत्यु, धार्मिक कार्यक्रम के साथ संगीत, फिल्म संगीत पूरे दिन देते रहते हैं। हां जब राजनीति व्याख्यान और धार्मिक प्रवचन हों तो उनमें हिंदी का ही उपयोग होता है।

4. हिंदी में सूरीनामी प्रवासी भारतवंशियों के लिए और डच प्रशासकों के लिए भाषा पर कोई काम नहीं हुआ। 1930 में पहली बार स्खाल्कवाइक (Schalkwijk) जो वहां जिला न्यायालय में न्यायाधीश थे और प्रोफेसर फोगल (vogel) ने पुस्तक लिखी जिसमें भारतीय कौन है, उनके समाज की संरचना क्या है? और हिंदी व्याकरण की संरचना क्या है? का वर्णन किया। फोगल लायडन विश्वविद्यालय में इंडोलोजी (indology, भारतीय विद्या) में भारत की भाषाएं और संस्कृति पढ़ाते थे। उनका हिंदी का व्याकरण मानक हिंदी का है। अंतर यही कि समझाने के लिए डचभाषा और रोमन लिपि का माध्यम लिया है (Karsten, 1930) 1966 में गुलजार, जो कानूनी औपचारिकता से दुभाषिए, अनुवादक थे। हिंदुस्तानी भाषा सिखाने के लिए विद्यार्थियों के लिए 'स्वयं हिंदी सीखिए' पुस्तक लिखी। यह भी डच भाषा में है। हिंदी के व्याकरण के शब्द भंडार में उर्दू के भी शब्द हैं (Gulzar, 1966)। 1978 में 'शुरू से शुरू कर' पुस्तक आई जो नई प्रणाली से बनी थी, इसको इंस्टीट्यूट भाषा विज्ञान ने प्रकाशित करवाया था जो उन विद्यार्थियों के लिए थी जो हिंदुस्तानी सीखना

चाहते थे। इसके ऑडियो-विजुअल (audio-visual) प्रणाली के द्वारा हिंदुस्तानी पढ़ाई जाती थी। (Huiskamp, 1978)। डॉ. ज्ञान अधीन ने डच हिंदी शब्दकोश बनाया था जो अब भी प्रयोग होता है (Adhin, 1953)। उमाशंकर 'सतीश' ने भारतीय दूतावास से भारत जाने के बाद 'सूरीनाम में हिंदी : सांस्कृतिक अध्ययन पुस्तक देवनागरी में लिखी (umashankar 'satish' 1985)। डॉ. ऊर्षबोध आर्य (स्वामी वेद भारती के नाम से प्रसिद्ध हैं) ने सूरीनाम में हिंदुओं के धार्मिक गीत और लोकगीत (Ritual songs and talk songs of the Hindus of Suriname) पर पुस्तक लिखी (Arya, 1968)। लायडन विश्वविद्यालय में मेरे चार विद्यार्थियों ने सूरीनाम की भाषा और संस्कृति पर 1970-1980 में शोध किया था। दो ने सरनामी व्याकरण पर और दूसरे विद्यार्थियों के परिवार और संस्कृति पर। शीला सहतू, मोती माढ़े, क्रिस बैजनाथ और बीरे। पुस्तक माढ़े की छपी है (Marhe, 1985)। मेरे एक विद्यार्थी ने बिरहा पर भी काम किया किंतु वह अपनी पढ़ाई पूरा नहीं कर सका। एक दूसरे विद्यार्थी ने सूरीनाम जाकर सूरीनाम में हिंदुस्तानी भाषा की स्थिति पर शोध किया था (de Boer, 1994)। सभी अप्रकाशित शोध प्रबंध (thesis) मेरे पास सुरक्षित हैं। करिबियन हिंदी पर सामग्री बहुत है, आशा करता हूं कि उसका प्रकाशन शीघ्र ही हो सकेगा।

करिबियन देशों की हिंदुस्तानी (हिंदी) और मातृभाषा भोजपुरी अवधी समिश्रित (सूरीनाम में सरनामी) है दोनों का ही हमें आदर करना होगा। उनकी 'ऊंची' और 'नीची' भाषा में तुलना नहीं कर सकते। मेरे विचार में दोनों भाषाओं का योग महत्वपूर्ण है। भारत सरकार को चाहिए कि प्रवासी भारतीयों की सांस्कृतिक उन्नति के लिए जो कर सकते हैं, वह करें। जब मैं सूरीनाम में शोध कर रहा था तो वहां एक बड़े-बूढ़े से बातें करते सुना था (Gautam, 2004)

*‘जली रोटी की
मुस्कान का किस्सा
मेरे आज-आजी के अनुभव
त्रासदी, कुंठा और शराफत
का बयान था
सुनकर मेरा आपा
मेरे आपे में न होता
पर सुनते ही चाह में
प्रतीक्षा ही किया करता
और इस प्रक्रिया में
कभी-कभी गांवों की सजीव भीति
का दर्द उनकी आंखों से गुजरता
आंसुओं की बूंदों में
उनकी सतरंगी कहानी
स्वतः ही साकार हो जाती’।*

संदर्भ :

- आदेश, हरिशंकर 1983 अनुराग, Delhi : National Publishing House
- 1997 शकुंतला दिल्ली, महाकाव्य शिल्प प्रकाशन
- 2006 महारानी दमयंती दिल्ली, निर्मल प्रकाशन
- 2008 निर्वाण, दिल्ली, नटराज प्रकाशन
- कल्लू-, बिहारीलाल 1991 पुकार, पारामारिबो, कल्लू एंटर प्राइसिस
- 1997 अपनों की खोज में, रुड़की, सूर्या प्रिंटर्स।
- 1998 पूर्वजों की याद में, पारामारिबो।
- खान, मुंशीरहमान 1922 क्षेत्र भाषा विद्या (मैन्सूरशन) पांडुलिपि
- 1931 गणित कौमुदी, पांडुलिपि
- 1942 खून के आँसू पांडुलिपि
- 1943 जीवन प्रकाश (4 भाग) पांडुलिपि
- 1943 तवारीखे हिंदू पांडुलिपि
- 1944 पैगंबर मुहम्मद का जीवन, पांडुलिपि।
- 1947 हिंदी शिक्षा प्रकाश (3 भाग) पांडुलिपि
- 1951 किस्सा हातिमताई पांडुलिपि
- 1950 धर्म और व्यक्तित्व संवाद, पांडुलिपि
- 1930 दिलबहार पांडुलिपि
- खुन खुन, महादेव 2003 जीवनयोति या कबीरावली, अल्क,मार,
गुप्त, शिवरण 1947 ब्राह्मण महत्व विवेचन, सूरीनाम
गौतम, मोहन का 2003 'सूरीनाम में भारतवाशियों की सांस्कृतिक अस्मिता की सुरक्षा में
आजा-आजी का योगदान' शब्द शक्ति, पारामारिबो।
- 2004 'हिंदी साहित्य के सृजन में सूरीनामी हिंदुस्तानियों का योग' प्रवासी संसार, दिल्ली
- 2004 मुंशी रहमान खान भारतवंशी अस्मिता प्रेरणा के सूत्र और सूरीनाम हिंदी के मनीषी
सेवक, प्रवासी संसार
- 2007 'एक दर्द दोहरी पहचान का' चेतना का आत्म संघर्ष हिंदी की इक्कीसवीं सदी,-
आईसीसीआर, नई दिल्ली
- 2007 'सूरीनाम में भारतीयों की अस्मिता और देवनागरी लिपि,' नागरी संगम, दिल्ली।
- 2009 सूरीनाम के कवि मुंशी रहमान खान (1874-1972) की हस्तलिखित पुस्तिका धर्म
और कल्क संवाद 'हिंदी जगत' दिल्ली
- जगन्नाथन की. आर. 1996 स्वयं हिंदी सीखें (3 भाग और 4 भाग कासेत्स) जनेपा, नई दिल्ली।
- झाऊ, रामनारायण 1983 सूरीनाम के भारतवंशी, पारामारिबो, आर्य दिवाकर।
- त्रिपाठी, माताप्रसाद 1988 जाति नाराइन की सरनामी कवितायें, वाराणसी, सरनामी संस्था द हेग
- नाथूराम, मुंशी 1976 हिंदी की पहली पुस्तक, बंबई, श्री वेकटेश्वर प्रेस।
- (मास्टर) प्रेमानंद (मोंटू) 1980 परदेशी, पारामारिबो।

- 1987 दीपक, पारामारिबो ।
 परोही, सुरजन? कविताएं, पारामारिबो ।
 पुष्पिता (संपादन) 2003 कथा सूरीनाम, दिल्ली, राधाकृष्ण ।
 -----2003 कविता सूरीनाम, दिल्ली, राधाकृष्ण ।
 बलदेव लक्ष्मी प्रसाद 1945 कर्मानुगत वर्णव्यवस्था सनातन है ।
 -----1946 गप्पी चेला और कलयुगी गुरु
 -----1946 संस्कृति भजन वल्लरी
 -----मंगल प्रसाद 1946 असत्य से लूट
 -----मुंशी रहमान खान 1955 दोहा शिक्षावली नई दिल्ली
 -----1953 ज्ञान प्रकाश शिक्षाप्रद दोहे, कुंडलियां, दिल्ली
 ----रघुवीर, रामदेव 1987 संस्कृति की बातें
 -----रमण, अमर सिंह 1984 फूलों के पंछी
 -----1986 फूलों का बहार पारामारिबो
 'सतीश', उमाशंकर 1985 सूरीनाम में हिंदी : सांस्कृतिक अध्ययन
 सहतू, हरिदेव, 2006 सूरीनाम में हिंदी भाषा और साहित्यिक के विकास का इतिहास, पारामारिबो,
 Artic's Printing Edegin
 -----सूरज 1982 मेरी आवाज, पारामारिबो
 -----शित्तिआम, रिनी, 1975, मोहिनी, दनहाग, वेस्टफोर्ट
 -----सिंह, जानकी प्रसाद, 2008 कविताएं और.....पारामारिबो, सूरीनाम हिंदी परिषद
 सिंह, बाबू महातम सिंह, (सेतुबंध पत्रिका) पारामारिबो
 सिंह, बाबू चंद्रमोहन, 1958 संगीत सुमन, पारामारिबो,
 -----1985 चन्द्र मुक्तावली पारामारिबो
 श्रीनिवासी 1963, अंजलि, पारामारिबो : Eldorado
 -----1968 प्रतीक्षा पारामारिबो : Eldorado
 -----1970 एक मिनट शांति
 -----1991 संगम, पारामारिबो, Actua Print
 जीतनराइन 1977 दाल, भात, चटनी, द हाग
 -----1980 हिंसा प्रसाद, (Den Haag)
 वर्मा, विमलेश कान्ति और भावना सक्सेना 1915 सूरीनाम का सृजात्मक हिंदी साहित्य नई
 दिल्ली : राधाकृष्ण ।

अंग्रेजी और डच संदर्भ

- Adhin, Gyan. H. 1953. *Hindi Woordenboek (Hindi-Nederlands)*. Paramaribo: Vidya Pustak-Sadan.
 —1969. *Ontwikkeling en betekenis van Hindi Studie*. In Vijay, 3., Paramaribo. PUBLISHER?
 —1973. *100 Jaar Suriname: Gedenkboek i.v.m. een eeuw Immigratie*. Paramaribo, Stichting Hindostaanse Immigratie.

- Alleyne, M. C. 1985. A linguistic Perspective on the Caribbean'. In Sydney W. Minz & Sally Price (eds.) *Caribbean Contours*. Baltimore: John Hopkins University Press.
- Alsdown, P.1988. *Caribbean History in Maps*. Hong Kong: Longmans Caribbean.
- Arnold, Thomas. 1995. *Remnants of the great Coolie Scramble: The East Indians of St. Vincent, From Indenture to Migration to Britain*. ISER-NCIC
- Conference on Challenge and Changes: *The Indian Diaspora in its Historical and Contemporary Contexts*. St. Augustine: The University of West Indies.
- Bhatia, Tej K.1982. Trinidad Hindi, Three Generations of a transplanted Variety. *Studies in the Linguistic Sciences, Vol. II No. 2. PAGES*
- Bereton, B.1981. *A History of Modern Trinidad: 1783 – 1962*. Port of Spain: Heinemann.
- Bereton, B. & Dookeran 1982. 'East Indians in the Caribbean' in Colonialism and the Struggle For Identity. BOOK? PUBLISHER & PLACE ?
- Conmins, D.W.D.1893. *Emigration, Simla Records 3 Proceedings Nos. 14-18*, Calcutta : Government Press.
- Damsteegt, T. & Jit Narain 1987. *Ka Hal: leerboek Sarnami. For Surinaamse Hindostaans*, Den Haag, Nederlands: Bibliothek en Lector Centrum.
- De Klerk, C.J.M. 1953. *De Immigratie der Hindostanen in Suriname*. Amsterdam: Urbie –Obri.
- Durbin, M.A.?YEAR? 'Formal Changes in Trinidad Hindi as a result of language Adaptation' . *American Anthropologist*, 25 (5.) PAGES?
- Ehrlich, A.S. 1989 The Cultural Economics of two Indian population in Jamaica'. Birbalsingh (ed.) *Indenture and Exile: The Indo-Caribbean Expression*. Toronto: TSAR.
- Gambhir, S.1983. 'Diglossia in Dying Languages: case study of Guyanese Bhojpuri and Standard Hindi'. *Anthropological Linguistics*, 25, NUMBER & PAGES
- Garg, G.R.1986. An Encyclopaedia of World Hindi Literature. New Delhi, Concept Publication Co.
- Gautam, M.K. 1995,(August 11-18). 'Munshi Rahman Khan (1874 -1972): An Institution of the Indian Diaspora in Surinam .Unpublished paper presented at the ISER-NCIC conference on challenge and change, The Indian Diaspora in its historical and contemporary contexts. The University of West Indies, St. Augustine, Trinidad and Tobago 11-18 August.
- 1999. The Construction of the Indian Image in Surinam: Deconstructing Colonial Derogatory Notions an Reconstructing Indian Identity. In M. Gosine and Dhanpaul Naraine (eds.) *Sojourners to Settlers: Indian Migrants in the Caribbean and the Americas*. New York :Windsor Press.
- 2003. 'Ethnic Identity of the East Indians in Surinam' in R. Sharma and E. Annamalai (eds.) *Indian Diaspora, In Search of identity*. Mysore: Central Institute of Indian Languages.
- 2008. 'The Relevance of Life history Writins as a Methodological Technique of Social Inquiry: The Autobiography of Munshi Rahman Khan in Understanding the Indian Diaspora'. In A.K.Sahoo and K. Laxmi Naryan (eds.) *Indian Diaspora: Trends and Issues*. New Delhi: Serial Publications.
- Gooptar, Primnath 2014. *Bala Joban : The First Indian Movie in Trinidad. La Romaine,*

- Caribbean Educational Publishers.
- Gulzar, M.A. 1966. *Leerboek der Hindostaanse Taal voor beginners*. Paramaribo.
- Gosine, M (ed.) 1994. *The East Indian Odyssy: Dilemmas of a Migrant People*. New York: Windsor Press.
- Gosine, M. and Deepak Malik, Kumar Mahabir (eds.) 1995. *The Legacy of Indian Indenture: 150 Years of East Indians in Trinidad*. New York: Winsor Press.
- Helmen, A. 1977. *Cultural Mozaik van Suriname Bijdrage tot Onderlinge Begrip*. Zutphen, De Waldburg Pers.
- Huiskamp, A.B. 1978. *Shuru se Shuru Kar: An Audio-Visuelle curses voor beginners*. Paramaribo, Instituut voor Taalwetenschap.
- Jha, J.C. 1993. 'The Emigration of India labour to the French West Indies in the Second half of the Nineteenth Century' In J.K.Motwani, M/Gosine and Barot-Motwani, (ed) *Global Indian Diaspora, Yesterday, Today and Tomorrow*. New Delhi, GOPIO
- Lucas, J.A. 2009. 'The Presence of East Indians in Belize' .In *The Reporter*. Belize.
- Karsten, Rev. Rudolf 1930. *De Britsche-Indiers in Suriname*. 's-Gravenhage, Martinijns :Nijhoff.
- Kempen, M. van 2003. *Geschiedenis van de Surinaams Literatuur*. 2 delen Amsterdam, de guus.
- Kroeford, Geert. 1984. *Shrinivasi : Een Weinig Van Het Andere*. Haarlem, In de Knipscheer.
- Mahabir, K. 1995. 'The Impact of Hindi on Trinidad English. In M. Gosine (ed.) *In The Legacy of Indian Indenture: 150 Years of East Indians in Trinidad*. New York, Windsor Press.
- Mahabir, N. and Ashram Maharaj. 1994. 'The Assimilation of a Minority Group: The East Indians of St. Lucia' in M.Gosine (ed.) *The East Indian Odyssey: Dilemmas of a Migrant People*. New York Winsor Press.
- Maharaj, A. B. 1991. *The Pandits of Trinidad: A Study of Cultural Persistence*. Couva, International Review Press.
- Mangru, Basdeo. 2000. *Indians in Guyana: A concise history from their Arrival the present*. Illinois, Adam Press.
- Mansingh, Laxmi and Ajay 1999. *Home Away from Home; 150 Years of Indian Presence in Jamaica, 1845 – 1995*. Kingston, IRP.
- Marhe, R.M. 1985. *Sarnami Vyakaran: Een elementaire grammatical Van het Sarnami*. Den Haag, Stichting voor Surinamers.
- Mohan, Peggy. 1978. *Trinidad Bhojpuri: A Morphological Study*, Ph.D. Dissertation, University of Michigan.
- Morton, Sarah E. 1916. *John Morton of Trinidad*. Toronto, Westminster Co.
- Motwani, J.A. and Mahine Gosine, J. Barot-Motwani. 1993. *Global Indian Diaspora: Yesterday, Today and Tomorrow*. New Delhi, GOPIO.
- Northrup, David 1995 *Indentured Labour in the Age of Imperialism, 1834 – 1922*. New York, Cambridge University Press.
- Parmanand, Bhai 2002. *The Story of My Life*. New Delhi, Ocean Books Pvt. Ltd.
- Persad, Pt. H. ? Paschim Kaashi The Port of Spain Hindu Mandir Daily Prayers and Bhajans. Trinidad.
- Persud, Yesu 1993. 'Indians in Guyana' in J.K.Motani, M.Gosine and J. Barot-Motwani,

- Global Indian Diaspora: Yesterday Today and Tomorrow, New Delhi. GOPIO.
- Pos, Hugo 1979. Schrijvers Prentenboek van Suriname. Amsterdam, Uitgeverij De Bezige Bij.
- Ramsaran, Dave 1993. Breakling the Bonds of Indentureship. St Augustine, T The University of West Indies.
- Rodney, Walter 1982. A History of the Gyanese People, 1881 – 1905. Baltimorew, The John Hopkins University Press.
- Rumohomn, P. 1983. Century History of the East Indians in British Guyana. George Town, Guyana Printing Press Ltd.
- Samaruoo, Brisley 1982. 'Missionary Methods and Local Responses: The Canadian Presbyterians and the East Indians In the Caribbean' in B. Bereton and W. Dookaran (eds.) The East Indians in the Caribbean. Millwood, K.I.P.
- Sarusky, J. 1989. The East Indian Community in Cuba' in F. Birbalsingh (ed.) Indenture and Exile: The Indo-Caribbean Experience. Toronto, TSAR.
- Schnepel, Ellen M. 1993. 'The Creole Movement and East Indians on the Island Of Guadeloupe, French West Indies'. In J.K.Motwani, M.Gosine and J. Barot-Motwani (eds.) Global Indian Diaspora: Yesterday, Today and Tomorrow. New Delhi, GOPIO.
- Seecharan, C 1999. Bechu 'Bound Coolie' Radical in British Guyana : 1894-1901. Jamaica, The University of West Indies.
- Shepherd, Verene A. 1989. 'Indian Women in Jamaica, 1845 – 1945. in Birbalsingh (ed.) Indenture and Exile: The Indo-Caribbean Experience. Toronto, TSAR.
- 1993. Transients to Settlers: The Experience of Indians In Jamaica 1845 – 1950. Leeds, University of Warwick.
- Sinaravelou 1975. LES INDIENS DE LA GUADELOUPE. Bordeaux, C.N.R.S. Tinker, Hugué —1974. A New System of Slavery: The Exprt of Indian Labour Overseas 1830 – 1920. London, Oxford University Press.
- Tolan, Wiston 1994. 'The East Indian Community in Jamaica'. In M. Gosine (ed.) The East Indian Odyssey: Dilemmas of a Migrant People. New York, Windsor Press.
- Vogel, J. Ph. 1930. 'Het Devanagati-schrift' in R.J.Karsten (ed.) The Britsche-Indiers in Suriname. 's-Gravenhage Martinijs: Nijhoff.



पार्या भाषा : ताजिकिस्तान-उज्बेकिस्तान में हिंदी की सगी बहिन

तत्याना ओरान्स्कया

प्राक्कथन :

पार्या जनजाति तथा उनकी भाषा के अस्तित्व के बारे में सबसे पहले 1950 के दशक के मध्य में पता चला था, जब इनकी भाषा की खोज इओसिफ ओरान्स्की (1923-1977) ने मध्य एशिया में स्थित ताजिकिस्तान की हिस्सार घाटी में तथा उज्बेकिस्तान में सुर्खानदर्या नदी की ऊपरी धारा के कुछ इलाकों में की थी। ओरान्स्की ने ही सबसे पहले यह जानकारी उपलब्ध करवाई थी। उनकी किताबें और लेख पार्या जनजाति तथा उनकी भाषा के बारे में जानकारी के मुख्य स्रोत हैं। उनमें दो किताबें (ओरान्स्की 1977; ओरान्स्की 1983) लेखक की असामयिक मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हुईं।

यह कहा जा सकता है कि ओरान्स्की की यह खोज अप्रत्याशित थी। उस समय वे स्तालिनाबाद (यह 1929 से 1961 तक दुशंबे का नाम था) विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे। वे ईरानी भाषाओं के विशेषज्ञ थे और उनकी विशेष रुचि पश्तो में थी। उनका उद्देश्य था ताजिकिस्तान में रह रहे अफगान लोगों की भाषा से अवगत होना। पूछ-पूछकर उनको पता चला कि अफगान लोग कहां रहते हैं और वे उस गांव में गए थे। लेकिन अफगान नाम के ये लोग आपस में पश्तो नहीं, कोई दूसरी भाषा पार्या-भाषा बोलते थे। ओरान्स्की इसकी सामग्री एकत्रित करने लगे। यह आसान काम नहीं था क्योंकि उस समय, यानि 1950 के दशक में, इन लोगों के मन में बाहरी लोगों के प्रति, विशेषकर, यूरोपियनों के प्रति बहुत अविश्वास था। ये लोग अपने जीवन के बारे में किसी को भी कुछ भी बताना नहीं चाहते थे और अपनी भाषा के बारे में कोई भी जानकारी नहीं देते थे। पार्या जनजाति के ऐसे विलगाव का कारण उनका कड़वा ऐतिहासिक अनुभव था।

पार्या लोग मध्य एशिया में अफगानिस्तान से आए हैं। वे खेत मजदूर थे और मजदूरी की तलाशी में मध्य एशिया में आया करते थे। पुरुष ही नहीं, सारे-के-सारे परिवार आते थे। खेती का काम खत्म होने पर वे अफगानिस्तान वापस चले जाते थे और अगले साल फिर आते थे। 1937 में अफगान-सोवियत सीमा को बंद कर दिया गया था। जो पार्या लोग उस समय सोवियत राज्य क्षेत्र में थे उनको चाहे-अनचाहे वहीं रहना पड़ा था। चूंकि पासपोर्टों में इन्हें 'अफगान' दर्ज किया

गया था, इसलिए 'अफगानी जासूस' समझ कर स्टालिन के जमाने में इनका दमन भी होता रहा था।

ओरान्स्की पार्या लोगों का विश्वास जीत सके। इतना ही नहीं, दो पार्या पुरुष परंपरागत रिवाज के अनुसार उनके भाई बन गए थे। जब मैं 1970 के दशक में अपने पिता जी के काम को जारी रखने के लिए, विशेषकर महिलाओं की शब्दावली एकत्रित करने के लिए, पार्या लोगों के बीच में काम कर रही थी तो अनेक घरों में मैं परिवार के सदस्य की तरह उनके साथ रहती थी। तब मैंने अपने पिता जी के प्रति उन लोगों के प्रेम और सम्मान का अनुभव किया था।

ओरान्स्की ने पार्या भाषा के बारे में अपने पहले ही लेख में, जो 1956 में प्रकाशित हुआ, इस भाषा को भारतीय-आर्य भाषाओं की केन्द्रीय उपशाखा के अंतर्गत रखा था। पार्या जनजाति, उनकी भाषा तथा भारत और मध्य एशिया की दूसरी समान जनजातियों के साथ उनके संबंधों पर किया गया उनका शोध-कार्य मरणोपरांत प्रकाशित उनकी कृतियों में उपलब्ध है।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने (1970) पार्या लोगों के लिए ताजुब्केकी नाम गढ़ा। पार्या भाषा को उन्होंने हिंदी की एक बोली माना। यह विचार विवादास्पद है।

सन 2003 और 2004 में अमेरिकी शोधकर्ताओं के एक दल ने हिस्सार घाटी में पार्या जनजाति का अध्ययन करने के लिए क्षेत्रीय अनुसंधान (फील्ड-वर्क) किया था (Abess et al. 2010)। उनके समाजभाषावैज्ञानिक अनुसंधान का उद्देश्य यह पता लगाना था कि पार्या भाषा संकटग्रस्त है या नहीं (नीचे देखिए)।

सामान्य परिचय :

पार्या भाषा भारोपीय भाषा परिवार की भारतीय-आर्य शाखा के अंतर्गत आती है। कुछ लक्षणों के आधार पर इस भाषा का संबंध भारतीय-आर्य भाषाओं की उत्तर-पश्चिमी शाखा की भाषाओं से माना जा सकता है। दूसरा अनुमान है कि पार्या केंद्रीय उपशाखा की एक भाषा है। कुछ चिह्न पश्चिमी राजस्थानी बोलियों के चिह्नों से मिले-जुले हैं।

पार्या भाषा बहुत छोटे से समूह में बोली जाती है और ये लोग अपने आप को पार्या कहते हैं। ये लोग अपने लिए कुछ अन्य नामों का भी प्रयोग करते हैं जो इन्हीं के अपने कुछ मुख्य उपवर्गों के नाम हैं, जैसे- कालू, जूनी, शाही-खेल, मगरा और जीतन। इनके लिए सम्मिलित रूप से शाही-खेल नाम का प्रयोग भी किया जाता है।

इसके अतिरिक्त पार्या लोग अपने आपको लगमानी भी कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति अफगानिस्तान के लगमान नाम के इलाके से हुई मानी जाती है जिसे पार्या लोग अपना मूल स्थान मानते हैं। पार्या लोगों द्वारा अपने लिए प्रयुक्त किए जाने वाले कुछ नाम पंजाब की जातियों और उपजातियों के कुछ नामों से भी मिलते-जुलते हैं। कुछ अलग-अलग जातियों के लोग पार्या लोगों को चंगर, कल्लुक, ल्यूम, चशगरक और मजंग के नामों से पुकारते हैं।

इनमें से अंतिम दो (चशगरक और मजंग) कुछ अन्य जातियों के लिए भी प्रयोग में आते हैं। परंतु इन में से एक भी नाम ऐसा नहीं है जिसका प्रयोग इन जातियों के लोग स्वयं अपने लिए करते हों, अर्थात् ये सारे नाम दूसरे लोगों द्वारा दिए गए हैं। कुछ लोग 'पार्या' शब्द का संबंध पराया शब्द से मानते हैं परंतु ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है। पार्या लोग ताजिक और उज्बेक लोगों के

बीच में रहते हैं, जो इन्हें और इनकी भाषा को भी अफगानी कहते हैं। कभी-कभी तो स्वयं पार्या लोग भी अपने आपको अफगानी ही कहते हैं। विभिन्न जनगणनाओं के दौरान भी इन लोगों को अफगानी ही दर्ज किया गया और इस तरह से अफगानिस्तान से आई विभिन्न जातियों और वास्तविक अफगानियों (पखतूनों) के साथ इन्हें मिलाने की भूल की गई। पार्या लोगों को 'काले अफगानी' भी कहा जाता है क्योंकि इनकी त्वचा का रंग स्थानीय लोगों की त्वचा के रंग से भिन्न है। इनका एक अन्य नाम 'नास बेचनेवाले अफगानी' भी है क्योंकि ये लोग नास बनाकर बेचने का धंधा भी करते हैं।

पार्या लोग मध्य एशिया में अफगानिस्तान से आए हैं जिसकी याद स्वयं उन्हें भी है और स्थानीय जनता को भी। किंतु कुछ आगत शब्दों को छोड़ दें तो इनकी भाषा की पश्तो भाषा से कोई समानता नहीं है। सूचकों द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार अफगानिस्तान में पार्या लोग लगभग नामक इलाके में रहते हैं। इसके अतिरिक्त काबुल, खानाबाद और तालिकान में भी पार्या लोग रहते आ रहे हैं।

1970 के दशक के उत्तरार्द्ध मेरे अंदाजे के अनुसार अधिक संख्या में पार्या लोग पहले ही वाले ग्रामीण इलाकों में रहे थे और यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अभी भी वे लोग वहीं रह रहे हैं। ये लोग सामान्यतः छोटे समूहों में रहते हैं- अपनी अलग बस्ती बनाकर। शहरों में रहने वाले पार्या लोगों की संख्या बहुत ही कम है। जीवन-शैली और धर्म के मामले में पार्या लोग ताजिकों और उज्बेकों से भिन्न नहीं हैं। ये लोग सुन्नी मुसलमान हैं। इनका मुख्य धंधा है खेतीबाड़ी और कपास का उत्पादन। 1970 के दशक के उत्तरार्ध में कुछ पार्या युवकों ने उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर ली थी।

1950 के दशक के मध्य में ओरान्स्की ने पार्या जनजाति के सदस्यों की संख्या अनुमानतः 1000 लोग मानी थी। लगभग पंद्रह साल बाद स्वयं पार्या लोगों ने अपनी जनसंख्या अनुमानतः 2000 मानी। 1980 के दशक में इनकी जनसंख्या-वृद्धि की दर बढ़ती जा रही थी और हर परिवार में बच्चों की संख्या तीन-चार-पांच थी जिसका मतलब यह लगाया जा सकता है कि 1990 के दशक के आरंभ में इनकी जनसंख्या 3000 से अधिक रही होगी। मुझे सिर्फ एक क्षेत्रीय अन्वेषण मालूम है जो सोवियत संघ के विघटन के बाद पार्या जनजाति पर किया गया है। इसके अनुसार ताजिकिस्तान में पार्या आबादी की संख्या 3000 से 4000 तक है। उज्बेकिस्तान और अफगानिस्तान में रहनेवाले पार्या लोगों के आंकड़े पूछताछ से ही प्राप्त किए गए थे और स्वयं शोषकों को इनका पूरा विश्वास नहीं है। (Abess 2010 : 29, footnote)

पार्या लोग पूरी तरह से द्विभाषी हैं। सभी पार्या जिनमें उज्बेकिस्तान में रहनेवाले पार्या भी शामिल हैं ताजिकी भाषा की विशेष बोली का प्रयोग करते हैं जिसे वे अफगानिस्तान से लेकर आए हैं। 1970 के दशक में ताजिकी और उज्बेकी भाषाओं के अतिरिक्त कुछ अर्धेड़, मुख्यतः पुरुष और युवा पीढ़ी के लोग कुछ-कुछ रूसी भाषा भी बोल लेते थे, उनमें कुछ लोगों की रूसी काफी अच्छी थी। पार्या के अंदर आजकल की रूसी की स्थिति के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

परिवार के अंदर पार्या भाषा का ही प्रयोग होता है। पार्या पुरुष से विवाह करनेवाली किसी अन्य जनजाति की महिला, पति के परिवार की भाषा को अपना लेती है। छोटे बच्चे घर में तो पार्या बोलते हैं किंतु स्कूल में ताजिकी या उज्बेकी में कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। पार्या भाषा को एक विषय के

रूप में कहीं भी पढ़ाया नहीं जाता है और शिक्षा का माध्यम होने का तो सवाल ही नहीं है। 1978 में जब मैं पिछली बार पार्या के अंदर रही, स्थिति यह थी कि स्कूली बच्चे और युवक-युवतियां घर में भी अपनी भाषा को छोड़ते जा रहे हैं और आपस में तथा माता-पिता के साथ भी अपने परिवेश की भाषा को ही अपनाने लगे थे। पार्या संकटग्रस्त भाषा बन चुकी है और पीढ़ियों का बदलाव होने के साथ ही लगभग तीस साल में- यह भाषा लुप्त हो सकती है। दो पीढ़ियों का बदलाव होने के बाद तो इस भाषा के कुछ शब्द ही बचे रह जाएंगे। पिछले समाज-भाषा वैज्ञानिक अनुसंधान के परिणाम ने यह दिखा दिया कि परिवार के अंदर पार्या भाषा की स्थिति स्थिर है। (Abess et al. 2010)।

पार्या जनजाति के अधिसंख्य युवक-युवतियां स्थानीय लोगों के साथ घुलते-मिलते जा रहे हैं। वास्तव में इसके कई कारण हैं जिनमें से प्रमुख कारण यह है कि स्थानीय लोगों की नजरों में पार्या जनजाति को पारंपरिक रूप से समाज में नीचा माना गया है। इसके बावजूद पार्या पुरुषों के साथ सम्मिश्रित विवाह कम-से-कम पिछली तीन पीढ़ियों से तो निश्चय ही चले आ रहे हैं। संभव है कि उससे पहले से भी ऐसे विवाह हुए हों। पार्या लड़कियों की अन्य जातियों के लड़कों के साथ शादियां 1960 के दशक से शुरू हुई थीं। किंतु ऐसा कभी-कभी ही होता था। पार्या भाषा की कोई लिपि नहीं है। चालीस साल से भी पहले इ.म.ओरान्सकी ने पार्या भाषा की कुछ सामग्री रोमन लिपि में प्रकाशित की थी जो इस भाषा का एकमात्र उपलब्ध लिखित स्रोत है। कुछ पाठ और शब्द इन पंक्तियों की लेखिका ने भी 1970 के दशक में उतारे थे।

पार्या जनजाति की लोककथाओं में कुछ ऐसे विषय आते हैं जिनसे रूसी पाठक 'भेड़िया और सात बकरियां', 'इवाश्को और चुड़ैल', 'सुल्तान राजा की दंतकथा' (अ.स.पूश्किन), 'कुबड़ा घोड़ा' (प. प. येशोव) जैसी कहानियों के द्वारा परिचित है। परंतु ऐसा संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि ये कहानियां अपने आप में मौलिक हैं। पार्या भाषा में अफगानी लोककथाओं के साथ-साथ ख्वाजा नसरूद्दीन के सुप्रसिद्ध किस्से भी मिलते हैं। पार्या लोकगीत लिखित रूप में उपलब्ध नहीं हैं। सभी लोकगीत और उनमें जोड़ी गई कुछ अतिरिक्त पंक्तियां केवल पश्तो भाषा में हैं।

निस्संदेह, पार्या जनजाति का संबंध दक्षिणी एशिया से है, मुख्यतः पंजाब से, जिसे भारतीय-आर्य भाषाओं की मुख्य धारा से अलग हुए बहुत अधिक समय नहीं हुआ है- यह अधिक-से-अधिक तीन सौ साल पहले की घटना है। इनकी लोक-स्मृति में विद्यमान भारत-संबंधी बातें बहुत ही कम और बिल्कुल धुंधली हैं। इनमें प्रचलित एक किंवदंती के अनुसार पार्या लोगों के पूर्वज शेख शम्सी तबरीजी के अनुयायी थे जिनका कार्य-क्षेत्र मुलतान शहर के आसपास था जो वर्तमान पाकिस्तान में स्थित है। इनके लोक साहित्य में कहीं-कहीं भारत और भारतवासियों का जिक्र आ जाता है।

पार्या भाषा के लिखित पाठों में बहुत-से ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणिक भेद स्वाभाविक रूप से आ गए हैं जो या तो सूचकों की व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण या उन्हें उतारे जाने की परिस्थितियों के कारण हुआ है। यदि कुल उपलब्ध सामग्री और अधिक होती तो इनकी उपबोलियों के विभेद भी सामने आ सकते थे। स्वयं पार्या लोग अपने बीच पाई जाने वाली कुछ भाषिक विशेषताओं के अंतर को समझते हैं, विशेषकर बिसियां और मुसल्ली लोगों की भाषिक विशेषताओं को क्योंकि ये लोग पार्या होते हुए भी शाही-हेल वर्ग में नहीं आते हैं। इसी तरह शूया उपवर्ग की बोली भी कुछ अलग

है जिसके प्रतिनिधि अब मध्य एशिया में, संभवतः नहीं बचे हैं।

पार्या भाषा की ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणिक विशेषताओं का प्रस्तुत वर्णन मुख्यतः इ.म. ओरान्स्की द्वारा संकलित तथा व्यवस्थित की गई सामग्री पर आधारित है। यह सामग्री मैग्नेटिक टेपों में भी सुरक्षित है।

पार्या बोलचाल की भाषा के रूप में ही प्रयुक्त होती है। इसका मानक रूप नहीं है, बल्कि इसमें सांस्कृतिक गतिविधि का अभाव है। शायद इसीलिए इस भाषा की व्याकरणिक कोटियों में अस्पष्टता है और कोटिपरक लक्षणों की अभिव्यक्ति में भी अस्थिरता दिखाई देती है।

पार्या भाषा के ध्वनिविधान तथा व्याकरण का यहां दिया जा रहा वर्णन कुछ कारणवश आरंभिक किस्म का ही है जिसमें जगह-जगह इस भाषा की तुलना अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं के साथ की गई है। स्वाभाविक है कि प्रस्तुत लेख यह दिखाता है कि पार्या भाषा का अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है और इस भाषा की सामग्री भी अभी पर्याप्त मात्रा में संकलित नहीं हो पाई है।

पार्या भाषा का परिचय :

1. ध्वनिविधान : पार्या भाषा का ध्वन्यात्मक लिप्यंकन रोमन लिपि में किया गया। तालिका-1 में स्वर दिए गए हैं तथा तालिका-2 में व्यंजन। जो ध्वनियां पाठों में तीन से कम बार आई हैं उन्हें तालिकाओं में न देकर अलग से दिया गया है। लिप्यंकन के लिए हमने ओरान्स्की (1977) की पद्धति का अनुसरण किया है। बलाघात को दिखाने के लिए प्रकाशित पाठों का ही अनुसरण किया गया है। ध्यान रहे कि व दीर्घ ओ नहीं है, यह ओष्ठ्य, पश्च स्वर है जो ताजिकी स्वर y (ù) और उज्बेकी स्वर y से मिलता है (ओरान्स्की 1977, पृ. 246)। एपोस्ट्रॉफी (') का चिह्न स्वरों के बाद उच्चारण में आने वाले अंतराल को इंगित करता है और व्यंजनों के बाद - तालाव्यीकरण। इस पर जोर देना चाहिए कि यहां ध्वनियों का ही वर्णन दिया जा रहा है। उनकी ध्वनिमिक स्थिति पर और अधिक शोध की जरूरत है।

तालिका-1

	स्वर		
	अग्र	मध्य	पश्च
	अवृत्ताकार		वृत्ताकार
उच्च	î iî		u û
मध्य		e e ê ê	
निम्न			a ã â ã

इनके अतिरिक्त कुछ रिकार्डिंगों में कुछ अन्य स्वर भी सुनाई पड़ते हैं- 1) निरनुनासिक Dr,

iz, ü, ù, तथा 2) अनुनासिक ã, â, ã, "u । अनुनासिक स्वर सबसे अधिक सर्वनामों में, क्रिया-रूपों में और कभी-कभी संज्ञाओं और विशेषणों के प्रत्ययों में मिलते हैं। अन्य स्थितियों में अनुनासिक स्वर, अधिकांशतः, या तो नासिक्य व्यंजन के साथ आते हैं (janêko 'जाने को'), या 'स्वर+नासिक्य व्यंजन' के संयोग में आने पर अनुनासिक और निरनुनासिक स्वरों में परस्पर प्रतिस्थापन होता है (ank// ãnk// ãk 'आंख') ।

संयुक्त स्वर (aá, aø, iá, oá, oø, uá) की तरह उच्चरित होने वाली ध्वनियां निम्न स्थितियों में पाई जाती हैं- शब्द (पद) के आरंभ में दो रूपियों का मेल होने पर यदि प्रातिपदिक के अंत में कोई स्वर हो और विभक्ति स्वरांत हो या ऐसे प्रातिपदिक के बाद योजक क्रिया i हो kha-u > khaø 'खाओ'; anèu-i > ancuá 'ऊँचा (है)' । स्पष्टतः, संयुक्त स्वर जैसी अधिसंख्य ध्वनियां दो स्वनिमों से बनी हैं। उनके बाद केवल नासिक्य व्यंजन ही आ सकता है। अनुनासिक संयुक्त स्वरों में अनुनासिकता का केंद्र स्वर भी हो सकता है और श्रुति भी taruî//tarûi 'मेरे पास है' । भारतीय आर्य भाषाओं में एक स्वनिम वाले संयुक्त स्वर आम तौर पर शब्द के अंत में मिलते हैं-balaø 'मूसली', taraá 'पकड़ रखा है' । एक स्वनिम वाला संयुक्त स्वर aá अरबी मूल के शब्दों के मध्य में और आरंभ में मिलता है- haáran 'हैरान', aának 'ऐनक' । ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्त स्वर aá सरल स्वर में बदलता जा रहा है- berag < baárag 'पताका' ।

स्वरों का ध्वनि-प्रतिस्थापन विविधता लिए हुए है। स्वर ô को छोड़ कर सभी स्वरों के स्थान पर a स्वर आ सकता है। u, ô, î स्वरों के स्थान पर e स्वर नहीं आ सकता है।

तालिका-2

				व्यंजन								
				ओष्ठ्य		जिह्वाग्र		तालव्य	कंठ्य	जिह्वामूलीय	ग्रसन्य	
				द्वयोष्ठ	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	मूर्धन्य					
अवरोधी	रवयुक्त	स्पर्श	अघोष	p ph		t th	t th		k kh	q		
			सघोष	b			d	d	g			
		स्पर्श-संघर्षी	अघोष					cch				
			सघोष					j				
	अन्तःस्थ			m		n n	n		n			
अनवरोधी	रवयुक्त	एककेंद्रीय	अघोष		f	s				x	h	
			सघोष		v	z				y		
		द्विकेंद्रीय	अघोष			ss						
			पार्श्विक	सघोष			l					
	अंतःस्थ और श्रुतियुक्त			w u					y i i			
	लुप्टित और उल्क्षित					r	r					

केवल अघोष, स्पर्श, अल्पप्राण व्यंजनों के महाप्राण युग्म होते हैं। सघोष महाप्राण व्यंजन पार्या भाषा में नहीं हैं।

स्वरों की तरह व्यंजनों का ध्वनि-प्रतिस्थापन भी बहुत अधिक विविधता लिए हुए है। कभी-कभी तो यह ध्वनि-प्रतिस्थापन शब्द में अमुक ध्वनि के परिवेश पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, ðh/ð' व्यंजनों का प्रतिस्थापन केवल शब्द के आरंभ में ही मिलता है- ðho/ð'o 'था' ।

मूर्धन्य व्यंजनों का ध्वनि-प्रतिस्थापन काफी अधिक मिलता है जो परिवेश पर भी निर्भर नहीं करता है- è° -// è° od.- 'छोड़ना'। यही बात दंत्य-मूर्धन्य और महाप्राण-अल्पप्राण व्यंजनों के युग्मों के बारे में भी कही जा सकती है, यदि अन्य बातों में उनमें समानता हो jiti // jiti 'जूता', khot // kota 'गधा'।

बलाघात- पार्या भाषा में बलाघात, मुख्यतः, गत्यात्मक अर्थात् परिवर्तनशील है। ऐसा प्रतीत होता है कि बलाघात के साथ-साथ ध्वनि की प्रबलता तथा सुर भी अर्थभेदक हो सकते हैं।

पार्या भाषा के अक्षर स्वरांत भी हो सकते हैं और व्यंजनान्त भी। क्रिया-रूपों के अंत में कभी-कभी दो स्वर एक साथ आ सकते हैं- dineo 'दिया'। शब्द के आरंभ में दो स्पर्श व्यंजन एक साथ नहीं आ सकते हैं।

2. रूपविधान : पार्या भाषा का स्वरूप विश्लिष्ट-संश्लिष्ट है। विभक्तियों का प्रयोग विकारी संज्ञाओं के साथ, विकारी विशेषणों के साथ और क्रियाओं के पुरुषवाचक रूपों में होता है। शब्द के रूप में एक या एक से अधिक रूपांश (morph) हो सकते हैं। शब्द का मूल रूप (धातु-रूपिम), सामान्यतः, प्रातिपदिक से भिन्न नहीं होता है और वह अपने आप में पूरा पद (शब्दरूप) भी हो सकता है- jatak 'बच्चा'। प्रत्यय-रूपिम तीन प्रकार के हैं- पूर्वप्रत्यय (=उपसर्ग), परप्रत्यय (=प्रत्यय) और विभक्ति। अधिकांश शब्दों में रूपिमों की संख्या तीन से अधिक नहीं होती है। पूर्वप्रत्ययों का प्रयोग केवल फारसी-ताजिकी शब्दों में होता है- ba-quwwat 'बलिष्ठ', be-malal 'निश्चिंत'। रूसी से गृहीत शब्दों का रूपिमीय विभाजन नहीं किया जा सकता है। नाम-पदों (संज्ञाओं और विशेषणों) में लगने वाले प्रत्यय-रूपिमों का रूपांश तो एक ही होता है किंतु ध्वनि-प्रतिस्थापन के कारण उसके अलग-अलग उपरूप होते हैं- tag-o / tag-u 'धागा'। क्रियाओं के परप्रत्ययों और विभक्तियों की संख्या बहुत अधिक है।

नाम-पदों में लगने वाले विभक्ति-रूपिम लिंग, वचन और कारक की व्याकरणिक कोटियों को अभिव्यक्त करते हैं तथा क्रियाओं में लगने वाले विभक्ति-रूपिम वचन, पुरुष और काल की व्याकरणिक कोटियों को अभिव्यक्त करते हैं।

यह ध्यान में रहे कि विभक्ति-रूपिमों का यह व्यतिरेक हमेशा ही अभिव्यक्त नहीं होता। यहां पर केवल आदर्श रूपावलियां ही दी जा रही हैं।

पार्या भाषा में अव्युत्पन्न शब्दों की संख्या काफी अधिक है। औसतन 100 अव्युत्पन्न शब्दों के मुकाबले केवल 30-35 संयुक्त शब्द मिलेंगे। यदि संयुक्त शब्दों को छोड़ दें तो सामान्यतः शब्द-रूपों (पदों) में रूपिमों की संख्या एक या दो ही होती है, कभी-कभी तीन रूपिम वाले शब्द भी मिल जाते हैं। और भी अधिक लंबे शब्द जिनमें पांच रूपिम तक हो सकते हैं केवल ऐसी क्रियाओं से निर्मित हो सकते हैं जिनमें- alo / -ala परप्रत्यय लगा होता है- $(\text{an})\text{pak-a-}^{\circ}\text{-al-o}$ '(भोजन) बनानेवाला'।

पार्या भाषा में पद की सीमा के संबंध में ऐसे रूपिमों को लेकर संदेह उत्पन्न हो सकता है जो पद के साथ जुड़े होते हैं। ऐसे रूपिमों में परसर्ग, लघुरूपी (पश्चाश्रयी = enclitic) सर्वनाम और योजक क्रिया i आती है। इन्हें पूर्ववर्ती शब्द का अंग भी माना जा सकता है या फिर स्वतंत्र सहायक शब्द भी। इस लेख में इन्हें स्वतंत्र शब्द माना गया है। किंतु इन शब्दों और इनके पूर्ववर्ती शब्द के

बीच में हमने योजक चिह्न (-) का प्रयोग किया है क्योंकि ध्वनि, व्याकरण और अर्थ की दृष्टि से उनमें एक संपूर्णता होती है- jatkun-ke mo-y-a 'बच्चों के मुँह में'।

शब्द-भेद : पार्या भाषा के शब्द-भेद इस प्रकार हैं- संज्ञा, विशेषण, संख्यावाचक, सर्वनाम, क्रिया, क्रियाविशेषण, सहायक शब्द।

संज्ञा : संज्ञा की व्याकरणिक कोटियां हैं- लिंग (पुल्लिंग और स्त्रीलिंग), वचन (एकवचन और बहुवचन) तथा कारक (अविकारी (=ऋजु) और विकारी (=तिर्यक) कारक)। लिंग और वचन विशुद्ध रूपात्मक कोटियां हैं जबकि कारक की अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है। रूपात्मक स्तर पर तो कारक की अभिव्यक्ति संज्ञा के (प्रातिपदिक के) तिर्यक रूप के द्वारा होती है और वाक्य के स्तर पर कारक की अभिव्यक्ति के लिए संज्ञा के (प्रातिपदिक के) साथ किसी परसर्ग का भी प्रयोग होता है जो अमुक कारकीय अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

व्याकरणिक लिंग मुख्यतः जैविक लिंग को अभिव्यक्त करता है (kô°o 'घोड़ा'- ko°i 'घोड़ी'; beta 'बेटा'- bitiya 'बेटी')। इसके अतिरिक्त पदार्थ के आकार के अनुसार भी लिंग-भेद किया जाता है (kato 'सिंचाई की बड़ी नहर'- kati 'छोटी नाली')। रूपात्मक दृष्टि से लिंग-भेद पुल्लिंग (-o/-ô) और स्त्रीलिंग (-i/-iya) की विभक्तियों के द्वारा किया जाता है। किंतु ka, o और i स्वर दोनों ही लिंगों की संज्ञाओं के अंत में आ सकते हैं- aiza//aizo 'महिला', anmi 'पुरुष'। व्यंजनांत संज्ञाओं, न या संयुक्त स्वर में अंत होने वाली संज्ञाओं में लिंग की रूपात्मक अभिव्यक्ति नहीं होती है।

वचन और कारक की अभिव्यक्ति दोनों वचनों (एकवचन और बहुवचन) और दोनों कारकों (ऋजु (अविकारी) और तिर्यक (विकारी) कारक) में होती है। ये चारों रूप केवल -o/-ô विभक्ति वाली पुल्लिंग संज्ञाओं की रूपावली में मिलते हैं- ऋजु (अविकारी) कारक एकवचन की विभक्ति है- o, तिर्यक (विकारी) कारक एकवचन तथा ऋजु (अविकारी) कारक बहुवचन की विभक्ति है- e और तिर्यक (विकारी) कारक बहुवचन की विभक्ति है- un/û। अन्य प्रकार की संज्ञाओं के तिर्यक (विकारी) कारक बहुवचन में भी यही विभक्ति अर्थात् -un/û लगती है। वचन और कारक के तीन अन्य रूपों के लिए किसी विभक्ति का अलग से प्रयोग नहीं होता है।

पुं. संज्ञा kuto (-o विभ.) 'कुत्ता' की रूपरचना और स्त्री. संज्ञा ran (व्यंजनांत) 'महिला' की रूपरचना-

एकवचन- अविकारी का. kut-o ran; विकारी का. kut-e (ta) ran (ta)

बहुवचन- अविकारी का. kut-e ran; विकारी का. kut-û (ta) ran-un (ta)

टिप्पणी- कोष्ठक में परसर्ग दिए गए हैं क्योंकि तिर्यक कारक का प्रयोग परसर्ग के बिना नहीं होता है।

चेतन संज्ञाओं के साथ बहुवचन में प्रातिपदिक के बाद-क्रमस प्रत्यय/विभक्ति का प्रयोग होता है- bitya 'बेटी'- bityaxel 'बेटियां'।

पार्या भाषा में कुल 15 सरल और संयुक्त परसर्ग हैं। ये परसर्ग तिर्यक कारक के रूपों के साथ लगते हैं। किंतु यह भी उल्लेखनीय है कि प्रायः अविकारी और विकारी कारकों के रूपों का अंतर अस्पष्ट रहता है। अधिकांशतः, परसर्ग प्रातिपदिक के तुरंत बाद लगते हैं। कुछ परसर्ग ऐसे भी हैं

जिन्हें पूर्ववर्ती संज्ञा के साथ जोड़ने के लिए परसर्ग ke का भी प्रयोग किया जाता है जो परसर्ग ko का परिवर्तित रूप है- unt-uf?ra 'ऊँट पर', unt-ke-uf?ra 'ऊँट पर'। परसर्ग ko का मुख्य अर्थ विशेषताबोधक है और यह एकमात्र विकारी परसर्ग है- ko/kâ पुं., ऋजु का.; ke तिर्यक का., एक, ऋजु और तिर्यक का. बहु.; ke स्त्री. के सभी रूप। इस परसर्ग का संयोग होने पर पूर्ववर्ती संज्ञापद विशेषक में बदल जाता है और उसकी अंविधि परवर्ती संज्ञा के लिंग और वचन के साथ होती है, जैसा कि अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में भी होता है। इस प्रकार की अंविधि के उदाहरण हैं- paêa-ki (स्त्री.) ran (स्त्री.) 'बादशाह की बेगम'; is ran-ko (पुं.) murs (पुं.) 'इस औरत का खसम'। इन उदाहरणों में परसर्ग का रूप परवर्ती संज्ञा के लिंग के अनुसार बदल रहा है। ऐसा ही कारक के रूप के साथ भी होता है। परंतु लिंग के व्याकरणिक लक्षणों में पूरी तरह स्पष्टता नहीं होने के कारण कभी-कभी परसर्ग के रूप का चयन वक्ता की मर्जी पर भी निर्भर करता है- tu kis-ki betá-á\ 'तू किसका बेटा है?'

विशेषण- पार्या भाषा में विशेषण दो प्रकार के हैं- विकारी और अविकारी। अविकारी विशेषण और विशेषणों के प्रातिपदिक एक समान ही होते हैं। ऐसे विशेषण किसी भी व्याकरणिक कोटि को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। विकारी विशेषणों के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूपों में अंतर होता है। संज्ञाओं की तरह विकारी विशेषणों का यह अंतर -o/-ô और -i विभक्तियों के द्वारा अभिव्यक्त होता है। विशेषक की तरह प्रयुक्त होने पर विकारी विशेषणों का लिंग विशेष्य के लिंग के अनुसार बदलता है- kal-o (पुं.) dev (पुं.) 'काला देव'; kal-i (स्त्री.) gâ (स्त्री.) 'काली गाय'। वचन और कारक की अन्विधि केवल पुल्लिंग में होती है। इस अन्विधि में ऋजु कारक, एकवचन, पुल्लिंग की विभक्ति -o/-ô का व्यतिरेक तिर्यक कारक एकवचन तथा ऋजु और तिर्यक कारक बहुवचन की विभक्ति -e से होता है- mot-o malim (ऋजु का., एक.) 'मोटा अध्यापक'- mot-e patar-ta (तिर्यक का, एक.) 'बड़ा पत्थर; bo^{oo}-o kar (ऋजु का., एक.) 'बड़ा मकान'- panj bo^o-e kute (ऋजु का., बहु.) 'पांच बड़े कुत्ते'; tr-e nazr-un (तिर्यक का., बहु.)- tal-á nazr-un 'तेरी आंखों के सामने'। अंतिम उदाहरण में विशेषक के रूप में स्वामित्वबोधक सर्वनाम का प्रयोग हुआ है। स्वामित्वबोधक सर्वनाम muro 'मेरा', turo 'तेरा', máro 'हमारा', táro 'आपका' रूप की दृष्टि से विशेषणों जैसे ही हैं और वाक्य में भी इनकी भूमिका विशेषणों जैसी ही होती है।

यदि विशेषण विधेय का नामिक अंश होता है तो उसका प्रयोग पुल्लिंग एकवचन में होता जिसे लिंग-निरपेक्ष रूप भी माना जाता है और उसकी संज्ञा के साथ अन्विधि नहीं होती है- ti (स्त्री.) m?r-o (पुं.) nuk-o (पुं.) -á 'मेरी बेटा छोटी है।'

विशेषणों की (तुलनात्मक) अवस्थाओं में से केवल उत्तरावस्था के ही उदाहरण उपलब्ध सामग्री में मिलते हैं और यह अर्थ भी सिर्फ संदर्भ से ही अभिव्यक्त होता है। सभी उपलब्ध उदाहरणों में विशेषण विधेय के नामिक अंश की भूमिका में आया है और पूरा वाक्य ही अपने आप में तुलनात्मक रचना है। तुलनीय पदार्थ ऋजु कारक में है और वह वाक्य का उद्देश्य है; जिस पदार्थ से तुलना की गई है उसके साथ विलगावबोधक परसर्ग का प्रयोग हुआ है- ya kitab-^o(r) ने kitab-parta bo^o(r)o-á 'यह किताब उस किताब से बड़ी है'। अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं की वाक्य-रचनाओं को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि पार्या भाषा की उत्तमावस्था का उत्तरावस्था से अंतर

यह है कि किसी पदार्थ की तुलना एक अथवा अनेक पदार्थों के साथ नहीं बल्कि अमुक श्रेणी के सभी पदार्थों के साथ की जाती है- *ya kitabû-parta bo°(r)o-i 'यह किताब सारी किताबों से बड़ी है'। इस अर्थ को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है- 'bo°e-parta bo°o kitab 'बड़ी से बड़ी किताब'।

संख्यावाचक : रचना की दृष्टि से संख्यावाचकों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। 1 से 19 तक के संख्यावाचक शब्द हैं- yek 'एक', do 'दो', tin 'तीन', èar 'चार', panj 'पांच', èhe 'छह', sat 'सात', at 'आठ', nu 'नौ', das 'दस', yârân 'ग्यारह', bârân 'बारह', terân 'तेरह', èaødân 'चौदह', pan(d)rân 'पंद्रह', saølan 'सोलह', s?taran 'सत्रह', ataran 'अठारह', uni 'उन्नीस'। इन्हें मूल या सरल संख्यावाचक माना जाता है यद्यपि दूसरी दहाई के संख्यावाचक वास्तव में संयुक्त संख्यावाचक हैं जिनमें 'दस' का अर्थ भी मूल रूप से समाहित है किंतु इसे अब विशेष परप्रत्यय ân/-rân/-dân/-lan माना जाता है।

बीस से पचास और सौ तथा हजार तक के संख्यावाचक भी सरल ही माने जाते हैं- bis 'बीस', tri 'तीस', èal(1)i 'चालीस', pinjah 'पचास', so 'सौ', hazâr 'हजार'। साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे के वाचक संख्यावाचक शब्द और इसी तरह के अन्य संख्यावाचक शब्द बीस के गुणकों से बने हैं- tin-bisi 'साठ', sa°e tin-bisi 'सत्तर' आदि-आदि।

संयुक्त संख्यावाचक शब्दों की रचना दहाई में पश्चाश्रयी (लघुरूपी) समुच्चयबोधक ti//te और उसके बाद इकाई की संख्या लगा कर की जाती है (bis-ti-at 'अट्ठाईस') जो कि अन्य भारतीय आर्य भाषाओं से भिन्न है। इससे अधिक के संख्यावाचक भी इसी तरह बनाए जाते हैं।

क्रमवाची संख्यावाचकों की रचना ताजिकी परप्रत्यय um लगा कर की जाती है- tin-um 'तीसरा'।

समूहवाची संख्यावाचक हैं- dû-á 'दोनों', tin-i 'तीनों'।

सर्वनाम. पुरुषवाचक सर्वनाम इस प्रकार हैं- me 'मैं', tu 'तू', ya, u (ô) 'वह', ham 'हम', tam 'तुम', ye, u (ô) 'वे' (देखें तालिका-3)।

तालिका-3

पुरुषवाचक सर्वनामों की रूपरचना

पुरुष	कारक	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु.	अविकारी	me	ham
	विकारी	ma, mere	ma, mare
	साधक	minja	ham-na
मध्यम पु.	अविकारी	tu	tam
	विकारी	ta, tere	tare (?)
	साधक	tinja	tam-na
अन्य पु.	अविकारी	ya, u (ô)	ye, u (ô)
	विकारी	is, us	in, un, unun
	साधक	is-na, us-na	un-na, unun-na

इनमें से ma (एक. और बहु.) और ta रूपों का प्रयोग केवल परसर्ग ta से पहले होता है। m?re, mare, t?re, tare वास्तव में, स्वामित्वबोधक सर्वनामों के ही ध्वन्यात्मक भेद हैं जिनका प्रयोग ta और na को छोड़ कर सभी परसर्गों से पहले होता है। किंतु tare के इस प्रकार के प्रयोग के पार्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। मध्यम पुरुष एकवचन और बहुवचन का अंतर अस्पष्ट है। लं और u (ô) संकेतवाचक सर्वनाम हैं- ya निकटवर्ती और u (ô) दूरवर्ती है।

उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में स्वामित्व की अभिव्यक्ति के लिए इन सर्वनामों का प्रयोग होता है- muro 'मेरा'- miri 'मेरी', turo 'तेरा'- tiri 'तेरी' (केवल विशेष्य के बाद में), maro हमारा, हमारी, taro तुम्हारा, तुम्हारी। निजवाची स्वामित्वबोधक सर्वनाम है ap?ro 'अपना'। यदि स्वामित्वबोधक सर्वनाम विशेष्य के बाद आता है तो उसमें बलाघात नहीं लगता है और उसका उच्चारण दुर्बल हो जाता है- turo kurto 'तेरा कुर्ता'- tab-t?r-na 'तेरा पिता'। अन्य पुरुष में स्वामित्व की अभिव्यक्ति सर्वनाम के तिर्यक कारक-रूप और विकारी परसर्ग ko के द्वारा की जाती है- us-ko-kar 'उसका घर', un-ke-kalxoz-ma 'उनके कलखोज में'। अन्य पुरुष में पश्चाश्रयी (लघुरूपी) स्वामित्वबोधक :i-so//-se//-si भी मिलते हैं- bet?a-so 'उसका बेटा'। पूर्ण और लघुरूपी सर्वनामों का प्रयोग विशेष्य संज्ञा की, क्रमशः, निश्चितता और अनिश्चितता पर निर्भर करता है।

प्रश्नवाचक सर्वनाम हैं- kon 'कौन', ka 'क्या' (तिर्यक कारक kis)। संबंधवाचक सर्वनाम है- j?u 'जो' (तिर्यक कारक j?is)।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम है- kuá कोई।

क्रिया : पार्या भाषा की क्रिया-प्रणाली काफी विकसित है जिसमें काल, पक्ष, वृत्ति, क्रिया-व्यापार के स्वरूप, संप्रेषण के प्रकार, पुरुष और वचन की अभिव्यक्ति अलग-अलग प्रकार से की जा सकती है। पार्या क्रिया की ये व्याकरणिक कोटियां उसके पुरुषवाचक रूपों में देखी जा सकती हैं। क्रियाओं के रूप संश्लिष्ट (सरल) भी होते हैं और विश्लिष्ट (संयुक्त) भी। क्रिया-व्यापार का स्वरूप केवल विश्लिष्ट (संयुक्त) रूपों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। पक्ष की व्याकरणिक कोटि को या तो काल के रूपों के अंदर ही अभिव्यक्त कर दिया जाता है या फिर संयुक्त क्रिया-रूपों द्वारा। क्रियाओं की एक अन्य विशेषता है- प्रेणार्थकता जिसकी अभिव्यक्ति प्रातिपदिक के द्वारा होती है। क्रियाओं की एक और विशेषता है भी- सकर्मकता और अकर्मकता। प्रेरणार्थक क्रियाएं सकर्मक ही होती हैं। कुछ सकर्मक क्रियाएं प्रेरणार्थकता की अभिव्यक्ति के लिए शब्दपरक साधन का प्रयोग करती हैं, न कि व्याकरणिक साधन का। सकर्मक क्रियाओं के कुछ कालगत रूपों के अनुसार या तो कर्तृ वाक्य-रचना का या साधक (ergative-'ने' परसर्गयुक्त) वाक्य-रचना का प्रयोग होता है। प्रेरणार्थक प्रातिपदिक बनाने के लिए सामान्यतः परप्रत्यय -a- का प्रयोग किया जाता है जिसे क्रिया की धातु के बाद जोड़ा जाता है- pak 'पकना' -pak-a- 'पकाना'।

क्रियाओं की रूपरचना विभिन्न परप्रत्ययों अथवा विभक्तियों के द्वारा की जाती है जिन्हें क्रिया के प्रातिपदिक के बाद लगाया जाता है। व्यंजनांत प्रातिपदिकों में कोई परिवर्तन नहीं होता है; स्वरान्त प्रातिपदिकों में सामान्यतः ध्वन्यात्मक परिवर्तन (ध्वनि-प्रतिस्थापन) होते हैं।

क्रियाओं के पुरुषवाचक रूपों (निश्चयार्थ) से इतर अन्य रूप हैं- क्रिया का मूल (साधारण) रूप या असमापिका क्रिया, पूर्ण और अपूर्ण कृदंत।

भावार्थक संज्ञा की रचना प्रातिपदिक में -n/ò पर प्रत्यय तथा -o/ò विभक्ति लगा कर की जाती है- mar-n-ò 'मारना, पीटना'। असमापिका क्रिया के साथ आने वाले पदों की उसके साथ अन्वय क्रिया की ही तरह होती है। इस असमापिका क्रिया का प्रयोग जटिल क्रिया-पदबंधों में भी होता है। असमापिका क्रिया के साथ परसर्गों और स्वामित्वबोधक सर्वनामों का प्रयोग भी हो सकता है। असमापिका क्रिया में क्रिया तथा संज्ञा दोनों के लक्षण होते हैं। संज्ञा के रूप में असमापिका क्रिया में तिर्यक कारक की -e विभक्ति लगती है- fundamen kar-n-e-xet?'ra 'नींव डालने के लिए।'

परसर्ग -ko के साथ मिल कर असमापिका क्रिया आशयबोधक कृदंत का अर्थ अभिव्यक्त करती है- janê-ko 'जाने को'। यही अर्थ क्रिया के प्रातिपदिक में पर प्रत्यय -ò(°)-al- और लिंगबोधक विभक्ति लगा कर क्रिया से बने कृदंत के द्वारा भी अभिव्यक्त होता है- ja-°-âl-î(èhî) 'जाने वाली (थी)।' इस तरह की रचना, सामान्यतः, या तो कार्य-निष्वादाक का या किसी पदार्थ के उपयोग का अर्थ अभिव्यक्त करती है- ro-ò-al-ò 'रोंदू' (ro- 'रो-' क्रिया से)।

क्रियाओं के निम्नलिखित रूप या तो समापिका क्रियाओं की तरह स्वतंत्र रूप में या विश्लिष्ट रूपों के साथ प्रयोग में आते हैं- -o/-yo (ut?-o, ut?- 'उठ(ना)', a-yo, < a- 'आ(ना)'; -i (pak-i < 'पक(ना)'); -e (kar-e < kar- 'कर(ना)'; -a (par-a < par- 'पढ़(ना)'; -to (kar-to < kar- 'कर(ना)। विशेषक का प्रकार्य केवल -e वाला रूप करता है और इसलिए इसे, निश्चय ही, कृदंत माना जा सकता है। अन्य रूप उनके प्ररूपात्मक लक्षणों के आधार पर कृदंत माने जा सकते हैं--o/-yo, -i, -e से बने कृदंत पूर्णपक्षीय कृदन्त हैं तथा -a, -to से बने कृदंत अपूर्णपक्षीय कृदंत हैं। -to से बना रूप रूसी के अपूर्णपक्षीय क्रियाविशेषण कृदंत के समान है। यह संभव है कि -o, -i, -e से बने रूप मात्र रूपात्मक भेद ही हों जिनमें लिंग और वचन का अंतर हो जो इस कारण से अस्पष्ट रह गया हो क्योंकि अंविधि में ही स्पष्टता नहीं है- -o (एक., पुं.), -i (स्त्री.), -e (बहु., पुं.)।

पूर्वकालिक क्रियारूप बनाने के लिए प्रातिपदिक में परप्रत्यय-ke/-ki/ket? जोड़े जाते हैं- le-ke//le//ket? èali gyo 'लेकर चला गया'।

निश्चयार्थक वृत्ति में सामान्य तथा सातत्य (अपूर्ण) क्रिया-व्यापार को अभिव्यक्त करने के लिए वर्तमान काल और भविष्यत्काल में एक ही रूप का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान-भविष्यत्काल का यह रूप प्रातिपदिक में पुरुषवाचक विभक्तियां लगा कर बनाया जाता है। अन्य पुरुष बहुवचन में और वैकल्पिक रूप से मध्यम पुरुष में योजक क्रिया का भी प्रयोग हो सकता है।

pa°- क्रिया के वर्तमान-भविष्यत्काल के रूप

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु.	pa°-ûá	pã°-aá
मध्यम पु.	pa°-aá	pa°-aû(co)
अन्य पु.	pa°-aá	pa°-îchi

स्वरांत प्रातिपदिक के बाद विभक्ति से पूर्व v अथवा w ध्वनि आ जाती है और प्रातिपदिक में भी ध्वन्यात्मक परिवर्तन होता है- dû-vaá (कम 'कर(ना)' से बना क्रियारूप), ayi-muro pando tûváá//to(n)waá (to- 'धो(ना)' से बना क्रियारूप) 'मेरी मां कपड़े धो रही है।'

क्रिया के वर्तमान-भविष्यत्काल की रूपरचना की विशेषता यह है कि क्रिया के निषेधबोधक

(नकारात्मक) रूप स्वीकारबोधक (सकारात्मक) रूपों से भिन्न हैं। नकारात्मक निपात ni, सामान्यतः, क्रिया से पहले आता है।

भविष्यत्काल के कुछ अलग रूप भी मिलते हैं- kavogo 'तू खाएगा'; samjingé 'वे समझेंगे'।

ka°-'कर(ना)', kha- 'खा(ना)', kol- 'खोल(ना)' क्रियाओं के नकारात्मक के रूप			भविष्यत्काल के चिह्न		
	एकवचन	बहुवचन		एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु.	ni kar-t-û	ni khâ-t-a	उत्तम पु.	पुं.-ôgû	पुं.-ange
मध्यम पु.	ni kar-t-a(á)	ni khâ-t-a	मध्यम पु.	पुं.-ago (-ogo)	पुं.-age
अन्य पु.	ni kar-t-a(á)	ni kol-t-a, kar-t-i-ni (स्त्री.)	अन्य पु.	पुं.-ago स्त्री. - agi (-ingi)	पुं.-ingi

किसी निश्चित क्षण अथवा निश्चित समय में घटित होने वाले क्रिया-व्यापार की अभिव्यक्ति के लिए दो अलग-अलग प्रकार की रचनाओं का प्रयोग होता है जिनमें क्रिया का रूप वर्तमानकाल और भूतकाल का होता है। अपूर्ण वर्तमान का रूप बनाने के लिए वर्तमान-भविष्यत्काल के रूप में पश्चाश्रयी निपात कम जोड़ा जाता है- me kitab pa°-ûá de 'मैं किताब पढ़ रहा हूँ'। अपूर्ण वर्तमान का रूप बनाने के लिए -to पर प्रत्यय वाली मुख्य क्रिया के साथ lag(na)- क्रिया के वर्तमान-भविष्यत्काल के रूप का प्रयोग किया जाता है- me-ti muallim kam kati lagaí 'हम अध्यापक के साथ काम कर रहे हैं'। lag- क्रिया के बाद निपात de भी आ सकता है। स्पष्टतः, इस कालवाचक रूप में क्रिया का पक्ष भी सम्मिलित है जिसके द्वारा क्रिया-व्यापार की निरंतरता अभिव्यक्त हो रही है। (अपूर्ण भूतकाल के रूपों का परिचय आगे दिया गया है)

निश्चयार्थक वृत्ति में पूर्ण भूतकाल के दो रूप होते हैं- क्रिया के प्रातिपदिक में या तो -o/-yo(uto) विभक्ति या -i/(uti) विभक्ति जोड़ी जाती है। किंतु इन दोनों रूपों में कोई अर्थपरक अंतर नहीं दिखाई देता है। संभवतः; शुरू में इनमें से एक रूप पुल्लिङ्ग रहा हो और दूसरा स्त्रीलिङ्ग किंतु कालांतर में लिङ्ग-भेद समाप्त हो जाने के बावजूद दोनों रूप अभी भी प्रयोग में हैं।

इन रूपों वाली अकर्मक क्रियाओं से बने वाक्यों में क्रिया-व्यापार का निष्पादक ही उद्देश्य (कर्ता) होता है और आदर्श स्थिति में विधेय की अंविक्ति उसके साथ होती है- pâêâ ut-o (पुं., एक) 'बादशाह उठा'; ran ut-i (स्त्री., एक.) 'पत्नी उठी'; jatak ut?r-e (बहु.) 'लड़के जल्दी में थे'। सकर्मक क्रियाओं से बने वाक्यों में क्रिया-व्यापार के निष्पादक का प्रयोग तिर्यक कारक में होता है और उसके साथ परसर्ग -na का प्रयोग भी किया जाता है जो कार्य-निष्पादक (साधक) का अर्थ व्यक्त करता है। यदि कार्य-निष्पादक की अभिव्यक्ति पुरुषवाचक सर्वनाम के द्वारा हुई हो तो सर्वनाम का प्रयोग साधक कारक के रूप में होगा। ऐसी स्थिति में उद्देश्य (कर्ता) और विधेय में अंविक्ति नहीं होती है- kis-na kar-i (स्त्री.) 'किसने किया?'; mire ayi(स्त्री.)-na das j?atak j?ar-yo (पुं)

‘मेरी मां ने दस बच्चे पैदा किए’।

निश्चयार्थक वृत्ति के अन्य सभी पुरुषवाचक रूपों में योजक क्रिया èh- (è-) अवश्य आती है। इसका प्रयोग वर्तमानकाल और भूतकाल में होता है। वर्तमानकाल के रूप पुरुष और वचन के अनुसार बदलते हैं।

योजक क्रिया èh- के वर्तमानकाल के रूप

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु.	èhû	èhe, èha, èhî
मध्यम पु.	èhe	èho, èhî
अन्य पु.	èhe	èhe, èhi, èhî

भूतकाल में एकवचन का रूप है èho जिसके व्यतिरेक में भूतकाल, बहुवचन के रूप हैं èhe, èhî। भूतकाल के रूप पुरुष के अनुसार नहीं बदलते हैं। पार्या भाषा में विकारी योजक क्रिया i भी है जिसका प्रयोग केवल वर्तमानकाल, एकवचन में नामिक विधेय के अंग के रूप में होता है- bit?ya ziq-i ‘लड़की उदास है।’

पूर्ण वर्तमान के रूप-(y) e और योजक क्रिया èh- को मिला कर बनाए जाते हैं- me a-y-e èhû ‘मैं आ गया हूँ’। कभी-कभी स्त्रीलिंग, एकवचन (tu ka a-yi èhe? ‘तू क्यों आई है?’) और बहुवचन (meman a-ye èhi ‘मेहमान आ गए हैं’) के चिह्नों का प्रयोग भी मिल जाता है।

भूतपूर्वभूत (pluperfect) के एकवचन के रूप में योजक क्रिया का प्रयोग किया जाता है जिसका पूर्ण वर्तमान में प्रयोग नहीं होता है- abâ-murr maré èo ‘मेरे दादा मर चुके हैं’। बहुवचन में इन रूपों में अंतर करना संभव नहीं है क्योंकि योजक क्रिया का रूप एक ही है (èhe)।

सामान्य भूत के द्वारा भूतकाल में सामान्यतः घटित होने वाला क्रिया-व्यापार अभिव्यक्त किया जाता है जिसकी रचना -a के साथ भूतकालिक योजक क्रिया जोड़ कर की जाती है। सामान्य भूत में लिंग-भेद नहीं होता है और वचन की अभिव्यक्ति योजक क्रिया के रूपों के द्वारा होती है- me (पुं.) par-a èho ‘मैं पढ़ता था’; ya bit?ya (स्त्री.) pianino-ta mar-a èho ‘यह लड़की पियानो बजाती थी’; xalk ava èe (èhe) ‘लोग आ गए हैं।’

अपूर्ण भूतकाल के रूप अपूर्ण वर्तमानकाल के रूपों की तरह बनाए जाते हैं। अपूर्ण भूतकाल में सामान्य भूत के रूपों के साथ निपात कम जोड़ दिया जाता है- me kar-ma juva šo(èho) कम ‘मैं घर जा रहा था’। अपूर्ण भूतकाल में सहायक क्रिया lag- का भूतपूर्वभूत रूप प्रयोग में आता है- me-ti muallim kam karto lagi èho ‘हम अध्यापक के साथ काम करते थे।’

आज्ञार्थक वृत्ति के दो रूप हैं- मध्यम पुरुष एकवचन और मध्यम पुरुष बहुवचन। मध्यम पुरुष एकवचन का रूप प्रातिपदिक से अभिन्न है- kha ‘खा’, kâm kar ‘काम कर’। मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप प्रातिपदिक में -o/oø विभक्ति लगा कर बनाया जाता है- ran karo ‘ब्याह करो’; kalaoø ‘रखो’। निषेधार्थक रूप दो प्रकार से अभिव्यक्त होते हैं : 1) निषेधबोधक (नकारात्मक) निपात na + प्रातिपदिक (आज्ञार्थक वृत्ति)- na kha ‘मत खा’; 2) प्रातिपदिक (आज्ञार्थक वृत्ति) + नकारात्मक निपात ni- îya ja ni ‘यहां मत जा।’

संकेतार्थक वृत्ति, मुख्यतः, अन्य पुरुष एकवचन के रूप में ही मिलती है जिसकी रचना प्रातिपदिक और-a विभक्ति के द्वारा होती है tar-a (< tar- 'पकड़ना')। यह रूप भूतकाल में प्रयुक्त होने वाले रूप से अभिन्न है। उत्तम पुरुष एकवचन और अन्य पुरुष बहुवचन के रूपों के प्रयोग के कुछ ही उदाहरण प्राप्त हुए हैं- उ.पु. एक. kûm (< ke- 'बोलना'); duwûm (< de- 'देना'); अ.पु.बहु. kuin (< ke-)। इन रूपों के द्वारा इच्छा, आदेश (us-ta ke iyê âva 'उसे कह कि इधर आए'), आशय, उद्देश्य, भविष्योन्मुख निर्भरता (DrgDrr mre gunáta tu langá, me keke duvã(m) 'अगर तू मेरी गलती माफ करे तो मैं तुझे बताऊँ') जैसे अर्थ अभिव्यक्त होते हैं।

पार्या भाषा में एक ऐसा क्रिया-रूप भी है जो क्रिया-व्यापार की प्रगति का अर्थ अभिव्यक्त करता है। यह क्रिया-रूप -to (-te) वाली मुख्य क्रिया और ja- 'जाना' क्रिया के पुरुषवाचक रूपों के साथ मिल कर बनता है- gunan dín ba dín boro hotó go 'गुनन दिनों-दिन बड़ा होता जा रहा था।' यह अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं में विद्यमान सातत्यबोधक अर्थ के अनुरूप है। आजार्थक वृत्ति में क्रिया का यह रूप कार्य की ओर प्रवृत्त होने का अर्थ अभिव्यक्त करता है- yek-yek a-te jaø 'एक-एक करके आइए'।

अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं की तरह पार्या भाषा में भी संयुक्त क्रियाएं होती हैं जो मुख्य क्रिया के प्रातिपदिक तथा सहायक/रंजक क्रिया से बनी होती हैं। क्रिया के व्याकरणिक अर्थ सहायक/रंजक क्रिया के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। sag- 'सकना' से बनीं संयुक्त क्रियाएं संभाव्यता और नकारात्मक स्थिति में असंभाव्यता का अर्थ अभिव्यक्त करती हैं- me êuk sagûá 'मैं उठा सकता हूँ'; êap ni sakta '(वह) चबा नहीं सकता'। अन्य संयुक्त क्रियाएं भी इसी तरह बनती हैं जिनका दूसरा अंश (सहायक/रंजक क्रिया) क्रिया-व्यापार की पूर्णता, क्रिया-व्यापार के प्रति वक्ता के दृष्टिकोण आदि विभिन्न अर्थ अभिव्यक्त करता है जो उक्त क्रिया के मूल अर्थ से बिल्कुल भिन्न होते हैं। भारतीय-आर्य भाषाओं के व्याकरणों में इन्हें 'संयुक्त अवधारणाबोधक क्रियाएं' भी कहा जाता है। ये क्रियाएं रूसी की पूर्वप्रत्यययुक्त (उपसर्गयुक्त) क्रियाओं के लगभग समतुल्य हैं। सामान्यतः, इन क्रियाओं का प्रयोग पूर्ण भूत में ही होता है जिसके द्वारा पूर्ण पक्ष का अर्थ अभिव्यक्त होता है- zimin su(k) gi 'जमीन सूख गई है' (suk- 'सूखना' + ja 'जाना'; तु. रूसी sokhnut'- vysokhnut'); baèò le lineo 'बच्चों को ले लिया' (le- + le- 'लेना'; तु. रूसी brat' – zabrat')। पूर्वकालिक क्रियाओं का भी संयुक्त क्रिया के रूप में प्रयोग होता है- putke le तोड़ कर ले।

क्रियाविशेषण : क्रियाविशेषण क्रिया की विशेषता बताते हैं और उनके प्रकार, मुख्यतः, उनके प्रकार्यों के अनुसार किए जाते हैं। सरल क्रियाविशेषण बहुत कम हैं- abe 'अब', âè 'आज', fer 'फिर'; अरबी-फारसी faqat 'सिर्फ', ba'd 'बाद'। अधिसंख्य क्रियाविशेषण संज्ञाओं, विशेषणों और सर्वनामों से बने हैं और इनकी व्युत्पत्ति से इस बात का कोई संबंध नहीं है। केवल सार्वनामिक क्रियाविशेषण इसका अपवाद हैं जो सभी भारतीय-आर्य मूल के हैं और उनमें विशेष पर प्रत्यय लगते हैं। क्रियाविशेषणों की रचना सर्वनामों, क्रियाविशेषणों, संज्ञाओं, संख्यावाचकों और संयुक्त प्रातिपदिकों में परप्रत्यय लगा कर की जाती है : अ) सर्वनामों से बने क्रियाविशेषण- i-gi 'यहां, इधर', u-gi 'वहां, उधर', i-yã 'यहां', u-yã 'वहां', kî(n)ya 'कहां' आदि। सार्वनामिक क्रियाविशेषण उत्तरावस्था में बदल भी जाते हैं- i-gi-ran'g 'अधिक पास', u-giran'g अधिक दूर; आ) क्रियाविशेषणों से बने

क्रियाविशेषण- kur-i 'ऐसे' < kur 'कैसे' । पर प्रत्यय की तरह प्रयुक्त होने वाला दिशाबोधक और स्थानबोधक परसर्ग -a भी इस तरह के क्रियाविशेषणों से बने क्रियाविशेषणों में संभव तो है यद्यपि ऐसे मूल क्रियाविशेषणों के प्रयोग के उदाहरण पार्या भाषा में नहीं मिले हैं- uf?r-a 'ऊपर (को)' < ufur (वही अर्थ); kal-a 'कल'; andar-a 'अंदर' (तु. हिंदी kal, andar); इ. संज्ञाओं से बने क्रियाविशेषण- hek-a 'आगे' < hek 'वक्ष' (वही पर प्रत्यय -a), bex-i 'बिल्कुल' < bex 'नीचे, आधार'; इ) संख्यावाचकों से बने क्रियाविशेषण- yak-e, yek-i-na-gi 'एकदम, अचानक', < yek 'एक', tin-i 'तीनों' < tin 'तीन'; m) संयुक्त प्रातिपदिकों बने क्रियाविशेषण- dobor-i 'दुबारा, फिर से' < do 'दो' + bor 'बार' । शब्दनिर्माण के अन्य प्रतिदर्शों (model) के अनुसार बने क्रियाविशेषण अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं में भी इसी श्रेणी में आते हैं और उनके अर्थ भी वही हैं : संयुक्त शब्द - bo-sari 'बहुत (सारा)' < bot 'बहुत' + sari 'सारी' (तु. हिंदी bahut sâre); पुनरुक्ति- tu°u-tu°u 'थोड़ा-थोड़ा' (तु. हिंदी tho°â, tho°â-tho°â), asta-asta 'धीरे-धीरे' (तु. हिंदी âhistâ, âhistâ-âhistâ); प्रतिस्थापन (संज्ञा का) axir 'आखिर' < axir 'अंत'; प्रतिस्थापन (विशेषण का) - asan 'आसानी से' < asan 'आसान' ।

निपात : स्वीकारबोधक (सकारात्मक) निपात ha और निषेधबोधक (नकारात्मक) निपात na (ne) पूरे वाक्य के बदले में आ सकते हैं । निपात na (ne) का प्रयोग कई प्रकार से होता है : अ) वैकल्पिक प्रश्न पूछने के लिए- murs-a dini ya ne? 'तेरा ब्याह हुआ है या नहीं?'; आ) विधेय के बाद प्रेरणात्मक क्रिया पर जोर देने के लिए (इंसेंटिव पार्टिकल)- khâ-na? 'खा, ना?'; इ) क्रिया से पहले निषेध के अर्थ में- na-ja 'मत जा'; ई) क्रिया के संकेतार्थक रूप से पहले- taâ na-lova 'जब तक ले ना लूँ'; उ) पूर्ण भूत के रूपों से पहले- n()-aye 'नहीं आए' । निपात दप का प्रयोग भी कई प्रकार से होता है : अ) नकारात्मक योजक के रूप में- o muro paâni 'वह मेरा भाई नहीं लगता है'; आ) वर्तमान-भविष्यत्काल के नकारात्मक रूपों के साथ क्रिया के बाद या क्रिया के पहले भी- deta-ni 'नहीं देता', ni-khaû 'नहीं खाऊँगा'; इ) क्रिया के बाद निषेधवाचक रूप के साथ- ja-ni 'मत जा'; ई) क्रिया के संकेतार्थक रूप के बाद- teva-ni 'कि गिर न जाए' । अतिशयताबोधक निपात (यडन्त) bi, i, u, ti पश्चाश्रयी होते हैं और जिस शब्द पर बल देना होता है उसके बाद इनका प्रयोग होता है- yek-si-ti- bi ran karakr na dîné 'उनमें से किसी एक का भी विवाह नहीं करवाया' । u, i निपात (तु. हिंदी hi) निश्चयवाचक (संकेतवाचक) सर्वनामों के साथ प्रयोग में आते हैं- is-i maânun-nala 'इसी बंदर के साथ', us-u bod 'इसी के बाद' । bi और ham निपातों का अर्थ है 'भी'- o bi budi gi èhe 'वह भी बुढ़िया हो गई है।' मिश्र वाक्य में संकेतसूचक समुच्चयबोधक agar के साथ आने पर ये निपात लाचार होने का अर्थ अभिव्यक्त करते हैं- ya is-i vaxt-a ham lef-ma agar varto, ya dadvaâkuva èo 'यदि वह उस समय भी मेरे बिस्तर में लेटती तो भी रोती-चिल्लाती रहती थी' । निश्चयवाचक (संकेतवाचक) सर्वनाम और उनसे व्युत्पन्न शब्द संकेतवाचक निपात के रूप में प्रयुक्त होते हैं- yade 'ये (.. है)', ôde 'वो (.. है)।' ।

समुच्चयबोधक : पश्चाश्रयी शब्द जप निपात की तरह भी प्रयुक्त होता है और संयोजक समुच्चयबोधक की तरह भी । इसका प्रयोग, मुख्यतः, संयुक्त संख्यावाचकों को बनाने के लिए किया जाता है- yek so-ti pand?ran 'एक सौ पंद्रह' । अन्य संयोजक समुच्चयबोधक भी पश्चाश्रयी हैं-

u (dev-u pari 'देव और परियां'), i (guš lineo-i èal lineo 'गोश्त खरीदा और चाय खरीदी')। विभाजक समुच्चयबोधक है ya- oá pâšâêhe ya mar gi 'वह बादशाह है या कि मर गया है'। विरोधसूचक समुच्चयबोधक है lakin 'लेकिन।' मिश्र वाक्यों में कई समुच्चयबोधकों का प्रयोग होता है जिनमें से एक है स्वरूपसूचक समुच्चयबोधक ke। यह समुच्चयबोधक वाक्य में कई प्रकार के उपवाक्यों के आरंभ में आता है- कर्म उपवाक्य के आरंभ में (dekho, ke pâšâ sutéá 'देखा कि बादशाह सो रहा है'), विशेष उपवाक्य के आरंभ में (yek xel bitya, ki nakiri èhi... 'वे लड़कियां जो सुंदर नहीं थीं'), उद्देश्यवाचक, कारणवाचक, कालवाचक और संकेतवाचक उपवाक्यों के आरंभ में। इसका प्रयोग परोक्ष कथन के आरंभ में भी होता है। संयुक्त समुच्चयबोधकों की रचना में भी ke समुच्चयबोधक का ही प्रयोग होता है- az baroyi ki 'इस वजह से कि', har èand(-e) ke 'कितना भी [करो] कि...', vaxt-e ki 'जमाना [ऐसा] है कि...'। संकेतवाचक उपवाक्यों के आरंभ में agar 'अगर' समुच्चयबोधक का प्रयोग होता है और अनुमतिवाचक वाक्यों के आरंभ में agar के साथ bi, ham 'तक' निपात भी जोड़े जाते हैं।

विस्मयादिबोधक : विस्मयादिबोधक शब्द मनोभावों को अभिव्यक्त करते हैं और सामान्यतः एक या कभी-कभी दो अक्षरों के भी होते हैं। विस्मयादिबोधक o, vax हर्ष और आश्चर्य, vai-आश्चर्य अथवा पीड़ा, obbo, ya – सहानुभूति, xob maáln(-si) –समर्थन और बातचीत की समाप्ति का संकेत व्यक्त करते हैं। कुछ बनी-बनाई अभिव्यक्तियों को भी विस्मयादिबोधकों में सम्मिलित किया जाता है- ya toba 'हाय! तोबा, तोबा!', obla haqibar <allah akbar 'अल्लाहो अकबर!'। इनकी शब्दावली अरबी में है और इनके द्वारा विनम्रता तथा आश्चर्य अभिव्यक्त किया जाता है। कुछ विस्मयादिबोधक उद्बोधन का अर्थ भी अभिव्यक्त करते हैं जिसके लिए क्रिया के आज्ञार्थक रूप का प्रयोग किया जाता है- èal 'चल!', a, e 'जरा रुक!, सुन तो!'। विस्मयादिबोधकों का प्रयोग भाषिक शिष्टाचार में, अभिवादन करने के लिए और अभिवादन का उत्तर देने के लिए, भी होता है- selam, selam aleikum, v(a)-aleikum।

परसर्ग ('संज्ञा' शीर्षक भी देखिए) : संज्ञा-सर्वनाम-पदों और परसर्गों के संयोग के द्वारा विविध वाक्यगत प्रकार्यों को अभिव्यक्त किया जाता है। -ta – कर्म और प्राप्तकर्ता के लिए (be-ta ban kar 'दरवाजा बंद कर'); -ko- विशेषक के लिए (is ran ko murs 'इस औरत का पति'); -nala - उपकरण के लिए (ceam ceer-nala maro 'तलवार से मारा'); -a, -ma - स्थान, काल, दिशा का संकेत करने के लिए (bag ma var 'बाग में जा'); -na साधक वाक्य-रचना में कार्य-निष्पादक के लिए (vazir-na kiyo 'वजीर ने कहा') आदि-आदि। सरल परसर्ग आपस में मिल कर यौगिक परसर्ग बन सकते हैं जिनका अर्थ कभी परिवर्तित हो जाता है (ma-ta 'अंदर से'), तो कभी अपरिवर्तित रहता है (p?r-a/p?r 'पर')। -ko और कभी-कभी -ta परसर्ग संज्ञा तथा कुछ परसर्गों को जोड़ने का काम भी करते हैं और इस तरह संयुक्त परसर्ग का निर्माण करते हैं- mare kar-ke kula 'हमारे घर के पास'। कुछ संज्ञा और क्रियाविशेषण भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त होते हैं। इस तरह के प्रकार्यगत परसर्गों की रचना में -a परसर्ग का भी प्रयोग होता है- gar-ke biè-a 'गुफा के बीच में'; yek din-ta bad 'एक दिन के बाद'; per-tal-a 'पांवों तले'। कुछ परसर्ग पूर्वसर्ग की तरह भी प्रयुक्त होते हैं। ऐसी स्थिति में पूर्वसर्ग और संज्ञा का संबंध फारसी की तरह

इजाफत के द्वारा अभिव्यक्त होता है- ba'd-i do-sal 'दो साल बाद'। इस वर्ग के सभी शब्द सार्वनामिक पश्चाश्रयी चिह्नों के साथ मिल कर पूर्वसर्ग का प्रकार्य करते हैं- तु. rayis-kula aye '(कलखोज के) अध्यक्ष के पास आए', किंतु kula-se ja ket? 'उसके (स्त्री.) पास आकर'।

पूर्वसर्ग- पार्या भाषा में वही पूर्वसर्ग इस्तेमाल होते हैं जो अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं में भी प्रचलित हैं और प्रायः फारसी के शब्दों के साथ ही प्रयोग में आते हैं- b(a)-ozob 'कष्ट में', aá maádan taá maádan 'एक जगह से दूसरी जगह को' din-ba din 'दिन-ब-दिन'। कभी-कभी परसर्गों के साथ मिल कर भी इनका प्रयोग होता है- ta-par-ma 'पहाड़ों तक'।

3. शब्द-निर्माण : भारतीय-आर्य शब्दावली पर आधारित शब्द-निर्माण विशेष महत्व का है क्योंकि उन व्युत्पन्न (साधित) शब्दों को जिनके सभी अंश किसी अन्य स्रोत से आए हैं पूर्णतः आगत शब्द मानना ही उचित है। ऐसे आगत शब्दों का भाषाई आधार भिन्न है।

पार्या भाषा में शब्द-निर्माण दो प्रकार से होता है- परप्रत्ययों के द्वारा तथा शब्द-संयोग (समास) के द्वारा। व्युत्पन्न (साधित) शब्दों की संख्या अधिक नहीं है। शब्द-निर्माण करने वाले परप्रत्यय भी बहुत कम हैं। इस तरह के कुछ परप्रत्यय आगे दिए जा रहे हैं। परप्रत्यय -i : यह परप्रत्यय सरल और संयुक्त प्रतिपदिकों में लगाया जाता है और इससे भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं- eur 'चोर'- eur-i 'चोरी', tup 'धूप' + èa° 'उठना'- tup-èa°-i 'सूर्योदय'; पर प्रत्यय -o और -i : इनके द्वारा लिंग-भेद या आकार-भेद किया जाता है- patij?-o 'भतीजा'- patij?-i 'भतीजी' (लिंग-भेद), kat?-o 'नहर' - kat?-i 'छोटी नहर' (आकार-भेद); परप्रत्यय -(y)al- + लिंग की विभक्ति : इसका प्रयोग '-वाला' के अर्थ में होता है- khot-al-o (<khot-a 'गधा') 'गधेवाला', daî-yal-o (xalta) (<daî 'दही') 'दही जमाने वाला धैला'; परप्रत्यय -n- (-°)- + al- : यह परप्रत्यय क्रिया के प्रातिपदिक में लगकर कार्य-निष्पादक का अर्थ अभिव्यक्त करता है- dekh-n'-yal-o 'दर्शक, देखने वाला', an-paka-°-al-o रसोइया, अन्न पकाने वाला)।

शब्द-संयोग के द्वारा बने संयुक्त शब्द (समास), सामान्यतः, एक ही स्रोत के होते हैं- bagi-da°i 'सफेद दाढ़ी वाला, बूढ़ा'। कभी-कभी भिन्न स्रोत वाले प्रातिपदिकों को मिला कर भी समास बन जाता है- gur-kut?i 'कब्रें खोदने वाला जानवर' (फारसी+भारतीय)। क्रिया का साधारण रूप भी समास का दूसरा अंग हो सकता है- bak?ri-durano 'बकरी-दौड़; बुजकशी' (भारतीय+भारतीय)। संयुक्त शब्द (समास) किसी पदार्थ का लक्षण अथवा किसी पदार्थ का नाम भी हो सकते हैं- sat-salu 'सातसाला', kali-ka? 'टीबी, क्षय रोग; काली खांसी'।

4. वाक्य-रचना : पार्या भाषा की वाक्य-रचना में क्रिया का प्रयोग आवश्यक है। अस्तित्वबोधक तथा समीकरण वाक्यों (equational sentences) में वर्तमानकाल में योजक क्रिया i तथा भूतकाल में योजक क्रिया èho का प्रयोग होता है। नकारात्मक वाक्यों में विशेष नकारात्मक योजक क्रिया ni का प्रयोग होता है- ô bakâr-i 'वह सुंदर है'- ô bakâr-ni 'वह सुंदर नहीं है'।

पार्या भाषा में पदक्रम स्वतंत्र है। वाक्य के अंगों में स्थान-परिवर्तन के नियम बहुत कठोर नहीं हैं। वाक्य का सामान्य ढांचा इस प्रकार है : कार्य-निष्पादक (कर्ता)- प्राप्तकर्ता- कर्म- विधेय। कालवाचक और स्थानवाचक पदबंध वाक्य के आरंभ में कर्ता से पहले आते हैं तथा रीतिवाचक पदबंध (और लक्ष्यवाचक पदबंध भी) क्रिया से पहले आते हैं। विशेष्य से पहले विशेषक आता है। सभी प्रकार

के वाक्यों में (विधानार्थक, निषेधार्थक, प्रश्नार्थक, विस्मयार्थक वाक्यों में) यही पदक्रम रहता है- ku^{oo}i kas kavaá 'घोड़ी घास खाती है'; tu ka kâm karaá 'तू क्या काम कर रहा है?'। यदि वाक्य में कार्य-निष्पादक (कर्ता) का प्रयोग हुआ हो तो प्रश्नवाचक शब्द पहले स्थान पर नहीं आता है। सामान्य पदक्रम की स्थिति में पदबन्धीय बलाघात क्रिया से पूर्व आने वाले वाक्य के अंग पर पड़ता है।

आज्ञार्थक वाक्यों में क्रिया के आज्ञार्थक रूप का प्रयोग होता है और कर्ता का प्रयोग नहीं होता है। क्रिया के आज्ञार्थक रूप के साथ मध्यम पुरुष सर्वनाम का भी प्रयोग होने से 'आज्ञार्थ' को विशेष बल मिलता है, तु. an kha 'भोजन कर'- tu ûya j?a 'तू उधर जा'। पूरे कथन पर अथवा शब्द-विशेष पर अधिक बल देने के लिए विधानार्थक वाक्य का सामान्य पदक्रम बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए : j?iti-ta aáza per-a kalin èi 'पारंपरिक सैंडिलों को औरतें पांवों में पहनती हैं' (इस वाक्य में कर्म j?iti-ta वाक्य के आरंभ में आया है और कर्ता aáza दूसरे स्थान पर)। पदक्रम के इस बदलाव से तार्किक बलाघात कर्म पर होगा तथा पदबन्धीय बलाघात कर्ता पर जिससे वर्णन की स्थिति इस तरह बदल गई है कि उसका व्यतिरेक किसी अन्य स्थिति से हो सकता है (सैंडिलों को तो औरतें पहनती हैं जबकि आदमी लोग किसी और तरह के जूते पहनते हैं)।

व्याकरण में प्रचलित पारिभाषिक शब्द 'उद्देश्य' के स्थान पर 'कार्य-निष्पादक' शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि ये समतुल्य नहीं हैं। अकर्मक क्रिया के साथ आने पर कार्य-निष्पादक हमेशा, केवल कुछ अपवादों को छोड़कर, ऋजु कारक में ही प्रयुक्त होता है। इस तरह के वाक्यों में- नामिक रचना वाले वाक्यों में- विधेय की अन्विति, सिद्धांततः, कर्ता के लिंग और वचन के साथ होनी चाहिए। दूसरी ओर, कार्य-निष्पादक का वाचक शब्द कार्य-निष्पादक का अर्थ अभिव्यक्त करने वाले परसर्ग -na के साथ विकारी कारक या साधक कारक में भी आ सकता है और ऐसी स्थिति में वह विधेय के रूप को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करता है। साधक कारक से बनीं अधिसंख्य वाक्य-रचनाओं में सकर्मक क्रियाओं ds-o/-yo, -e/i वाले रूपों का प्रयोग होता है। यदि सकर्मक क्रिया द्वारा अभिव्यक्त क्रिया-व्यापार वर्तमानकाल अथवा भविष्यत्काल में घटित हो रहा हो या भूतकाल में क्रिया-व्यापार के पूरा होने का महत्व न हो तो नामिक वाक्य-रचना का प्रयोग होता है, न कि साधक कारक वाली वाक्य-रचना का। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि सकर्मक क्रिया के भूतकाल के किसी भी रूप के साथ साधक कारक वाली वाक्य-रचना का प्रयोग प्रचलित होता जा रहा है, तु. - pâêâ-na mâl dineo 'बादशाह ने (बहुत) माल दिया'; minj?a rât-a kitab para èo-de 'मैं शाम को किताब पढ़ रहा था'। इनमें से पहले वाक्य में सकर्मक क्रिया dineo पूर्ण भूत में आई है और दूसरे वाक्य में सातत्य भूत में। दोनों ही वाक्यों में कार्य-निष्पादक का प्रयोग साधक कारक में हुआ है जबकि दूसरे वाक्य में कार्य-निष्पादक को अविकारी कारक में होना चाहिए था। अर्थात् साधक कारक के चयन का मुख्य आधार क्रिया की सकर्मकता प्रतीत होता है। पार्या भाषा की उपलब्ध सामग्री में साधक कारक वाली वाक्य-रचनाओं में सकर्मक क्रिया की कर्म के साथ अन्विति के उदाहरण नहीं मिलते हैं।

वास्तव में, कर्ता (कार्य-निष्पादक) के रूप के चयन में इतनी अस्थिरता है कि अकर्मक क्रिया के साथ भी कर्ता का प्रयोग साधक कारक में मिल जाता है- pat?xan (n)a qaribi-ma aye 'पठान पास आया'। दूसरी ओर, ऐसी वाक्य-रचना भी मिलती है जिसमें कर्ता का प्रयोग ऋजु कारक में हुआ

है- aba-so kiyo 'उसके पिता ने कहा' जबकि होना चाहिए था' *aba-so-na kiyo क्योंकि इस वाक्य की क्रिया kiyo सकर्मक है। साधक कारक का प्रयोग पूर्वकालिक सकर्मक क्रिया के साथ भी हो सकता है- pâêâ-na is gal-ta sunket? vaxt-a sare mur?o 'ये बात सुन कर बादशाह जल्दी लौट गया'। इस वाक्य में विधेय की अभिव्यक्ति अकर्मक क्रिया के पुरुषवाचक रूप के द्वारा हुई है। इसके बावजूद कर्ता के साथ -na परसर्ग का प्रयोग हुआ जो इस वाक्य में शायद सकर्मक क्रिया sun- 'सुनना' (sunket?) के प्रभाव द्वारा समझाया जा सकता है।

वृत्ति की अभिव्यक्ति क्रियाओं के वृत्तिबोधक रूपों तथा वृत्तिबोधक शब्दों के द्वारा होती है। संभावनार्थक और संकेतार्थक वृत्ति का प्रयोग, सामान्यतः, आश्रित उपवाक्यों में समुच्चयबोधक DrgDrr के साथ होता है जो वाक्य के आरंभ में आता है। किंतु DrgDrr का प्रयोग अनिवार्य नहीं है। समुच्चयबोधक को प्रायः छोड़ भी दिया जाता है। मिश्र वाक्य के प्रधान उपवाक्य में संबंधित शब्द (समुच्चयबोधक, सर्वनाम, क्रियाविशेषण) को तो प्रायः छोड़ ही दिया जाता है। कभी-कभी इसके लिए निश्चयवाचक सर्वनाम, स्वामित्वबोधक सर्वनाम या पश्चाश्रयी सर्वनाम का प्रयोग किया जा सकता है- ke°o-ke pâêâ-yi'-ma betâ-so ni, mo-so kalu-â 'जिसकी बादशाहत में बेटा नहीं है, उसका मुंह काला'।

संबंधवाचक उपवाक्य मुख्य उपवाक्य से पहले आता है- jistuno-m?ta turo dil howaâ, istuno-m?ta le 'जितना तुझे चाहिए(गा), उतना ले ले'। संबंधवाचक शब्द के रूप में ju- प्रातिपदिक से बने संबंधवाचक सर्वनाम का तथा प्रश्नवाचक शब्द का भी (समुच्चयबोधक ke के साथ मिल कर) प्रयोग होता है (इसका उदाहरण ऊपर आया है)।

व्याख्यात्मक उपवाक्य, सामान्यतः, प्रधान उपवाक्य के बाद आता है। वाक्य के अंशों के बीच संबंध समुच्चयबोधक ke के द्वारा अभिव्यक्त होता है जिसके एक से अधिक अर्थ हो सकते हैं। इस समुच्चयबोधक के द्वारा प्रत्यक्ष कथन को भी आरंभ किया जाता है- is-na kiyo ke: 'me pat?xan êhû' 'उसने कहा कि 'मैं पठान हूँ।' समुच्चयबोधक ke के बिना भी प्रत्यक्ष कथन संभव है।

पार्या भाषा में संयुक्त वाक्यों को अनुतान के द्वारा ही पहचाना जा सकता है, अन्यथा उन्हें पहचानना बहुत कठिन है। संयुक्त वाक्यों के अंग समान अधिकार वाले होते हैं और उन्हें एक वाक्यगत इकाई में जोड़ने वाले कोई शब्द अथवा व्याकरणिक साधन उपलब्ध सामग्री में स्पष्ट नहीं हुए हैं।

5. शब्दभंडार : पार्या भाषा की मूल शब्दावली भारतीय-आर्य भाषाओं की ही है। लगभग उतने ही शब्द ताजिकी (या ताजिकी-फारसी) तथा उज्बेकी (el 'समान कबीले का', ov 'शिकार', yaø 'दुश्मन'), पश्तो (d?od?i 'रोटी', šodi 'बंदर') और रूसी (bruk 'पतलून', abet 'भोजन, लंच', jujur 'ड्यूटी देने वाला') के हैं। आसपास बोली जाने वाली भाषाओं से शब्दों का ग्रहण होता ही रहता है, यद्यपि आधारभूत शब्दावली भारतीय-आर्य ही है। इस आधारभूत शब्दावली में सभी प्रकार के शब्द शामिल हैं- संज्ञा, सर्वनाम, संख्यावाचक, आम प्रचलित क्रियाएं, विशेषण और क्रियाविशेषण। संज्ञाओं के अंतर्गत ऐसे वर्गों के शब्द भी सम्मिलित हैं जिनमें आगत शब्दों की संख्या नगण्य है, जैसे : शरीर के अंगों, पशुओं, घर और उसके भागों, रोजमर्रा के प्रयोग की वस्तुओं, रिश्तेदारों आदि के वाचक शब्द।

6. **स्थानवाची शब्द** : स्थानवाची शब्दों के विषय में यह उल्लेखनीय है कि पार्या लोगों की स्मृति में अफगानिस्तान की बस्तियों तथा नदियों के नाम बचे रह गए हैं- बल्ख, अंदखोइ, गिलमंद आदि। वर्तमान पाकिस्तान में आने वाले शहरों के नाम- पेशावर, मुल्तान- धुंधले-से रह गए हैं।

7. **व्यक्तिनाम** : पार्या जनजाति में पुरुषों और स्त्रियों के वही नाम प्रचलित हैं जो कि उनके आसपास रहने वाले मुसलमान लोगों में भी प्रचलित हैं। पार्या लोगों के नामकरण के रिवाज ताजिकी-भाषी लोगों के नामकरण के रिवाजों से बिल्कुल भी भिन्न नहीं हैं।

(लेख का रूसी से हिंदी अनुवाद हेमचंद्र पांडे)

संदर्भ

मुख्य स्रोत

ओरान्स्की इ.म. 1977, हिस्सार घाटी (मध्य एशिया) की पार्या जनजाति की लोक-कथाएं तथा उनकी भाषा- परिचय, पाठ तथा शब्दकोश- मास्को : नाऊका, ग्लाव्नाया रेदाक्ट्सया वोस्तोचनोय लितेरतूरि।

//Opahcknn, H.M. //op u

सहायक पुस्तकें और लेख

अवेस्स, ए., क. म्यूल्लेर, ड.पाऊल, सी. टीस्सेन और ग. टीस्सेन. 2010. *लैंग्विज मैण्टेन.स ऐमंगस्त थे पार्या ऑफ़ ताजिकिस्तान. // ताजिकिस्तान के पार्या लोगों म. भाषा अनुरक्षण.* सील इलेक्ट्रॉनिक सर्वे रिपोर्ट 2010-014, मई 2010. सील इंटरनेशनल.

<http://www-01.sil.org/silesr/2010/silesr2010-014.pdf>

(प्रथम प्रकाशन 2005. क्लिफ्टन ज.म.(सं.).स्टडीज़ इन लैंग्वैजिज़ ऑफ़ ताजिकिस्तान).

ओरान्स्कया, त. 2001. पार्या भाषा. *यज़िकीरोस्सिय्स्कोय फ़ेदेरात्सिइ इ सोसेद्रिख गोसुदास्त्व. एत्सिक्लोपेदिया.* त.र. क-र. //रूस राज्यसंघ और पड़ोसी राज्यों की भाषाएँ. विश्वकोष.जिल्द 2. क-र. मास्को:नऊका, 213-226.

ओरान्स्कय,इ.म.1983. ताजिकोयाज़ीचिनए एल्नोग्रफीचेस्किए ग्रूपी गिस्सास्कोय दोलीनि (स्रेदून्यया आज़िया). // *हिस्सार घाटी (मध्य एशिया) की ताजिकीभाषी जनजातियां.*मास्को: नाऊका, ग्लाव्नाया रेदाक्ट्सया वोस्तोचनोय लितेरतूरि.

तिवारी, भोलानाथ. 1970. *सोवियत संघ म. बोली जानेवाली हिन्दी बोली : ताजुब्बेकी ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन तथा संक्षिप्त शब्दकोश.* नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

नेटाली हिंदी

रामभजन सीताराम

सन 1860 में उत्तर भारत से हिंदी भाषा अपने ग्रामीण स्वरूप में नेटाल, दक्षिण अफ्रीका आयी। अवधी तथा भोजपुरी अधिकांश लोगों की बोलियां थीं, अतः यहां पर विकसित हो रही सामान्य संपर्क भाषा का नाम 'नेटाली हिंदी' पड़ गया। वैसे भोजपुरी के लक्षणों के आधिक्य से यह भोजपुरी/साउथ अफ्रीकन भोजपुरी भी कहलाने लगी। भारतीय भाषाओं के विकास तथा विभाजन के आधार पर अवधी, भोजपुरी तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार की सभी भाषाएं जो नेटाल में बोली जा रही थीं, वे सभी हिंदी की उपभाषाएं अथवा बोलियां थीं। विमलेश कांति वर्मा ने अपने ग्रंथ 'हिंदी और उसकी उपभाषाएं' में लिखा है कि 'हिंदी एक भाषा का ही नहीं वरन एक भाषा समष्टि का नाम भी है।' सभी उपभाषाओं में, जिनमें भोजपुरी के साथ अवधी तथा खड़ी बोली भी शामिल हैं, पर्याप्त लोक साहित्य प्राप्त है, तथा 'क्षेत्र विशेष में वहां के निवासियों की भावाभिव्यक्ति का माध्यम है' (1995:3)।

नेटाल/दक्षिण अफ्रीका में हिंदी के ऐतिहासिक संदर्श पर दृष्टिपात करते हुए यहां विकसित और प्रयुक्त हिंदी पर ध्यान दिया जाएगा। भारतेत्तर गिरमितियों द्वारा बसाए गए देशों में हिंदी का स्थान एक सा नहीं है। फीजी, मॉरीशस, गुयाना, सूरीनाम तथा त्रिनिदाद में भारतीयों की संख्या अन्य जातियों की तुलना में लगभग समान है, अतः हिंदी को प्रशासन द्वारा भी सुविधाएं प्रदान की जाती है। दक्षिण अफ्रीका एक बड़ा राष्ट्र है जिसमें विभिन्न जातियां तथा 11 आधिकारिक भाषाएं भी हैं तथा जहां भारतीयों की संख्या केवल 3 प्रतिशत है। और इस में भी हिंदी भाषियों की संख्या 50 प्रतिशत से कम है। ऐसी परिस्थितियों में हिंदी का प्रयोग सीमित क्षेत्रों में (restricted domain) होता है। तथापि हिंदी भाषियों के मन में हिंदी के प्रति लगाव कम नहीं हुआ है। अतः प्रयोग क्षेत्र के साथ हिंदी भाषा में रचनात्मक तथा वैज्ञानिक कृतियों का सर्वेक्षण होगा, जिसमें शिक्षण संबंधी रचनाओं, हिंदी विद्वानों द्वारा अनुसंधान कार्य तथा हिंदी मनीषियों के ग्रंथों की समीक्षा होगी। इस के साथ नेटाल/दक्षिण अफ्रीका में अन्य भाषाओं के संपर्क में हिंदी भाषा में परिवर्तन, शब्द-भंडार में अभिवृद्धि और हिंदी के विकास के लिए किए जा रहे प्रयासों पर दृष्टिपात किया जाएगा।

भारत में माना जाता है कि पानी और वानी कुछ ही दूरी पर बदलते हैं। तिस पर नेटाल में विभिन्न प्रांतों तथा जिलों के प्रवासी भारतीय एक साथ रहने लगे। अल्प काल में ही एक सरल जनसंपर्क भाषा (Lingua Franca) का उभरना कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः हिंदी क्षेत्र के

अतिरिक्त, दक्षिण भारत के तमिल, तेलुगू और दक्षिणी उर्दू भाषी भारतीय भी हिंदी में वार्तालाप करने लगे। गांधीजी ने भी इसी मिश्रित सरल भाषा को 'टूटी- फूटी' हिंदी नाम दिया तथा समर्थन किया। लगभग 750 वर्ष पूर्व अमीर खुसरो ने जो उद्गार किया था- 'मैं हिंदुस्तान की तूती हूं, यदि तुम कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदी में पूछो, मैं तुम्हें उसमें बता सकूंगा', नेटाल में चरितार्थ होने लगा। हिंदी साहित्य का विधिवत अध्ययन और ऐतिहासिक संदर्भ का विश्लेषण बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही शुरू हुआ। इस विषय पर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका में जो हिंदी पहुंची, तथा जो आज सीखी-सिखायी जा रही है, वह उसी उद्गम स्रोत से जुड़ी है। इस बात पर भी प्रकाश पड़ेगा कि भाषा वैज्ञानिक राजेन्द्र मिस्त्री ने नेटाल/दक्षिण अफ्रीका में बोली जानेवाली भाषा को साउथ अफ्रीकन भोजपुरी नाम दिया, तथा उससे 'हिंदी' नाम को पृथक रखने का संकल्प प्रकट किया (राजेन्द्र मिस्त्री 1991: Prologue)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का आधुनिक काल सन् 1843 से माना है (1957 : 1) राजनीतिक-सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों से त्रिभुवन सिंह ने (2010 : 16) काल विभाजन को निम्न प्रकार से किया- रीति काल के पश्चात सन् 1875 से 1947 तक जागरण काल तथा 1947 से वर्तमान तक आधुनिक काल। शुक्लजी के आधुनिक तथा त्रिभुवन सिंह के जागरण काल का उल्लेख इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि 1843 से प्रारंभ होनेवाली कालावधि प्रवासी भारतीयों के लिए अर्थपूर्ण थी। यह सर्वविदित है कि भारत से श्रमिक के रूप में भारतीयों का प्रव्रजन सन् 1834 से प्रारंभ हुआ और आधिकारिक तौर पर 1917 तक चला। ये प्रवासी भारतीय अपने देश तथा परिजनों से अलग होकर हजारों मील दूर अत्यंत कष्टपूर्ण परिस्थितियों में श्रम तथा जीवन यापन किया। नेटाल- दक्षिण अफ्रीका में सन् 1860 से आए भारतीयों की दशा अन्य शर्तबंद मजदूरों अथवा गिरमिटियों की तरह थी। इन डायस्पोरा देशों में अभी भी उन्नीसवीं शताब्दी का भारत देखने को मिल जाएगा। उनकी भाषा, विचार पद्धति, रस्म-रिवाज सब परंपरा से प्राप्त विरासत के अनुरूप है। भाषा और उसका साहित्य/लोकसाहित्य सदियों से जो मूल्य तथा जीवन दृष्टि लेकर चल रहा था, उसका प्रभाव इन प्रवासी भारतीयों पर भी पड़ा। आदिकाल/ वीरगाथाकाल की रचना आल्हाखंड हिंदी गिरमिटियों में लोकप्रिय था। आल्हा की पंक्तियां (त्रिभुवन सिंह 2010 : 35)

वारह बरिस लें कूकुर जीयै औ तेरह लें जियै सियार

बरिस अठारह क्षत्रिय जीयै आगे जीवन के धिक्कार

भारतीयों को, विशेषतः क्षत्रियों को, युद्ध में आत्मबलिदान के लिए उद्बुद्ध करती है। यह उस समय (12 वीं सदी) की मांग थी। इसी तरह भक्तिकाल का कृष्ण भक्ति तथा रामभक्ति काव्य और कबीर की वाणी आध्यात्मिक सत्य की ओर प्रेरित करती थी। रीति/श्रृंगारकाल में भी जीवन में रस के साथसंयम की शिक्षा प्राप्त होती थी।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल

अलि कलि में ही बन्ध्यो, आगे कवन हवाल (बिहारी)

आधुनिक/जागरण काल आते-आते मानवीय समस्याएं एवं संघर्ष अपने सम्मिलित प्रभाव से संपूर्ण समाज को विघटित कर देती, यदि साहित्य और दर्शन न होते।

प्रवासी भारतीय अपनी भाषा का नाम भी ठीक नहीं जानते रहे होंगे (ग्रियर्सन- मिस्त्री 1991:

121) और इस समस्या को और भी जटिल बनाती है, वह स्थिति जिसे मिस्त्री ने “भोजपुरी को हमेशा गलती से हिंदी नाम देना” कहा है (1991:1)। फिर भी हिंदी भाषी इन कारणों से कभी परेशान नहीं हुए। जब गिरमिटिया भारतीय नेटाल में आए, उस समय South Africa नामक कोई देश नहीं था। अथः उनका इस तरह से गाना स्वाभाविक था :

कुली नाम धराया कुली नाम धराया

नेटालवा में आय के भजन करो भइया (मिस्त्री 1991:198)

गिरमितियों ने अपनी भाषा को नेटाली नाम से जोड़कर अपनी वास्तविकता के और भी निकट खींच लाए। नीचे हिंदी क्षेत्र की उपभाषाओं के नमूने द्वारा उन में साम्य स्पष्ट किया जाएगा। तथा उन्हें हिंदी के अंतर्गत रखने की आवश्यकता भी दिखेगी। हिंदी के इन घटकों को स्वतंत्र रूप तथा मान्यता प्रदान कर दी जाएगी तो (1) संविधान की आठवीं अनुसूची में जोड़ना पड़ेगा, तथा (2) उस उपभाषा/ बोली के बोलनेवालों की संख्या हिंदी से घटाना पड़ेगा और (3) नयी संवैधानिक भाषा के आधार पर स्वतंत्र राज्य की मांग हो सकती है। मैं मानता हूँ कि यह सब राजनीतिक बातें हैं, तथापि हिंदी का भारत की गरिमा एवं विश्व में उसकी प्रतिष्ठा में जो स्थान है, वह क्षीण हो जाएगा। क्योंकि ऐसे प्रयत्न हो चुके हैं, मैं दृष्टांत द्वारा अपने वक्तव्य का समर्थन करना चाहता हूँ। 17 मई सन् 2002 को राज्यसभा में एक गैरसरकारी संविधान संशोधक विधेयक प्रस्तुत किया गया था, जिसका उद्देश्य था राजस्थानी को आठवीं अनुसूची में स्वतंत्र भाषा के रूप में मान्यता दिलाना (राजेन्द्र शंकर भट्ट 2003 : 30)। ऐसी मांगों से हिंदी की रक्षा कैसे हो सकती है, बिना यथार्थ के जाने? गांधीजी ने हिंदुस्तानी को समर्थित किया था। पंडित नेहरू ने भी राजभाषा के रूप में आमफहम की भाषा हिंदी को समर्थन दिया था। उसको अब संकुचित करना कुचेष्टा ही है।

हिंदी की बोलियों को भाषा की गरिमा प्रदान करने के स्थान पर, बोलियों को हिंदी की सहायक तथा पोषक बनाना उचित होगा। जिस प्रक्रिया से बोलियां भी समृद्ध होंगी। इसी आशय का संकल्प वर्षों पूर्व अवधी अकादमी के अधिवेशन में पारित हुआ: हिंदी की बोलियों या लोकभाषाओं के अध्ययन-अनुसंधान, संवर्द्धन एवं विकास का उद्देश्य राष्ट्रभाषा की मुख्य धारा को शक्तिशाली बनाना तथा उसके विराट रूप को भारत तथा विश्व में उजागर करना हो (लल्लन प्रसाद व्यास 2007 : 3)।

गिरमिटिया हिंदी या रामचरितमानस की हिंदी?

भारत में कोई भी आंदोलन अपना परिणाम दीर्घ काल के बाद दिखाता है। भारतेतर देशों में मानक भारतीय राजभाषा हिंदी का अध्ययन-अध्यापन होता है, तथा फीजी एवं सूरीनाम में बोलियों से विकसित फीजी बात और सरनामी में साहित्य सृजन भी हो रहा है। इन गिरमिटिया देशों में कोई राजनीतिक उद्देश्य से इन नयी भाषाओं में सृजनकार्य किया जा रहा है। नेटाल/दक्षिण अफ्रीका में एक समय था जब भोजपुरी-अवधी मिश्रित साउथ अफ्रीकन भोजपुरी अस्तित्व में थी, और अनुसंधान द्वारा मिस्त्री ने बहुत हद तक उसकी विशेषताओं की खबर भी लिपिबद्ध कर दी। भोजपुरी के मोह का संवरण करके मानक हिंदी को स्वीकार करना और भोजपुरी में संचित लोकसाहित्य तथा लोकगीतों का हर्षपूर्वक प्रयोग करना एक सुगम मार्ग होगा। जैसे कि अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है : अवधी एक साहित्यिक भाषा या बोली है, और रामचरितमानस के होते वह क्षतिग्रस्त नहीं होगी। एक तथ्य और सामने आता है- कि रामचरितमानस पढ़ने के लिए भारतीय लोग हिंदी पढ़ते हैं। विमलेश कांति

वर्मा (1995 : 342) ने अपना मत निम्न प्रकार से प्रकट किया :

गिरमितिया मजदूरों के रूप में मॉरीशस, सूरीनाम, फीजी, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में गए। भारतीयों की रामचरितमानस पढ़ने की लालसा ने हिंदी अध्ययन के लिए प्रेरित किया। अवधी में लिखे रामचरितमानस ने हिंदी शिक्षण को विशेष प्रोत्साहन दिया।

उषा शुक्ल ने अपने रामचरितमानस संबंधी ग्रन्थों तथा प्रकाशित आलेखों में इसी आशय के विचार प्रकट किए हैं यथा (2011:181) : गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के द्वारा दोहरा लक्ष्य साधा है- स्वांतः सुखाय हेतु उन्होंने जन भाषा में श्रीराम के गुणों का गान किया और साथ-साथ हिंदी का समर्थन किया, ताकि वह अमर हो जाए।

दुर्भाग्यवश भोजपुरी की निधि में मानस जैसा रत्न नहीं था, जिससे वह जनता की जिह्वा पर बनी रहती। यह भी ध्यातव्य है कि 'रामचरितमानस' का आध्यात्मिक आकर्षण अवधी भाषा में रचे जाने से है, लोग तुलसीदास के दोहे, चौपाई तथा छन्द पढ़ने के लिए हिंदी सीखते हैं और मानस का गायन और पाठ आनंद का विषय है। वैसे अंग्रेजी में कई उत्तम अनुवाद प्राप्त हैं: उनका प्रयोग केवल सहायक के रूप में होता है। श्रीरामचरितमानस ने अवधी भाषा को अमरता प्रदान की, और गोस्वामी तुलसीदास ने हिंदी को एक विश्व भाषा बनाया। अन्यथा, फिल्म 'संत तुलसीदास' के गाने के शब्दों में 'तुलसी न होते तो हिंदी कहीं पड़ी होती।'

एक कहावत है अंग्रेजी में- नाम में क्या रखा है? विदेशों में प्रवासियों के साथ भाषा को लेकर यदि संघर्ष करना पड़ा- बोलियों को त्यागकर मानक हिंदी का ग्रहण करना, तो भारत में भी असमंजस में डाल देने वाली स्थितियां उत्पन्न हुईं। महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका में टूटी-फूटी हिंदी अथवा अवधी/भोजपुरी प्रधान हिंदी या नेटाली को सभी भारतीयों को सीखने को प्रेरित किया, जबकि अंग्रेजी अथवा स्थानीय भाषा जूलू का ज्ञान अधिक लाभदायक होता। उनके प्रयत्न में अंग्रेजी अवश्य बाधास्वरूप सामने आई (गांधी 1970:164)।

गांधीजी ने बोलियों/उपभाषाओं का नाम नहीं लिया। उनका मतलब था सरल, सर्वग्राह्य भाषा से जो राष्ट्रभाषा हो सकती थी। भारत में जब राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठा तो उन्होंने हिंदी/हिंदुस्तानी/उर्दू की सूक्ष्मताओं को छोड़कर खिलाफत प्रसंग में कहा था :

दिल्ली के मुसलमानों के सामने मुझे शुद्ध उर्दू में लच्छेदार भाषण नहीं करना था- बल्कि अपना अभिप्राय टूटी-फूटी हिंदी में समझा देना था। यह काम मैं मजे से कर पाया (1970 : 438)। वही हिंदी/उर्दू जब हिंदुस्तानी के परिधान में अवतरित हुई तो सर्वमान्य हो गयी (इरफान हबीब-'गांधीजी' 1995:21)।

गांधीजी के टूटी-फूटी विशेषण से मतलब है हिंदी का सर्वसुलभ होना। यह अर्थ कदापि नहीं निकालना चाहिए कि वह बोली जो हिंदी के निर्माण में घटक हो, वह अपूर्ण, पिछड़ी हुई अथवा भद्दी है। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी मानक हिंदी के भक्त आर्यसमाजी बनने से पहले हो गए थे। 'प्रवासी की आत्मकथा'(1947:50) में उन्होंने लिखा 'गांव वाले अशिक्षित और अज्ञानी थे, उनका रहन-सहन गंदा और बोली बहुत भद्दी थी।' उन्होंने ये पंक्तियां उस अनुभव के बारे में लिखी जो 12 वर्ष की आयु में दक्षिण अफ्रीका से अपने पूर्वजों के गांव पहुंचे (बिहार में)। उन्होंने नेटाली 'हिंदू' का प्रयोग किया वरन् नेटाली 'हिंदी' का नहीं। उन्होंने 'टूटी-फूटी' हिंदी को पहचाना (1947 : 169) और

समझौता किए बिना उसकी उपयोगिता को स्वीकृति दी। भाषा को लेकर हीन भावना सर्वत्र देखने को मिलती है। विशेषतः उन लोगों में जिन्हें भवानीदयाल ने 'निरक्षर भट्टाचार्य' संबोधन से विभूषित किया। ऐसे लोग अपनी 'जंगली' भाषा को हीन समझकर दूसरों को बहकाने के लिए कह देते हैं- वह यहां नहीं आगे बोली जाती है (राजेन्द्र मिस्त्री 1991 : 21) स्वामी भवानीदयाल जी के विषय में स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वे अपने विचारों एवं विश्वासों के पक्के थे, और आदर्शों की पूर्ति में हमेशा प्रयत्नरत रहे। वे हिंदू धर्म तथा भारतीय गौरव को शुद्ध वैदिक दृष्टिकोण से देखते थे। वे इन मूल्यों के प्रति समर्पित थे, और अपने प्रियजनों को भी साथ लेते थे। उन्होंने अपनी पत्नी जगरानी के बारे में कटु एवं व्यंग्यपूर्ण शब्द कहे थे- कि सुंदर थी लेकिन 'लिख लोढ़ा और पढ़ पत्थर' यानी अपढ़ थी। भाषा की बात तो अलग रहने दी जाए- आर्य समाजी प्रक्रिया 'शुद्धि' को लेकर भी उनका मत था कि परंपरागत सनातनी हिंदुओं को भी शुद्धि कराके आर्य समाज में प्रवेश मिलना चाहिए (1947 : 71)। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के नेटाल और ट्रान्सवाल प्रांतों में हिंदी की सेवा की, पाठशालाएं चलाई, पत्र भी निकाले और दो बार साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया। उनके साहित्य पर आगे चर्चा होगी।

(नेटाली) हिंदी का उत्स :

नेटाली हिंदी (या भोजपुरी या साउत अफ्रीकन भोजपुरी) को समझने के लिए भारतीय भाषाओं के विकास एवं वर्गीकरण का संक्षिप्त परिचय लाभदायक होगा। प्रो. विमलेश कांति वर्मा ने अपने ग्रंथ 'हिंदी और उसकी उपभाषाएं' में पृष्ठ 165 से यह समझाया है (केवल संबद्ध क्षेत्रों का उल्लेख यहां होगा)

- (क) पश्चिमी हिंदी वर्ग- खड़ी बोली, ब्रजभाषा, हरियाणी, बुंदेली, कन्नौजी ।
- (ख) पूर्वी हिंदी वर्ग- अवधी, बघेली, तथा छत्तीसगढ़ी जो आज के उत्तर प्रदेश, छत्तीसगढ़ तथा मध्य प्रदेश तक फैली है ।
- (ग) राजस्थानी वर्ग- मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी ।
- (घ) बिहारी वर्ग- भोजपुरी, मगही, मैथिली ।

मुख्य रूप से पूर्वी उत्तर प्रदेश (अवधी तथा भोजपुरी क्षेत्र) तथा पश्चिम बिहार (भोजपुरी क्षेत्र) से भारतीय श्रमिक नेटाल आए थे।

राजेन्द्र मिस्त्री (1991 : 25) ने जो आंकड़े दिए गए हैं, उसमें भोजपुरी भाषियों की संख्या 500 तथा अवधी की 447 दर्ज हैं। यह एक सर्वेक्षण का नमूना है जिसमें 1384 प्रवासियों की भाषा का ब्यौरा दिया गया है। अन्य भाषाओं में सबसे बड़ी संख्या कन्नौजी की है (69), और खड़ी बोली की 43। भोजपुरी अल्प बहुमत के आधार पर प्रथम स्थान पर है। मिस्त्री ने नामकरण को लेकर यह विचार व्यक्त किया है कि हिंदी के साथ सह- अस्तित्व के परिणामस्वरूप भोजपुरी हिंदी की एक किस्म मान ली जाती है। मिस्त्री लिखते हैं कि ग्रियर्सन महोदय भी इस वर्गीकरण की विसंगति से अवगत थे। निष्कर्ष यह निकलता है कि वैज्ञानिक वर्गीकरण तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के संदर्भ में ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक पक्षों को लेकर संघर्ष है (1991: 31)।

विमलेश कांति वर्मा (1995 : 39) का मत है कि हिंदी के अनेक रूपों में मारवाड़ी, खड़ी बोली, ब्रज अवधी तथा मैथिली- मुख्यतः साहित्यिक रचनाओं की भाषाएं हैं। हिंदी भाषा समष्टि का नाम है।

और विभिन्न भाषा रूपों का प्रतिनिधित्व मात्र खड़ी बोली करती है। विकास की संभावनाएं असीम हैं अतः भोजपुरी और अन्य ग्रामीण भाषाएं विकसित होकर 'हिंदी' कहलाने का अधिकार प्राप्त करेंगी।

दक्षिण अफ्रीका में अवधी, जो रामचरितमानस की भाषा है, भोजपुरी के अधीन है। भोजपुरी में लोकसाहित्य अवश्य है, लेकिन रामचरितमानस जैसी उत्तम, उदात्त एवं लोककल्याणकारी कृति के बिना वह साहित्यिक भाषा की संज्ञा से वंचित है। एक जमाना था जब भाषा राजनीतिक कारणों से या राज्याश्रय से उच्च स्थान हासिल करती थी। मुगल साम्राज्य के प्रश्रय में खड़ी बोली का सितारा बुलंद हुआ। डॉ. त्रिभुवन सिंह ने 'हिंदी साहित्य: एक परिचय' (2010 : 6) में लिखा है कि भोजपुरी डा. राजेन्द्र प्रसाद के (प्रथम राष्ट्रपति) कारण महत्वपूर्ण हुई, और उसे साहित्यिक स्तर दिलाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। डॉ. त्रिभुवन सिंह ने यह सत्य भी स्वीकारा है कि विद्वान लोग परिनिष्ठित भाषा में प्रवचन इत्यादि करते हैं परंतु अपने घर-परिवार में अपनी बोली बोलते हैं। स्वामी भवानी दयाल के घरेलू संभाषण के विषय में जानकारी नहीं है लेकिन एक रोचक तथ्य सामने आता है कि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के सान्निध्य में रहकर भी स्वामी भवानी दयाल ने भोजपुरी को अपनाया नहीं, जबकि भोजपुरी बाबू राजेन्द्र प्रसाद के बहाने मान्य हुई, और उन्होंने ही स्वामी भवानी दयाल के ग्रंथ (प्रवासी की आत्मकथा) का प्राक्कथन 17 अक्टूबर 1947 को लिखा था।

हिंदी के घटक :

ऊपर हिंदी की कुछ उपभाषाओं का वर्गीकरण दिया गया था, इस उद्देश्य से कि नेटाली हिंदी का स्वरूप स्पष्ट हो। उसी उद्देश्य से नीचे मानक हिंदी का कुछ अंश अनेक उपभाषाओं में दिया जाएगा (Verma 1995 : 179 से आगे) :

मानक हिंदी : एक राजा था। वह बहुत आलसी था।

उसका मन राज-काज में नहीं लगता था।

1. खड़ीबोली: एक राजा था। वो घणा आलस करता था।
(पश्चिमी) पृष्ठ 179 अर उसका अपने राज के काज में मन नी लगे था।
2. ब्रज एक राजा ओ। बु बहौत आलसी ओ।
(पश्चिमी) पृष्ठ 183 राज काजु में बाको मन नाय लगतौ ओ।
3. कन्नौजी एक राजा हतो। बहु बड़ो आलसी हतो।
(पश्चिमी) पृष्ठ 190 राजकाज मा बाको मनु नहीं लगति हतो।
4. अवधी एक राजा रहेन। वे बड़ा आलसी रहेन।
(पूर्वी पृष्ठ 209) काम-काज में ओनकर मन नाहि लगत रहा।
5. बघेली एक रहे राजा। व बहुत आलसी रहा।
(पूर्वी पृष्ठ 216) राज काम मा वाखर मन नहीं लागत रहा।
6. छत्तीसगढ़ी एक राजा रहिस। ओहर बड़ आलसी रहिस।
(पूर्वी पृष्ठ 220) इहां तककि ओखर मन हा राज काज मा घलो नइ लागत रहिस।
7. मारवाड़ी एक राजा हो। वो भोत आलसी थो।
(राजस्थानी पृष्ठ 232) राज का काम में बीको मनकोनी लागतो।
8. भोजपुरी एक राजा रहा। ऊ बहुत आलसी रहा।

(बिहारी पृष्ठ 261) राजकाज में ओका मन नहीं लगता रहा ।

9. मगही एगो राजा हलन । ऊ बड़ी आलसी हलन ।

(बिहारी पृष्ठ 264) राजकाज में उनकर मन न लग हलइ न ।

उपर्युक्त से हिंदी की उपभाषाओं की समानता स्पष्ट होती है । मारवाड़ी के नमूने में दूरी का प्रभाव दृष्टिगत होता है ।

मुझे यह प्रतीत होता है कि अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी भोजपुरी के अधिक निकट है । मगही का विशेषण 'एगो' भोजपुरी में प्रयोग में आता है । 'एक-गो' और 'एक-ठो' इत्यादि भी मिलते हैं ।

किस्सा-कहानी की पहली पंक्ति के इस शब्द से (एगो/एक ठो) दादी-नानी की किस्सागोई याद आ जाती है । नेटाल, दक्षिण अफ्रीका में आनेवाले भारतीय, जो हिंदी क्षेत्र के थे, ऊपर की बोलियों के कुछ रूप में वार्तालाप करते थे । वे एक ही जिले के भी होकर भिन्न बोली समूह के रहे होंगे । एक स्थान पर इन भिन्न प्रयोगों में से कुछ का रूपांतरण तथा कुछ का लोप हो गया । ऊपर के नमूने में 'एगो' एक ही बोली में दिखाई गयी है, जबकि नेटाली हिंदी में 'एक-ठो' 'दु-ठो' और एक 'ठौरा' सुनने को मिलते थे । भाषा समीकरण (Levelling) के सिद्धांत के अनुसार भी भेद कम होते गए (मिस्त्री 1991: 93) और नेटाल में जन्मी पहली पीढ़ी में बोलियों का सरलीकृत रूप प्रकट होने लगा था ।

हिंदी/नेटाली हिंदी/भोजपुरी का वैज्ञानिक अध्ययन :

दक्षिण अफ्रीका में हिंदी/भोजपुरी का वैज्ञानिक अथवा भाषा वैज्ञानिक अध्ययन/विश्लेषण प्रो. राजेन्द्र मिस्त्री ने किया । वे डर्बन- वेस्टविल विश्वविद्यालय में प्राचीन अंग्रेजी साहित्य पढ़ाते थे, तथा (Texas) विश्वविद्यालय से भाषा-विज्ञान में एम.ए. की उपाधि प्राप्त थे । 1980 के दशक में वे डर्बन-वेस्टविल के भारतीय भाषा के अध्यक्ष (और इन पंक्तियों के लेखक) के सह-निर्देशन में CapeTown विश्वविद्यालय से 'A Sociolinguistic History of Bhojpuri-Hindi in South Africa' शोध प्रबंध का पंजीकरण कराया । यह एक बृहद कार्य था, परंतु मिस्त्री ने भाषा वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर इस कार्य को सफलतापूर्वक समाप्त किया । इस शोध प्रबंध में पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार के भोजपुरी क्षेत्र के भारतीयों की भाषा, उसका विकास, विकार, हास तथा लोप की संभावनाओं पर उनके शोध का निष्कर्ष प्रस्तुत है । यह शोध कार्य ग्रंथ रूप में 'Language In Indenture' के नाम से Witwatersrand University द्वारा 1991 में प्रकाशित हुआ । भारत से बाहर हिंदी, हिंदी भाषियों तथा भारतीयों की संघर्ष यात्रा के इतिहास में यह शोध एक स्तुत्य योगदान है ।

मिस्त्री की खोज का एक नतीजा था भौगोलिक आधार पर भाषा का विश्लेषण तथा वर्गीकरण । पृष्ठ 64-65 पर भोजपुरी की क्रियाओं को लेकर यह वर्गीकरण हुआ है यथा तटीय (coastal) और पहाड़ी (uplands) । उदाहरण :

क्रिया- 'देख'

काल- 'भविष्यत्काल'

(क); तटीय क्षेत्र एक वचन तथा बहुवचन

हम देखब

तू देखबे

ऊ देखी

(क); पहाड़ी क्षेत्र एक वचन तथा बहुवचन
हम देखेगा
तू देखेगा
ऊ देखेगा/देखी

उपर्युक्त से यह तथ्य सामने आता है कि क्रियाओं के भेद से बोलियां अलग प्रतीत होती हैं। मिस्त्री ने यह जानकारी दी है कि तटीय क्षेत्र के क्रिया रूप दक्षिण अफ्रीकन भोजपुरी में स्थिर रूप है (जिस में एकवचन तथा बहुवचन एक सा है)। पहाड़ी या uplands की क्रियाओं का स्रोत उन्होंने मानक हिंदी से जोड़ा है। सुनीति कुमार चटर्जी की बाजार हिंदुस्तानी का 'एगो' रूप भी इससे संबद्ध है। नेटाल के पहाड़ी या uplands क्षेत्र तथा तटीय इलाके में, जैसे कि प्रांत और देश-भर में हो रहा है- आबादी बदल रही है। 1994 की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश भर में प्रवेश और निवास की छूट हो गई, तथा पुरानी, स्थापित बस्तियां उजड़ रही हैं। भाषिक परिस्थितियां भी बदल गयीं। अब तटीय हिंदीभाषी 'देखेगा' भी कह सकता है और पहाड़ी 'देखब'। दक्षिण अफ्रीका में आर्य समाज के अनुयायी, गुजराती मूल के लोग तथा पिछले 20 वर्षों से दक्षिण अफ्रीका में आए अनिवासी भारतीय यहां की नेटाली अथवा भोजपुरी से अविज्ञ है। यह अवश्य माना जाएगा कि भोजपुरी क्षेत्र के, या मॉरीशस निवासी हमारी भोजपुरी या नेटाली से काम ले सकते हैं। हमारी हिंदी पाठशालाओं में, तथा उन सरकारी-स्कूलों में जहां भारतीय भाषाएं पढ़ायी जा रही हैं, मानक या Standard Hindi पढ़ायी जा रही है। भोजपुरी और अन्य स्थानीय बोलियों का प्रयोग सीमित होते जा रहा है-पुरानी पीढ़ी के स्त्री-पुरुषों के एकांत में संभाषण, भोजपुरी/चटनी गाने अथवा फिल्मों की भाषा तक। आवश्यकता इस बात की है कि हम विरासत में प्राप्त भाषाओं के उन गुणों-तत्वों को बचाए, जिससे हमें मानसिक सुख तथा बौद्धिक संतोष प्राप्त हो। इन्हें हिंदी तथा जीवन की मुख्य धारा से जोड़ना चाहिए। इन में रचित धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक कृतियों का प्रयोग तथा सम्मान उपयुक्त अवसरों पर करना चाहिए।

प्रारंभिक हिंदी शिक्षा :

दक्षिण अफ्रीका में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का शिक्षण तथा उनके प्रचार-प्रसार भारतीयों का निजी मामला रहा है। 1860 से 1927 तक यहां जो भी सरकार शासन में आयी, गरीब मजदूरों के बच्चों को शिक्षा देने से इनकार करती थी। भारतीय मजदूर तथा उनके वंशज अपने बच्चों को उन्नीसवीं शताब्दी में चर्च अथवा नेटाल सरकार के स्कूलों से दूर रखना चाहते थे। वे धर्म परिवर्तन से भयभीत थे। इसके अलावा, प्रशासन गिरमिटिया भारतीयों को इस देश के अस्थायी निवासी मानते थे, जो आयकर भी नहीं देते थे (Henning 1993 : 165)।

अनेक शोधपत्रों में हिंदी और प्रवासी भारतीयों की प्रारंभिक स्थिति का ब्योरा दिया गया है। आगे कतिपय पत्रों की विवेचना की जाएगी। यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि सन् 1912 से हिंदू महासभा की स्थापना से धर्म के क्षेत्र में हिंदुओं को एक प्रतिनिधि स्वरूप संस्था मिली। हिंदी भाषा को 1948 तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। पंडित नरदेवजी वेदालंकार हिंदी तथा गुजराती के प्रशिक्षित अध्यापक थे अतः उन्होंने हिंदी शिक्षा की व्यवस्था स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा दृढ़ बनाई, और हिंदी शिक्षा संघ, दक्षिण अफ्रीका की स्थापना करके तथा 27 वर्षों तक उसकी बागडोर संभालकर हिंदी शिक्षा को

एक सुनियोजित तथा शैक्षिक दृष्टि से स्तरीय बनाया। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, की परीक्षाओं में उन्होंने 35-36 वर्षों तक हजारों छात्रों को प्रवेश दिलाया। आज हिंदी शिक्षा संघ स्वतंत्र रूप से परीक्षाएं चलाता है। इन पंक्तियों के लेखक तथा प्रो. उषा शुक्ल के मार्गदर्शन तथा सक्रिय सहभागिता से हिंदी आगे बढ़ रही है। यह स्थिति तभी संभव हुई जब तत्कालीन यूनिवर्सिटी ऑफ डर्बन-वेस्टविल में प्रो. सीताराम ने भारतीय भाषा विभाग का अध्यक्ष पद संभाला तथा हिंदी शिक्षण को उच्च शैक्षिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया (1971 से 1999 तक)। हिंदी शिक्षा संघ और उसकी वाणी- यानी हिंदवाणी रेडियो, हिंदी भाषा और संस्कृति को उच्च आदर्शों से युक्त, समीचीन तथा युगानुकूल बनाने के लिए संकल्पबद्ध है। हिंदी जगत तथा वैश्विक हिंदी शिक्षण प्रणाली से जुड़े रहना तथा उच्चतर हिंदी शिक्षा प्रदान करने की योजनाएं हिंदी शिक्षा संघ के विचाराधीन हैं। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के 'विदेशों में हिंदी शिक्षण हेतु मानक पाठ्यक्रम' पर भी ध्यान दिया गया, तथा उनमें से कुछ आवश्यक तत्वों को लिया जाएगा। हिंदी शिक्षा संघ हिंदी में 10+2 तक पढ़ाकर आगे बी.ए. के लिए महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से विचार-विनिमय करेगा।

हिंदी शिक्षा संघ के इतिहास में, आरंभ से ही अनेक हिंदी भाषी (तथा कुछ गुजराती भाषी) हिंदी की उच्च शिक्षा तथा प्रमाण पत्र प्राप्त कर चुके हैं। बाल गणेश उनमें से सर्वप्रथम थे जिन्होंने वर्धा की राष्ट्रभाषा रत्न की परीक्षा उत्तीर्ण की (1957 में)। गणेश हिंदी शिक्षा संघ के महामंत्री थे तथा छह वर्षों तक अध्यक्ष पद संभाला। बाल गणेश ने 1998 में हिंदी शिक्षा संघ की स्वर्ण जयंती के अवसर पर एक पुस्तिका तैयार की- 'The Hindi Language in South Africa'। इस पुस्तिका में हिंदी संबन्धी सूचनाएं मोटे तौर पर दी गयी हैं, फिर भी यह बहुत ही सटीक तथा उपयोगी है। पृष्ठ 3 पर गणेश ने यह स्वीकार किया है अवधी रामचरितमानस की भाषा होने के कारण दीर्घकाल तक जीवित रहेगी। इन का भी यह विश्वास है कि प्रव्रजन तथा अन्य कारणों से नेटाली हिंदी के क्षेत्रीय भेद लुप्त हो रहे हैं (1998 : 4)।

सन् 1860 से ही अंग्रेज प्लांटरो के खेतों में एक साथ बैरक्स में रहने से, और कुछ हद तक दक्खिनी उर्दू के संपर्क से, तमिल भाषी हिंदी आसानी से बोलने लगे, यद्यपि वह गांधीजी की टूटी-फूटी हिंदी ही रही होगी। बाल गणेश भाषा के विविध आयामों में रुचि रखते थे, तथा वे अपने पास-पड़ोस की भाषिक गतिविधियों पर ध्यान देते थे। निम्नलिखित संवाद में अम्मा एक तमिल भाषी माता है, और रानी हिंदी भाषी गृहणी :

अम्मा : बच्चा कैसे रहता, रानी?

रानी : नइ अच्छा रहता, अम्मा।

अम्मा : का हो गया?

रानी : छाट करता। पेट दुखता।

अम्मा : हवा पकड़ लिया। माली के पास लेजाना।

रानी : वो बोलता पहले डाक्टर को बताना।

ध्यान देने योग्य है कि नेटाली हिंदी बोलनेवाली रानी भी अम्मा के सादृश्य पर वैसे ही बोलती है, जैसे अम्मा बोलती है।

अगर नेटाली हिंदी जैसी कोई भाषा की श्रेणी है, तो ऊपर का संवाद भी उसमें आ जाएगा।

भाषिक प्रयोग जैसे 'है' के स्थान पर 'रहता', तथा झाड़ू-फूंक में आस्था ने प्रवासी भारतीयों को एक विशेष पहचान दिलायी।

इसके आगे गिरमिटियों के वंशजों द्वारा हिंदी भाषा पर किया गया कार्य, तथा हिंदी रचनाओं का सर्वेक्षण किया जाएगा। इस के पश्चात समसामयिक साहित्य सृजन पर ध्यान दिया जाएगा।

हिंदी चिंतन और सृजन :

इस खंड में पहले प्रारंभिक काल (सन् 1900) से की गयी हिंदी रचनाओं पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा जिससे 'पुरानी' हिंदी तथा बाजार की हिंदी भी दिखेगी।

नीचे 'इंडियन ओपिनियन' का हिंदी विज्ञापन है (23-01-1906 पृष्ठ 423) सनलाइट साबुन का। इससे उस समय की हिंदी भाषा का पता चलता है, और यह भी प्रतीत होता है कि अधिक से अधिक भारतीयों तक पहुंचने के लिए यह विज्ञापन 'हिंदी' में दिया गया है :

कपड़ा धोने के लिए सनलाइट साबुन

दुनिया में प्रख्यात हुए है सबब

प्रथम- इस साबुन से बारीक सुतर को कीसी

रकम- का नुकसान नहि होता है,

दूसरा- यह साबुन से धोने में दूसरा साबुन

से कमती तकलीफ लगता है।

तीसरा- यह साबुन की बनावट में जो

कभी कोई मलीनता साबीत कर देवे

तो उसको पौंड एक हजार इनाम दिया जाता है :

यह साबुन दुनिया में जास्ती खपते हैं

दृष्टव्य है कि छठी तथा ग्यारहवीं पंक्तियों की भाषा कुछ अटपटी सी है।

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के कुछ विचार पहले भी उद्धृत किए गए हैं।

अब उनकी साहित्यिक प्रतिभा तथा योगदान पर भी दृष्टिपात करना न्यायसंगत होगा।

स्वामीजी अपने विचारों तथा उद्गारों में कठोर प्रतीत होते हैं, विशेषतः अत्याचारी शासकों तथा धर्म-विरोधी आचरण करने वालों पर। फिर भी उनके अंतःकरण में असीम करुणा की स्रोतस्विनी विद्यमान थी। गिरमिटियों के नरकतुल्य जीवन के संदर्भ में उन्होंने 'प्रवासी की आत्मकथा' (1947 : 3) में लिखा :

वास्तव में उन अभागे भारतीयों की करुण कथा

इतनी विस्तृत, हृदय विदारक और मर्मस्पर्शी है कि यदि

पृथ्वी को पत्र और समुद्र को स्याही बनाकर लिखने बैठें

तो भी उसे यथावत अंकित कर सकना असंभव है।

ऊपर की पंक्तियां शर्तबंद मजदूरों या गिरमिटियों की वास्तविक कहानी है, जो सभी गिरमिटियों के देशों में घटित होती थी, और जिसका समाधान आत्महत्या तक पहुंच जाता था।

स्वामी भवानी दयाल अपनी आत्मकथा में नेटाल तथा भारत में भारतीयों पर अन्याय एवं क्रूर शासन के विरोध में संघर्षरत थे। स्वदेशी तथा स्वराज आंदोलन में शामिल होने पर उन्होंने यह लिखा:

(1947 : 62) मुझे तो मानो मुंह-मांगी मुराद मिल गयी है। मैं मस्त फकीर की तरह गांव-गांव घूमने और गला फाड़-फाड़कर स्वदेशी पर लेक्चर झाड़ने लगा। मैं गांव के आदमियों को निरा गंवार समझता और वे मुझे सनकी समझते।’

स्वामी भवानी दयाल भोजपुरी अथवा ग्रामीण हिंदी भी जानते थे, लेकिन धर्म की तरह, वे संभवतः भाषा को भी सुधार का विषय समझते थे। अपनी एक रचना ‘नेटाली हिंदू’ में जो नाटक शैली में लिखी गयी है, उन्होंने नेटाल के हिंदुओं का पिछड़ापन, उनकी धार्मिकता, नैतिकता तथा अंधविश्वास पर आधारित आचरण इत्यादि की भर्त्सना की है। इस उदाहरण से कई बातें स्पष्ट हो जाएंगी: (भवानी दयाल 1920 : 30)

भगतिनः ई जेकवा के मेहरूआ तो मोकै डाईन जान पड़त है। भौरे उठके नहाई और फिर बैठके मुनमुन करके मंतर पढ़ी अउर अंगार में घीव डाली के अगियारी करी। इ डाईन हमनी के डँस डाली। ई कहां से जेकवा के पल्ले पड़ गई।

स्वामी भवानी दयाल के अनुज देवी दयाल स्वामी के साथ हिंदी प्रचार कार्य करते थे। देवी दयाल ने ‘हिंदी आल्हा’ की रचना करके हिंदी आश्रम, डर्बन, नेटाल से 1916 में प्रकाशित किया। इस कृति में उन्होंने हिंदी के प्रति भारत और दक्षिण अफ्रीका में सद्भावना, तथा हिंदी के प्रचार-प्रसार पर आग्रह व्यक्त किया है। आल्हा विधा में जोश और संकल्प दिखाई देते हैं। देवीदयाल ने प्रारंभ में वंदना की:

पहिले सुमिरों श्री जगदिश्वर, जाकर नाम अलख ओंकार।

तब भारत में हिंदी की परिस्थितियों पर चर्चा करके वे लिखते हैं:

हिन्द की बातें हिन्द में रह गई, अब इस देश की सुनो विचार।

देवी दयाल को पता चला कि इंडियन ओपिनियन का स्वर्ण अंक अंग्रेजी, गुजराती तथा तमिल भाषाएं लेकर निकाला गया- हिंदी उसमें नहीं थी। यह देवी दयाल तथा अन्य हिंदी भाषियों के लिए आक्रोश का कारण था। हिंदी माता की अवहेलना का दुःख इस प्रकार व्यक्त किया गया :

माता रोवें तड़प-तड़प कर, दुःखकर हाय ठिकाना नाय

बीड़ा उठाता हूं मैं भैया, औ माता का करूं उद्धार।

आल्हा की शैली लोकप्रिय है- इस शैली में कही गई बातें रौद्र, वीभत्स, वीर तथा भयानक रसों का संचार करती हैं। डर्बन के पंडित बलीराम तुलसीराम, जो एक विद्वान तथा समाजसेवी सज्जन थे, इसी आल्हाछंद में ‘डर्बन का बलवा’ (यानी 1949 Riots) नामक काव्य सन् 1952 में डर्बन के Universal Printing Works में छपवाया।

13 जनवरी 1949 को डर्बन के भारतीयों पर जो वज्र टूटा उसका सत्य आज तक शायद सामने नहीं आया है। तुलसीराम ने जो आम जनता में प्रचलित था, वही भाव व्यक्त किया- कि गोरों को भारतीयों के प्रति घृणा तथा असहिष्णुता थी, व्यापार इत्यादि में गोरों भारतीयों के साथ होड़ में टिक नहीं सकते थे। इसी समय नयी Apartheid का निर्माण करने वाली सरकार बनी थी और वे भारतीयों के प्रत्यागमन (repatriation) के प्रयास में विफल हुए। सबसे अधिक आश्चर्य तथा दुःख की बात थी, और है, कि परंपरागत रूप से एक साथ रहने वाले भारतीय और अफ्रीकन एक दूसरे के शत्रु बन गए और एक दूसरे के लिए बुरे से बुरे अपशब्द का प्रयोग करने लगे और जघन्य अपराध पर उतर आए। कारण बतलाया गया था कि एक भारतीय व्यापारी ने एक अफ्रीकन युवा ग्राहक को चांटा

मार दिया जिसके परिणामस्वरूप उसे कुछ हल्की चोट लग गयी। इतने से ही एक नगरव्यापी दंगा शुरू हो गया; 1949 में, जब मामूली संचार की व्यवस्था नगण्य थी। इसके पीछे षडयंत्र की बू थी। इन पंक्तियों के लेखक को ठीक याद है जब उनके गांव के लोग- डर्बन से 40 मील दूर, शाम होते ही उनके परिवार के आंगन में जुट जाते थे, क्योंकि इस घर के चारों और कंटीले तार का बाड़ा था, और लोग सुरक्षा महसूस करते थे। उन दिनों लोग शुबहे और आतंक में जीते थे।

पं. तुलसीराम उस समय का अनुभव किया हुआ हाल 'डर्बन के बलवा' में सुनाते हैं। आल्हा छंद से भयानक/रौद्र तथा वीर रस का आभास सहज ही हो जाता है। शुरू में ही आल्हा पद्धति में गाते हैं।

सुमिरन करके ओंकार की, और ब्रह्मा को शीश नवाय ।

लिखूँ हकीकत बलवा वाली, जो नेटाल को दिया कंपाय।

पहले दिन के विवरण के बाद जिस में काले लड़के पर आक्रमण, पुलिस की अकर्मण्यता इत्यादि चित्रित है, कविवर लिखते हैं- (पृष्ठ 3)

यहां की बातें यहीं रह गयीं, दूसरे दिन का सुनो हवाल ।

पड़ी मुसीबत सब इंडियन पर, निद्रा भोजन हुआ मुहाल।

इसके बाद भारतीयों पर टूटने वाले वज्र का विवरण है। पं. तुलसीराम ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि गोरे और अफ्रीकन समाज में भी बहुत से लोग भारतीयों के प्रति सद्भावना रखते थे, तथा उनको बचाने की चेष्टा करते थे :

कितने हबशी अच्छे घरके, कई इंडियन को दिया बचाय (पृष्ठ 6)

कितने गोरन के टेक्सी में, बहुतन गोरे भए सहाय। (पृष्ठ 6)

यह काव्य एक दुखद घटना का विवरण देता है, फिर भी इसमें निहित भाषा संबंधी बातों की और ध्यान आकृष्ट होता है। पंडित तुलसीराम जूलू भाषा संबंधी मामूली जानकारी प्रदर्शित करते हैं, यथा 'कूला', 'मकूला' (कुली), च्वाला और शिमियाना (शराब), अम्फान (लड़का), शायामकूला (कुलियों को मारो)। पृष्ठ 10 का दमूला शब्द भारतीयों में प्रचलित था, चक्की (mill) के लिए, जैसे चीनी का दमूला (डमोला) जो मॉरीशस से आयात किया गया था। Creoleesa de moulin का अर्थ था चक्की। जैसे कि कहा गया है, यह घटना ऐतिहासिक है, और मानवीय संबंधों की क्षणभंगुरता की परिचायक है।

हिंदी में उच्च शिक्षा :

यूनिवर्सिटी ऑफ डर्बन-वेस्टविल के भारतीय भाषा विभाग में पूर्व स्नातक स्तर की हिंदी 3 वर्ष तक पढ़ाई जाती थी। तदुपरांत एक वर्ष का ऑनर्स कोर्स था, और MA Ph.D. शोध द्वारा प्राप्त की जाती थी। अनेक कारणों से, यद्यपि ऑनर्स तक की परीक्षाएं हिंदी में ही दी जाती थी, शोध प्रबंध अंग्रेजी में होते थे। 'रामचरितमानस' का व्यापक प्रभाव विद्यार्थियों के विषय-चयन से दृष्टिगत होता है। रोमीला रामकिसुन तथा अकेश सिंह ने मानस के विभिन्न नैतिक तथा आध्यात्मिक पहलुओं पर शोध किया। उदाहरणार्थ अकेश सिंह ने 'Ramayana as a basis for Moral Transformation in Society' विषय पर एम.ए. प्राप्त की। यह शोध प्रबंध प्रो. उषा शुक्ल तथा प्रो. सीताराम के संयुक्त निर्देशन में संपन्न हुआ। इस शोध के निष्कर्ष में यह तथ्य उल्लेखनीय है-

‘रामायण नैतिकता से ओत-प्रोत है, जब हम यह समझ लेंगे, तो स्पष्ट हो जाएगा कि रामायण आदर्श मानवता तथा आदर्श समाज के सभी गुणों से पूर्ण है (अंग्रेजी से अनूदित)।’

यह शोध-कार्य शिक्षा-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में किया गया था। मीना मोतीलाल ने भी अपना एम.ए. का शोध *Integral Development of the Child: Perspectives from Hindi Literature* शिक्षा क्षेत्र में किया। इसी प्रकार चंद्रिकादेवी महाराज ने हिंदी भाषा और सांस्कृतिक प्रगति पर एम.ए. का शोध किया।

प्रो. उषा शुक्ल के दो ग्रंथ *Ramacaritamanasa in South Africa* और *Ramcharitmanas in the Diaspora: Trinidad, Mauritius and South Africa* क्रमशः एम.ए. तथा पी-एच.डी. के शोध कार्य से संबद्ध हैं। दक्षिण अफ्रीका, मॉरीशस तथा ट्रिनीडाड में रामचरितमानस पर शोध करके प्रो. शुक्ल ने रामचरितमानस तथा रामभक्ति के लोककल्याणकारी, लोकरंजक स्वरूप को प्रकाशित किया, तथा हिंदी एवं रामचरितमानस का परस्पर संबंध भी दर्शाया : पहले लोग हिंदी सीखने के लिए मानस का सहारा लेते थे, अब मानस को पढ़ने के लिए हिंदी सीखते हैं।

दक्षिण अफ्रीका के हिंदी शिक्षक तथा विद्यार्थी अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में हिंदी की गतिविधियों से अवगत हैं। चतुर्थ विश्व हिंदी सम्मेलन 1993 मॉरीशस में संपन्न हुआ। उस समय से जितने विश्व हिंदी सम्मेलन हुए, उनमें दक्षिण अफ्रीका का प्रतिनिधित्व रहा है। इन पंक्तियों के लेखक को त्रिनिदाद में (1996) तथा जोहांसबर्ग, दक्षिण अफ्रीका में 2012 में सम्मानित किया गया। इन सम्मेलनों में जो आलेख पढ़े गए, वे प्रकाशित भी हुए- उदाहरण 1996 त्रिनिदाद में पढ़ा आलेख रवीन्द्र कालिया के संपादन में नवें विश्व हिंदी सम्मेलन की स्मारिका में प्रकाशित है-16 वर्ष पहले का आलेख ‘दक्षिण अफ्रीका में हिंदी भाषा और भारतीय संस्कृति’ आज भी प्रासंगिक है : उदाहरणार्थ:

‘दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीय 1860 से 1927 तक अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक प्रगति स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा अत्यंत कठिनाइयों का सामना करते हुए त्याग और समर्पण की भावना से प्रेरित होकर करते आए हैं।’ (2012 : 342)।

इसी आशय का एक लेख हिंदी तथा स्वैच्छिक संस्थाओं को लेकर ‘पंकज’ में इस प्रकार प्रकाशित है- ‘दक्षिण अफ्रीका में स्वैच्छिक संस्थाओं के द्वारा हिंदी भाषा का प्रचार’- ‘पंकज’ वर्ष 3, संख्या 6, 1996, हिंदी प्रचारिणी सभा, मॉरीशस।

भाषा और साहित्य पर हिंदी में इन पंक्तियों के लेखक के अनेक आलेख पंकज, प्रवासी संसार, गगनांचल, तथा अन्य प्रतिष्ठित प्रकाशनों में भी प्राप्य है। सन् 2011 की विश्व हिंदी पत्रिका (विश्व हिंदी सचिवालय, मॉरीशस) के वार्षिक अंक में प्रो. सीताराम का आलेख ‘दक्षिण अफ्रीका में हिंदी साहित्य’ पृष्ठ 121 पर छपा है। लिखने के समय तक समयाभाव तथा सामग्री की अनुपलब्धता के कारण बहुत सी बातें छूट गई थीं, जो इस आलेख में मिलेंगी।

प्रो. उषा शुक्ल की उपलब्धियां तथा योगदान उल्लेखनीय हैं। बचपन से ही हिंदी की छाया में पली प्रो.शुक्ल खुसरो की तरह ‘हिंदी की तूती’ हैं। उनका विश्वास है कि हिंदी से ही जीवन में उत्कर्ष संभव है। रामचरितमानस में विशेष रुचि के साथ हिंदी भाषा तथा साहित्य की सभी विधाएं उनको प्रिय हैं। अनेक सम्मेलनों में रामायण तथा हिंदी भाषा को लेकर उन्होंने आलेख प्रस्तुत किए, और इनमें से अधिकांश स्तरीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। हमारी स्थानीय शोध पत्रिका ‘निदान’ में, जो

हिंदू धर्मज्ञान तथा भारतीय भाषा विभाग की पत्रिका के रूप में अस्तित्व में आई, इनके लेख शामिल रहे हैं। अन्य प्रकाशनों में भी इनके हिंदी माध्यम के लेख छपे हैं। कुछ लेखों का यहां ब्योरा देकर उनके अंशों पर समीक्षा होगी।

विश्व हिंदी सचिवालय, मॉरीशस की पत्रिका 'विश्व हिंदी पत्रिका' के प्रथम अंक (2009) में प्रो. शुक्ल का 'दक्षिण अफ्रीका में हिंदी की संघर्ष गाथा' शीर्षक आलेख छपा है। इस आलेख में लेखक का हिंदी प्रेम तथा हिंदी भाषियों के भाषा-संबंधी संघर्ष के प्रति गाढ़ी सहानुभूति है- एक कारण तो स्पष्ट है कि प्रवासी भारतीय हमारे पूर्वज थे, दूसरा यह कि उनके मालिकों के हृदय में उनकी भाषा तथा संस्कृति के प्रति कोई दिलचस्पी अथवा सद्भाव नहीं था। उन्होंने लिखा है : 'भाषा और संस्कृति के निर्वाह के लिए भारतीय मजदूरों को संघर्ष करना पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में भारतीय श्रमिकों की मान्यता या प्रतिष्ठा जितनी कम थी, उससे कम मान्यता उनकी भाषा और संस्कृति की थी।' (2009 : 29)

राजेन्द्र मिस्त्री के ग्रंथ का नाम Language In Indenture संभवतः इसलिए रखा गया। प्रवासी भारतीय और उनकी भाषा दोनों गुलाम थे। यह तथ्य सर्वत्र मान्य है कि रामचरितमानस और हिंदी भाषा का अटूट संबंध है। इसी आशय का आलेख प्रो. उषा शुक्ल ने 'दक्षिण अफ्रीका में रामचरितमानस की भूमिका' शीर्षक से 'अनुकृति' में प्रकाशित किया। इस आलेख में प्रो. उषा शुक्ल ने विभिन्न विद्वानों के मतों का हवाला देकर स्थापित किया है कि सभी प्रवासी भारतीय देशों में विशेषतः जहां शर्तबंद मजदूर गए थे, वहां रामचरितमानस और कुछ अन्य कृतियां यथा हनुमान चालीसा 'संजीवनी' के समान थीं, और रामायण एक जीवित शास्त्र एवं परंपरा है। लेखक की मान्यता है कि 'यह हिंदी भाषा का परम सौभाग्य था कि वह श्रीराम और रामभक्ति के कल्याणकारी संदेश की वाहिका बनी। दक्षिण अफ्रीका में 150 साल बीत जाने पर आज विभिन्न नव-हिंदू धार्मिक संस्थाओं द्वारा रामभक्ति रामचरितमानस के आधार पर जन-जन तक पहुंचाई जा रही है, जिससे हिंदी को गरिमा प्राप्त होती है' (2012 : 1)।

हिंदी, हिंदी शिक्षा संघ तथा हिन्दवाणी :

उपर्युक्त उदाहरणों से यह धारणा दृढ़ होती है कि हिंदी और रामचरितमानस का मेल सोने में सुगंध मिलाने के बराबर है। हिंदी और रामचरितमानस संबंधी ये भाव तथा अभिव्यक्ति नेटाल, दक्षिण अफ्रीका की उपज है, इससे हमारी नेटाली हिंदी द्योतित होती है।

आज हमारी नेटाली/दक्षिण अफ्रीकी/हिंदी बहुत हद तक मानक या स्टैंडर्ड हिंदी है, लेकिन हम पुरानी नेटाली हिंदी/भोजपुरी से कतराते नहीं हैं। अवधी/भोजपुरी से मुंह मोड़कर हम अपनी जड़ों में कुल्हाड़ी मारने जैसा काम करेंगे। इसलिए इस खंड में पहले हम कुछ शब्दों की चर्चा करेंगे, तत्पश्चात् हमारी जीती-जागती हिंदी का दिग्दर्शन होगा। इससे पता चलेगा कि हिंदी भाषी अपनी भाषिक/साहित्यिक विरासत को 'हारिल की लड़की' की तरह पकड़े हुए है। हिंदी की शब्द संपदा अनेक बोलियों के योग से समृद्ध हुई है। उनमें से नेटाली हिंदी में पाए जानेवाले भोजपुरी/अवधी के शब्द आज भी सुनने को मिल जाएंगे :

पड़ाकी (पटाका), सिल-लोढ़ा, करछुल, थारी-लोटा, सहबाला, नाउन, दुलहा-दुलहिन, सादी, बरात, कोंहबर, लावा- मिलौवल, गारी-गवाई, भकोसना, ठूसना, हूरना, अंडचना, चिरौरी, घुरमुसहा,

पूड़ी- तरकारी, गदरा (गदराया हुआ) ।

शब्द जो लुप्त हो रहे हैं-

गलफुलौनिया (गल सूआ), नेपे नेपे चलना (लुक-छिपकर), हियाव (हिम्मत), चुल्हघुसरना (मर्द जो स्त्रियों में रहता है), ढीढ़ (पेट), टिटिम्मा (तंग करने वाली बातें), ऐंठना (बड़ाई करना), लदभेसर (भट्ठी), अझुराना (उलझना), चिदोरना (दांत दिखाना), छुँदर (स्त्री के लिए अपशब्द) ।

भोजपुरी के गाली-गलौज (गारी-गरौझ) के कई शब्द अभी भी प्रचलित हैं- अन्य भाषाओं के बोलनेवाले भी उधार लेते हैं। वास्तव में भोजपुरी/नेटाली हिंदी एक दमदार भाषा रही है।

उपर्युक्त सूचियां अपूर्ण हैं। ये लेखक की याददाश्त के आधार पर ली गयी हैं।

कहा जाता है कि जब व्यक्ति बोलने के लिए मुँह खोलता है तभी उसके भाषा- कौशल तथा ज्ञान के बारे में पता चल जाता है। हिंदी शिक्षा संघ दक्षिण अफ्रीका हिंदी के शिक्षण, प्रचार तथा प्रसार के लिए पूर्ण उद्यम कह रहा है। उसका रेडियो स्टेशन 'हिंदवाणी' जो निजी अर्थात् गैरसरकारी है, मूलतः एवं मुख्यतः हिंदी के विकास के लिए स्थापित किया गया था। उसका प्रसारण क्षेत्र सीमित है तथापि Audio Streaming के द्वारा लोग विश्व भर में हिंदवाणी रेडियो सुनते हैं अतः हमारा प्रयास इस दिशा में रहता है कि हिंदवाणी के कार्यक्रम रोचक, ज्ञानवर्द्धक, नियमानुकूल तथा भाषा की दृष्टि से यथासंभव शुद्ध हों।

हिंदवाणी पर आध्यात्मिक सत्संग के कार्यक्रम सवेरे और शाम को होते हैं (जागरण-संध्या) सुबह 6-7 बजे जागरण कार्यक्रम होता है। विभिन्न हिंदू संप्रदायों की आस्था के आधार पर यह सत्संग कार्यक्रम, जिसमें प्रवचन, पाठ तथा भजन सम्मिलित हैं, प्रसारित होता है। कार्यक्रम में स्वयंसेवक प्रस्तुतकर्ता बारी-बारी से एक घंटे का सत्संग करते हैं। कानून के अनुसार कार्यक्रम में हिंदी भाषा का प्रयोग 50 प्रतिशत होना चाहिए। इस कार्यक्रम के प्रस्तुतकर्ताओं का हिंदी ज्ञान भिन्न स्तरों का है, अतः श्रोता को खासकर विदेशों में रहने वाले हिंदी भाषियों को, यह भाषा त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो सकती है। दो सप्ताह तक इस कार्यक्रम का पर्यवेक्षण से नीचे दिए गए अशुद्ध प्रयोग पाए गए।

1. प्रस्तुतकर्ता की भाषा व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है।

मैं पढ़ेंगे, आपका I.D. तैयार रखना, मैं इस चीजें दूंगा (मैं ये पुरस्कार दूंगा) ऐसे प्रस्तुतकर्ता ज्ञान से पूर्ण होते हुए भाषा की कठिनाइयों के कारण अपनी बात श्रोता तक पहुंचाने में अपूर्ण सफलता पाते हैं।

2. हिंदी में उच्चारण की समस्याओं से यह सिद्ध होता है कि हिंदी साहित्य से या लिखित हिंदी से कम परिचय है, अथवा देवनागरी लिपि में पढ़ने में कठिनाई होती है:-

थता (तथा), सन्त्वाना (सान्त्वना), आक्रमान (आक्रमण), सहासी (साहसी), रहात (राहत), और कुछ गंभीर त्रुटियां- गदा के लिए गधा तथा विदुर के लिए विधुर। हिंदवाणी का प्रशासन इन बातों पर ध्यान दे रहा है, तथा इन पंक्तियों का लेखक भी उसकी शासी परिषद का सदस्य होने के नाते इस पर ध्यान देते हैं।

मधुर मनोहर हिंदी :

इन उदाहरणों के माध्यम से हिन्दवाणी की हिंदी की कुछ लघु समस्याएं दिखायी गयी हैं। इसके आगे हम विरासत में प्राप्त तथा हिंदी की विभिन्न बोलियों में रचित पद, (जो नेटाली हिंदी से भिन्न

नहीं समझे जाते हैं) के कुछ उदाहरण देखेंगे।

सर्वप्रथम विद्यानिवास मिश्र द्वारा संकलित 'वाचिक कविता: भोजपुरी' से यह मार्ग गीत देखा जाएगा, जो गिरमिट के संदर्भ में इसलिए विख्यात है, क्योंकि वनवास की उपमा के आधार पर गिरमिटिया भी अपने को श्रीराम की तरह निर्वासित समझते थे :

वन के चले दुनो भाई, केउ समझावत नाही
घर में रोवैं मातु कोसिल्या, दुअरे भरत अस भाई॥
आगे आगे राम चलत है, पाछे लछुमन भाई
तेकरा पाछे मातु जानकी, मधुबन लेत टिकाई॥ (विद्यानिवास मिश्र 1999 : 74)

ऊपर की पंक्तियों में से तीसरी पंक्ति प्रवासी भारतीयों के जीवन में इतनी बार कही-सुनी गई है, कि शायद ही हिंदी की कोई अन्य पंक्तियां इतनी बार दुहराई गई हो। ऐसी उक्तियों से भोजपुरी और अन्य उपभाषाएं/बोलियां हिंदी से एक साथ हो गयी हैं, और कोई नहीं पूछता है कि यह किस भाषा में लिखा है।

कुछ अन्य उदाहरण दिए जा रहे हैं, जो भारतीयों तथा नेटाल के हिंदी भाषियों के साथ आए थे, और उनकी भाषा तथा चेतना में समा गए हैं :

1. जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की
ताके जुगपद कमल मनावउँ। जासुकृपां निरमल मति पावउँ। (तुलसीदास)
2. पायोजी मैंने राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलिक दी मेरे सतगुरु
किरपा कर अपनायो॥ (मीरा)
3. अँखियां हरि दरसन की प्यासी।
देख्यों चाहत कमलनैनको
निसिदिन रहत उदासी॥ (सूरदास)
4. जाको राखे साइयां, मारि सकै नहि कोय
बाल न बांका करि सकै, जो जग बैरि होया॥ (कबीर)

ये दोहे और पद/पदांश हिंदी के तूणीर के चारों तीर लेकर आए- हिंदी की रक्षा इनके द्वारा चिरकाल तक होगी।

अब नेटाल/ दक्षिण अफ्रीका की हिंदी रचनाएं देखी जाएगी। उषा शुक्ल की 'प्रवासी हिंदी' की कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत है :

हिंदी भाषा है गंभीर मधुर
मां बच्चों के संबंध सेतु अटूट
अथाह, असीम, प्रगाढ़, प्रणम्य
चमत्कार दिखाती मातृभाषा हिंदी। (स्मारिका, चतुर्थ विश्व हिंदी सम्मेलन, मॉरीशस 1993)

हिंदी के प्रति यह श्रद्धा-भाव मातृभाषा के लिए अनुकरणीय है।

चतुर्थ से पंचम विश्व हिंदी सम्मेलन तक प्रगति करें, त्रिनिदाद में कवि सम्मेलन में प्रो. रामभजन सीताराम ने यह पाठ किया था (कुछ पंक्तियां)

हिंदी की विजय यात्रा

जय हिंदी जय हिंदी के विशारद
शत कोटि कंटों से उच्चरित
शताधिक देशों में समाप्त
बन रही मानवता की वाणी हिंदी

श्रद्धेय पुरोहित तथा हिंदी के प्रचारक पंडित रामनाथ शुक्ल की रचना उषा शुक्ल के Ramacaritamanasa in South Africa (2002 : 213) से ली गयी है :

भज रामनाम शुभनाम, प्रभु का नाम,
वह है अति प्यारा, दुनिया का है अधारा।
जिसने राम नाम गुण गाया है
उसने जगमें उत्तम फल पाया है,
वही रामनाम इस जीवन का एक सहारा
दुनिया का है अधारा। भज रामनाम

युवेश सुंदर द्वारा रचित/संकलित कुछ भोजपुरी के लोकप्रिय गीतों में से यह उदाहरण दिया जा रहा है- इसमें जीवन की खट्टी-मीठी अनुभूतियां समायी हुई हैं, तथा परंपरा में जकड़ी हुई भारतीय नारी की करुण कथा का बोध होता है :

सँझ्या मोरे मांगे गँवनवा रे, गँवनवा रे
मोरि छोटी उमरिया
ससुर मोरे भेजे पनिया भरनको, हम से न उठल गगरिया रे
गगरिया रे, मोरि छोटी उमरिया
जेठ मोरे भेजे अंगना बुहारन के, अंगना बुहारन के
हम से न उठल झुडुआ रे, मोरि छोटी उमरिया

चतुर्थ तथा पंचम विश्व हिंदी सम्मेलन से वापस लौटा जा रहा है जोहांसबर्ग, साउथ अफ्रीका में आयोजित नवें विश्व हिंदी सम्मेलन 21-24 सितंबर 2012। इस अवसर पर प्रकाशित स्मारिका, जो हिंदी शिक्षा संघ, दक्षिण अफ्रीका का योगदान थी, आज की हिंदी रचना का परिचय देती है। इस में संग्रहीत कविता तथा कहानी और निबंधों से पता चलेगा कि अब भवानीदयाल की भगतिन की तरह 'भोजपुरी' भाषी व्यक्ति नहीं मिलेगा। मॉरीशस में भोजपुरी का स्थान अलग है, वहां भोजपुरी सीखने के लिए जो सुविधा है यहां पर उपलब्ध नहीं होगी। मॉरीशस में डॉ. सरिता बुद्ध ने भोजपुरी इंस्टीट्यूट के माध्यम से भोजपुरी की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, और भोजपुरी व्याकरण तथा बोलचाल की भोजपुरी की पुस्तकें भी तैयार की है। दक्षिण अफ्रीका/नेटाल में शिक्षण के क्षेत्र में मानक हिंदी सिखायी जाती थी, और भोजपुरी 'किचन हिंदी' बनकर रह गयी अतः इन कृतियों में पाठक को मानक/परिनिष्ठित/खड़ीबोली का प्रमाण मिलेगा।

जीवन में अकसर देखा जाता है कि हम अपने देश और परिवेश को तब तक ध्यान नहीं देते, जब तक हम उससे हठात् अलग न कर दिए जाए। दक्षिण अफ्रीका राष्ट्र में, बिना युद्ध, आक्रमण, बाढ़, भूकंप अथवा अन्य किसी दैवी विभीषिका के, भारतीय मूल के लोगों को अपनी परंपरागत

बस्तियों को छोड़कर नयी बस्तियों में जाना पड़ा जहां एकदम नई शुरुआत करनी पड़ी, पृथग्वासन या। partheid के अंतर्गत। ऐसी हृदयविदारक स्थिति में हमें बचपन के संगी-साथी को छोड़कर अन्यत्र चला जाना पड़ता है।

यहां हमारी नेटाली हिंदी में रचना के कुछ नमूने एक नए कलेवर में प्रस्तुत किए गए।

नेटाल में हिंदी अपने विभिन्न रूपों में तब आई जब हिंदी की स्थिति भारत में भी दयनीय थी। गांधीजी 1893 में नेटाल में पधारे। उस समय वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा भारतीयों के हृदय में हिंदी के प्रति सम्मान जगाने, तथा अंग्रेज शासन से उसे मान्यता दिलाने में लगी थी। राकेश कुमार दूबे (2011: 43) के अनुसार नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना 16 जुलाई 1893 को हुई। दूबेजी ने तत्कालीन भारत में हिंदी की उपेक्षित और दयनीय स्थिति का वर्णन किया-

‘हिंदी बोलनेवाला तो गंवार कहा जाता था और वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था।’

अतः नेटाल में गांधीजी की हिंदी प्रचार की कोशिशें एक विशाल आंदोलन से जुड़ी थीं। संभवतः उन्हें इसका आभास नहीं था। नेटाल में हिंदी का पोषण अनेक व्यक्तियों तथा संस्थानों द्वारा हुआ, जिनमें आज हिंदी शिक्षा संघ अग्रगण्य है। हमारी पुरानी बोलियां यथा भोजपुरी हमें धरती से जुड़े रहने की प्रेरणा देती है- धरती की सुगंध की तरह- जबकि आज की मानक हिंदी उसी धरती से उपजे पौधे के फूलों की सुगंध है, जो चारों ओर वातावरण में व्याप्त है। इन दोनों की ही हमारे जीवन में आवश्यकता है।

संदर्भ :

A: Books & Published Articles

1. भट्ट, आर.एस., 2003, विश्व हिंदी दर्शन, भाग 25, संख्या 1, दिल्ली, विश्व साहित्य संस्कृति संस्थान।
2. दयाल, डी., 1916, हिंदी आल्हा, डरबन हिंदी आश्रम।
3. दुबे, आर.के., 2011, हिंदी और काशी की नागरी प्रचारिणी सभा, में विश्व हिंदी पत्रिका 2011, मॉरीशस, विश्व हिंदी सचिवालय।
4. गांधी, मोहनदास करमचंद, 1970, सत्य के प्रयोग, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।
5. Ganesh, B. 1998. *The Hindi Language in South Africa*, Durban.
6. Habib, I. 1995. “Gandhiji” in *Addressing Gandhi*, Delhi, SAHMAT Prakashan.
7. Henning, CG. 1993. *The Indentured Indian in Natal (1860-1917)*, New Delhi, Promilla and Company.
8. Mesthrie, R., 1991. *Language in Indenture*, Johannesburg, University of Witwatersrand Press.
9. मिश्रा, वी.एन., 1999, वाचिक कविता भोजपुरी, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ।
10. सन्यासी, भवानी दयाल, 1920, नेटाली हिंदू नवजीवन निवेध माला, संख्या 5, इंदौर, मार्च 1920 सरस्वती सदन।
11. सन्यासी, भवानी दयाल, 1947, प्रवासी की आत्मकथा, नई दिल्ली, राजहंस प्रकाशन।
12. शुक्ल रामचंद्र, 1958, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा।
13. Shukla, Ramnath. 2002. *Sri Rama Bhajan*, in Shukla, UD: Ramacaritamanasa in South Africa, Delhi, Motilal Banarsidass Publishers.

14. शुक्ला, यू.डी., 1993 प्रवासी हिंदी, स्मारिका शिक्षा एवं संस्कृति विभाग, मॉरिशस सरकार।
15. शुक्ला, यू.डी., 2002, दक्षिण अफ्रीका में रामचरित मानस, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास।
16. शक्ला, यू.डी., दक्षिण अफ्रीका में हिंदी को संघर्ष गाथा, विश्व हिंदी पत्रिका मॉरीशस, विश्व हिंदी सचिवालय।
17. Shukla, UD. 2011. *Ramcharitmanas in the Diaspora: Trinidad, Mauritius and South Africa*, Delhi, Star Publications.
16. शुक्ला, यू.डी., 2012, दक्षिण अफ्रीका में रामचरितमानस की भूमिका की अनुकृति, भाग-2, सं. 6, जुलाई-सितंबर 2012, वाराणसी, सृजन समिति।
17. सिंह, त्रिभुवन, 2010, हिंदी साहित्य : एक परिचय, वाराणसी, संजय बुक सेंटर।
18. सीताराम, आर. दक्षिण अफ्रीका में स्वैच्छिक संगठनों के द्वारा हिंदी भाषा का प्रचार, पंकज, भाग 3, सं. 6, मॉरीशस, हिंदी प्रचारिणी सभा।
19. सीताराम, आर. 2011, दक्षिण अफ्रीका में हिंदी साहित्य, विश्व हिंदी पत्रिका, मॉरीशस, विश्व हिंदी सचिवालय।
20. सीताराम, आर. 2012, दक्षिण अफ्रीका में हिंदी भाषा और भारतीय संस्कृति, रवींद्र कालिया (संपा.), भाषा की अस्मिता और हिंदी का वैश्विक संदर्भ, दिल्ली, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार।
21. तुलसीराम, बी., 1952, डरबन का बलवा, डरबन यूनीवर्सिटी प्रिंटिंग प्रेस, डरबन।
22. वर्मा, विमलेश कांति, 1995, हिंदी और उसकी उपभाषाएं, दिल्ली, सूचना प्रसारण मंत्रालय, (प्रकाशन विभाग) भारत सरकार।
23. व्यास, एल.पी. 2007, विश्व हिंदी दर्शन, भाग 29, सं. 2, दिल्ली, विश्व साहित्य संस्कृति संस्थान।

B: Newspapers / Brochures

1. Hindi Shiksha Sangh, Dakshin Afrika. 2012. Souvenir Brochure: Extracts from Poems of Malthie Ramballi, Bhavani Prithipal, Shamlu Dukhan, Githa Rampersadh, Kisson Bihari, Champa Bositsumune; and "Reminiscence" of Beena Parasnath
2. Indian Opinion: Durban 1906. 23-01-1906.

C: Songs / Compilations

- Sundar, Yuvesh: Bhojpuri Song: *mori chhoti umariya*.



डेनमार्क में हिंदी व भारतीय संस्कृति

अर्चना पैन्चूली

हरेक देश की एक निजी भाषा होती है। ऐसे में कोई भी भाषा चाहे वह कितनी ही विशिष्ट क्यों न हो विदेशी भूमि में बहुत अधिक महत्व प्राप्त नहीं कर सकती। फिर हम हिंदुस्तानी तो विभिन्न भाषाओं में बंटे हैं। पूरा हिंदुस्तान भाषाओं के आधार पर विभाजित है। एक बहुभाषीय देश होने के कारण हिंदी को देश की राजभाषा बनने में भी संघर्ष का सामना करना पड़ा। फिर विदेशों में जिनका स्थानांतरण हुआ उनमें पंजाबी, गुजराती बहुतायत हैं। वे अपनी भाषा पंजाबी व गुजराती मानते हैं। बंगाल व दक्षिण भारतीयों की अपनी अलग भाषाएं हैं। यहां तक की हिंदीभाषी भी हिंदी पर उतने निर्भर नहीं रहते जितने कि चीन, जापान, स्पेन, पुर्तगाल व अरब आदि देशों के नागरिक अपनी भाषाओं पर रहते हैं। यह देखने में आया कि डेनमार्क में अस्पताल जैसे केंद्रों में मरीज व डॉक्टर के मध्य संदेश-संवाद के लिए चीनी अनुवादक, अराबिक अनुवादक हैं। यहां तक कि पंजाबी व उर्दू अनुवादक हैं। मगर हिंदी अनुवादक की कोई आवश्यकता नहीं। इमीग्रेशन आदि राजसेवा विभागों में सूचनाएं विश्व की कई भाषाओं में अनुवादित रहती हैं, हिंदी को छोड़ कर। जब किसी अंतरराष्ट्रीय सूचना पट पर विश्व की प्रमुख भाषाओं का जिक्र होता है, वहां हिंदी का नाम अकसर नहीं होता।

क्यों लोग हिंदी सीखें? एक बहुराष्ट्रीय कंपनी के किसी कार्यकर्ता को अगर अपने कार्य के सिलसिले में हिंदुस्तान जाना है तो उसे हिंदी सीखने की क्या आवश्यकता? वहां सभी नगरीय लोग अंग्रेजी जानते हैं। वहां सरकारी संस्थानों से संचार-संवाद करने के लिए स्थानीय भाषा की कोई आवश्यकता नहीं। अंग्रेजी से काम चल जाता है। इन सब तथ्यों ने हिंदी के उपयोग को सीमित किया है। विश्व में इतनी बड़ी तादाद में हिंदी बोलने वाले होने के बावजूद हिंदी भाषा सीखना एक उतना बड़ा व्यापार नहीं है, जितना कि चाइनीज, रशियन व अरबियन आदि भाषाओं को सीखना है।

हिंदी-अनौपचारिक रूप :

किसी देश की भाषा की मांग विश्व में उस देश की राष्ट्रीय शक्ति को चित्रित करती है। हिंदी हमारी मातृभाषा ही नहीं, अपितु यह हमारी संस्कृति और परंपराओं की संवाहिका भी है। अगर हम हिंदी के स्वरूप को वर्णमाला के स्तर से हटा कर एक विस्तृत रूप में परखें जैसे पौराणिक कथाएं, धार्मिक ग्रंथ, अध्यात्म, दर्शन, नृत्य नाट्य, संगीत, भोजन इत्यादि तो हिंदी का एक परिवेश विदेश में अवश्य नजर आता है। हिंदी के वैश्विक प्रचार-प्रसार में देश-विदेश में होने वाले सामाजिक,

सांस्कृतिक व धार्मिक क्रियाकलापों एवं गतिविधियों की अहम भूमिका है। इस संदर्भ में हिंदी सिनेमा व संगीत का योगदान भी उल्लेखनीय है। बॉलीवुड फिल्मों में हिंदी के अस्तित्व को बनाए हुए हैं। विदेशों में आए दिन आयोजित होते भारतीय धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक कार्यक्रमों को देखकर महसूस होता है कि हिंदी विदेशों में निःसंदेह जीवित है।

आप्रवासियों द्वारा हिंदी व भारतीय संस्कृति का संरक्षण :

विश्व भर में हिंदुस्तान एक ऐसा देश है जहां से काफी बड़ी तादाद में हर वर्ग के लोग दूसरे देशों में प्रवास करते हैं। आज भूमंडल के हर देश में भारतवासी बसे हैं। हिंदुस्तानियों ने जिन भी देशों में प्रवास किया वहां अपनी भारतीय संस्कृति व धार्मिक प्रथाओं को सहजने की भरसक कोशिश की। विश्व का अगर एक छोटा सा क्षेत्र स्कैंडिनेवियन देशों की बात करें तो आंकड़े बताते हैं कि सभी स्कैंडिनेवियन देशों में हिंदी समितियां, हिंदी सांस्कृतिक व धार्मिक संस्थाएं हैं जो समय-समय पर भारतीय तीज-त्यौहारों, राष्ट्रीय दिवसों व अन्य अवसरों पर सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करती रहती हैं। इन कार्यक्रमों में हिंदी भाषा का ही उपयोग होता है। डेनमार्क में नाना प्रकार की भारतीय संस्थाएं हैं : इंडियन डेनिश सोसाइटी, ऑल इंडियन कल्चरल सोसाइटी डेनमार्क, इंडियंस इन डेनमार्क, मिलाप घर, डेनमार्क तेलुगू एसोसिएशन, बंगाली एसोसिएशन, जो भारतीय त्यौहारों व राष्ट्रीय दिवसों पर कार्यक्रम आयोजित कर विदेशों में बसे भारतीयों को अपनी जड़ों से जोड़े रखती हैं और भारतीय संस्कृति को सहेजे हुए हैं।

कुछ उल्लेखनीय बिंदु :

कोपनहेगन में कुछ संस्थाएं संस्थाएं व व्यक्ति हैं जो भारतीय शास्त्रीय नृत्य व हिंदी सिनेमा गीतों पर नृत्य पाठशाला चला रहे हैं। उदाहरण के तौर पर ब्रिटिश महिला लूसी बेनन ओडीसी व हिंदी सिनेमा पर नृत्य पाठशाला चलाती है। डेनिश महिला ऐनेमेटे कार्पन, प्रसिडेंट ऑफ इंडियन म्यूजिक सोसाइटी भारतीय संगीत पर पाठशाला चला रही है। मनबीर सिंह की अध्यक्षता में चलने वाले ऐशियन म्यूजिक सोसाइटी स्कूल में काफी देशी-विदेशी तथा हिंदी-अहिंदी भाषी भारतीय वाद्य व संगीत सीखने आते हैं। इस संस्था ने डेनमार्क में भारतीय शास्त्रीय संगीत को जिंदा रखा है। राष्ट्रीय संगीत के रागों पर जब अफगानी, पोलिश व ब्रिटिश गोरी नर्तकियां मंचों पर थिरकती हैं तो दर्शक रीझ जाते हैं। डेनिस थोमसन की धमाका भांगड़ा टीम दीवाली, होली व अन्य भारतीय उत्सवों में रंगमंच पर नृत्य प्रस्तुत कर दर्शकों को भाव-विभोर कर देते हैं।

बॉलीवुड के गीत व नृत्य बाहर विदेशों में मशहूर हैं। इधर-उधर आयोजित होने वाले कार्यक्रमों में जब हिंदी गानों पर गोरे कलाकार भी अपनी कलाबाजी दिखाते हैं तो दर्शक ताली व सीटी बजाना नहीं छोड़ते। बॉम्बेय रोकर्स में गोरे डेनिश नवयुवकों को हिंदी गीत गाते देख लोग अपनी जगह से उठकर झूमने लगते हैं। राजस्थान के मुरारी लाल हरेक वर्ष डेनमार्क पधारकर भारतीय संगीत की क्लासेज देते हैं और गर्मियों के सुहावने मौसम में शहर के विशाल व मशहूर पार्क में भारतीय लोक गीतों व बॉलीवुड गीतों पर लोगों को नृत्य सिखाते हैं। यहां तक कि कई विदेशी सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाएं व कोपनहेगन यूनिवर्सिटी जब तब अपने कार्यक्रमों में भारतीय स्थानीय कलाकारों को आमंत्रित करती हैं। भारतीय लोक गीत, शास्त्रीय संगीत व फिल्मी गानों पर नृत्य प्रस्तुत करने के लिए। हिंदी गाने व नृत्य दर्शकों द्वारा अति सराहें भी जाते हैं। डेनिश महिला अनिता लर्चे पंजाबी

व बॉलीवुड गीत गाने के लिए डेनमार्क में अति प्रचलित है।

मंदिरों में धार्मिक क्रियाकलाप निरंतर चलते रहते हैं। मंदिरों से वितरित होने वाले सभी पत्र विशुद्ध हिंदी भाषा में ही निकलते हैं। उदाहरण के तौर पर डेनमार्क के भारतीय मंदिर में हरेक वर्ष रामायण, महाभारत, दुर्गा अष्टमी पर हिंदी में प्रवचन आयोजित होते रहते हैं। भारतीय समाज की पुरानी व नई पीढ़ी भारी संख्या में सुनने आती हैं। यहां भजन-कीर्तन, पूजा-पाठ सब हिंदी में होता है।

इनके अलावा विदेशों में भारतीय प्रभाव की कई आध्यात्मिक संस्थाएं हैं, जोकि विदेशियों को प्रभावित करती हैं जिसमें 'आर्ट ऑफ लिविंग', 'सहज मार्ग', 'मां आनंदमयी' आदि शामिल हैं। योगा व मेडिटेशन का महत्व दिन पर दिन बढ़ रहा है। आंतरिक शक्ति व शांति की कामना ने भारतीय अध्यात्म को पश्चिम में बड़ी लोकप्रियता दिलाई है। हिंदी व भारतीय संस्कृति का प्रभाव इन केंद्रों में स्वतः ही देखने को मिलता है।

विदेशों में हिंदी का प्रचार करने का श्रेय हिंदी फिल्मों को काफी कुछ जाता है। बॉलीवुड फिल्मों, जोकि हिंदी सिनेमा के नाम से भी जानी जाती है, का विदेशों में काफी बाजार है। अफगानिस्तान, पाकिस्तान, बांग्लादेश, खाड़ी प्रदेश, इजराइल, रूस व लेटिन अमेरिका में हिंदी फिल्मों पहले से ही लोकप्रिय रही हैं। अब डेनमार्क व अन्य स्कैंडिनेवियन देश, स्वीडन, नार्वे आदि देशों में भी इनकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। लगभग सभी स्कैंडिनेवियन पुस्तकालयों में बॉलीवुड फिल्मी कैसेट व डी.वी.डी.ज. रहती हैं जिन्हें लोग किराए पर ले सकते हैं। कोपनहेगन में एक सार्वजनिक पुस्तकालय के लाइब्रेरियन का कहना है कि हिंदी पुस्तकें उनके पास लेने कोई नहीं आता मगर बॉलीवुड फिल्मों की डीवीडी लेने काफी लोग आते हैं।

भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी :

उल्लेखनीय है कि वैश्वीकरण के इस युग में जब दूरियां घट रही हैं, विभिन्न समुदायों के बीच पारस्परिक विचार-विमर्श बढ़ रहा है, कई मुल्क एक साथ मिलकर व्यापार करने लगे हैं तो हिंदी को इधर थोड़ी अहमियत मिलनी शुरू हुई है। कम से कम विदेशी लोग हिंदी भाषा के अस्तित्व को जानने तो लगे हैं। सुनने में आया कि डेनमार्क स्थित 'स्टुडियो स्कूले' नामक एक प्रतिष्ठित लैंग्वेज स्कूल के हिंदी डिपार्टमेंट में अपेक्षाकृत अब काफी विद्यार्थी हैं। वहां विदेशियों को हिंदी पढ़ाने वाली श्रीमती रजनी बहल कहती हैं कि पहले सीटें भरनी बड़ी मुश्किल होती थी लोग सिर्फ चाईनीज व जापानीज सीखने आते थे मगर अब अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापार बढ़ जाने व इंडिया की इकोनॉमी सुदृढ़ हो जाने की वजह से लोग हिंदी सीखने लगे हैं। पहले विदेशी भारत को एक दरिद्र देश समझते थे। वे सोचते थे एक गरीब मुल्क की भाषा जानकर वे क्या करेंगे? मगर भारत की आर्थिक स्थिति बेहतर बनते देख विदेशियों में भारतीय राष्ट्र भाषा के प्रति रुझान बढ़ रहा है।

तीन प्रकार के विद्यार्थी श्रीमती बहल के पास हिंदी सीखने आते हैं- एक जो इंडियन कंपनियों के साथ मिलकर व्यापार कर रहे हैं। दूसरे, जो इंडियन कूकिंग सीख रहे हैं और इस सिलसिले में उनका भारत जाना भी होता है। इन दो श्रेणी के लोगों को बस बोल-चाल के लिए हिंदी जानने में रुचि है। तीसरा, युवा समुदाय जिसे भारत संस्कृति व दर्शन में जिज्ञासा है, ढंग से हिंदी पढ़ना व लिखना जानना चाहता है।

श्रीमती बहल का कहना है कि विदेशियों को हिंदी सिखाने में उन्हें एक दिक्कत यह होती है कि उचित विषय सामग्री, यानी मेटेरियल्स उपलब्ध नहीं हैं। किस सरल तरीके से विदेशियों को हिंदी व्याकरण सिखाई जाए, यह समस्या बनी रहती है। हिंदी की अभ्यास पुस्तिका सरल व व्यावहारिक नहीं है, जटिल है। यूरोपियन के लिए उसकी भाषा बहुत ही क्लिष्ट है।

इस संदर्भ में एक बिंदु यह भी उभरकर आया कि हिंदी में सरल भाषा में वयस्क लोगों के लिए उपन्यास उपलब्ध नहीं हैं, जैसे कि डेनिश, स्पेनिश व अन्य भाषाओं में उपलब्ध हैं। जिस हिसाब से किशोरों के लिए अंग्रेजी व अन्य यूरोपीय भाषाओं में रोचक उपन्यास लिखे जाते हैं, उस मुकाबले हिंदी में संख्या न के बराबर है।

हिंदी शिक्षिका श्रीमती कुमुद माथुर ने डेनमार्क में बीस वर्षों तक प्रवासी भारतीयों के बच्चों को हिंदी सिखाई है। बच्चों को हिंदी सीखने की यह सुविधा डेनिश सरकार की तरफ से उपलब्ध थी। बच्चों का हिंदी स्कूल 15-16 वर्षों तक तो अच्छा चला, फिर किसी तरह घिसटते-घिसटते अंततः बंद हो गया। श्रीमती माथुर का कहना है कि स्कूल बंद होने के तमाम कारणों में से एक कारण यह भी था कि अपने भारतीय बच्चों में अपनी मातृभाषा सीखने की उतनी ललक नहीं रहती जितनी अन्य देशों, जापानी, अरबी व चाईनीज बच्चों में रहती है। उनके स्कूल वहां अब भी चल रहे हैं। कुमुद माथुर के लिए सबसे बड़ी चुनौती बच्चों में हिंदी के प्रति रुचि बनाए रखने की थी, क्योंकि हिंदी के प्रति हिंदुस्तानियों में उदासीनता है। पहली पीढ़ी के अभिभावकों में फिर भी चाहत थी कि उनके बच्चे हिंदी सीखें। समय के साथ हिन्दुस्तानियों में हिंदी सीखने व पढ़ने की जिज्ञासा कम हो रही है। आजकल के तो माता-पिता ही कहते हैं- 'हमारे बच्चे हिंदी पढ़कर क्या करेंगे?'

हिंदी-औपचारिक स्तर पर :

सामाजिक क्रियाकलाप व सांस्कृतिक गतिविधियां निःसंदेह हिंदी के विकास में सहायक कड़ियां हैं। अगर अनौपचारिक स्तर से हटकर औपचारिक स्तर पर विदेशों में हिंदी का विश्लेषण करे व विदेशी विश्वविद्यालय में हिंदी की स्थिति आंके तो डेनमार्क में कुछ आंकड़े इस प्रकार मिलते हैं :-

विभिन्न स्कैंडिनेवियन देशों के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में 'eoiSayana sTDIja,' saa, qa eoiSayana irlaoTD irsa & ca, aM eDukoSana' एवं 'डिपार्टमेंट ऑफ क्रॉस कल्चरल एंड रिजनल स्टडीज' शिक्षण विभाग मौजूद है। डेनमार्क की कोपनहेगन यूनिवर्सिटी में 'डिपार्टमेंट ऑफ ऐशियन स्टडीज' एवं डिपार्टमेंट ऑफ क्रॉस कल्चरल एंड रिजनल स्टडीज के अंतर्गत विषय इंडोलोजी गत पचास वर्षों से कार्यशील है।

वर्तमान में इंडोलोजी दो विभागों में विभक्त है- क्लासिक इंडोलोजी एवं न्यू (नवीन) इंडोलोजी। क्लासिक इंडोलोजी के अंतर्गत भारतीय संस्कृति, भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन, भारतीय बुद्धिज्म पर पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। कोर्सेस संस्कृत व पाली में पढ़ाए जाते हैं मगर संस्कृत इनमें प्रमुख है। क्लासिक इंडोलोजी के अध्यक्ष अमेरिकन नागरिक प्रोफेसर केनेथ ज्यूस्क, जो संस्कृत भाषा के विद्वान है, संस्कृत पढ़ाते हैं।

'न्यू इंडोलोजी' के अंतर्गत हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं के साथ भारत के समाज, इतिहास वगैरह विषयों पर पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। वर्तमान शैक्षणिक सत्र में कोपनहेगन विश्वविद्यालय के

‘न्यू इंडोलोजी’ अथवा ‘माडर्न इंडिया स्टडीस’ डिपार्टमेंट में कुल पच्चास विद्यार्थी हैं- पंद्रह-बीस विद्यार्थी बी.ए. फर्स्ट इयर में व पंद्रह-पंद्रह विद्यार्थी बी.ए. सेकेंड और थर्ड इयर में। न्यू इंडोलोजी की अध्यक्ष प्रोफेसर रविंद्र कौर हैं। जर्मन नागरिक एल्मार रेनर हिंदी पढ़ाते हैं। कोपनहेगन यूनिवर्सिटी में हिंदी शिक्षण होने का श्रेय डॉ. रविंद्र कौर को बहुत जाता है।

बहरहाल एसोसिएट प्रोफेसर एल्मार रेनर की भी शिकायत वही है जो रजनी बहल की है- उचित शिक्षण संसाधन का अभाव। प्रोफेसर रेनर का कहना है कि अहिंदी भाषियों को हिंदी पढ़ाने में जो प्रमुख दिक्कत है वह सही सामग्री का उपलब्ध नहीं होना। जो शिक्षण पद्धति का विकास पाश्चात्य भाषा-शिक्षण के संदर्भ में पिछले पच्चास वर्ष से होता जा रहा है, वह अभी तक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में नहीं आया। अभी वह जर्मन आदि भाषाओं के लिए तैयार किए गए ‘कम्यूनिकेटिव अप्रोच’ यानी संवादात्मक शिक्षणपद्धति को हिंदी में लाने का प्रयास करते हुए अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं। उनकी राय है कि मूल संवादात्मक शिक्षण सामग्री के अतिरिक्त ऐसी पाठ्य पुस्तिकाएं प्रकाशित की जाएं जिनमें मशहूर लेखकों के उपन्यास और अन्य रचनाओं को लघुरूप एवं सरल भाषा में लिखकर प्रकाशित किया जाए ताकि छात्रों को साहित्य सागर में प्रवेश पाने में सुविधा हो। ऐसी पुस्तिकाएं अंग्रेजी के लिए ‘ईजी रीडर’ के नाम से कई दशकों से उपलब्ध कराए जाते हैं।

कोपनहेगन यूनिवर्सिटी के इंडोलोजी डिपार्टमेंट के आलावा अन्य शिक्षा अकादमियों में भी हिंदी व भारतीय संस्कृति व दर्शन का कुछ न कुछ स्वरूप देखने को मिलता है। कोपनहेगन यूनिवर्सिटी के इंग्लिश डिपार्टमेंट में कैथरीन हेनसन हिंदी साहित्य व हिंदी सिनेमा के कोर्सेस के शिक्षण कार्य में सक्रिय हैं डेनमार्क की आरहुस यूनिवर्सिटी में समकालीन हिंदी समाज, संस्कृति व इतिहास के पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं।

एन.सी.आई. (The Nordic Centre in India (NCI) Consortium) नॉर्डिक देशों- डेनमार्क, फिनलैंड, नार्वे व स्वीडन के अग्रणी विश्वविद्यालयों का एक संयुक्त संकाय है। यह संकाय 2001 में स्थापित हुआ तथा इसका लक्ष्य नॉर्डिक देशों व भारत के बीच शोध कार्यो व उच्च शिक्षा में सहयोग को उपलब्ध कराना है। शैक्षिक विनिमय द्वारा एन.सी.आई. इंडो-नॉर्डिक संबंधों को दृढ़ करना चाहता है। एन.सी.आई. नेटवर्क का मुख्य काम नॉर्डिक विद्यार्थियों के लिए भारत व अन्य देशों में समकालीन भारत पर लेक्चर्स, सेमिनार व समर कोर्स इत्यादि आयोजित करना है। विद्यार्थियों को हिंदी विषयवस्तु में काम करने के लिए स्कॉलरशिप प्रदान होती रहती हैं।

कई स्कैंडिनेवियन विश्वविद्यालयों में भाषा विषयक व दर्शन विभाग द्वारा आधुनिक हिंदी साहित्य विषय पर कोर्सेस चलाए जाते हैं। इंडोलॉजी विभाग मौजूद है, जिनके अंतर्गत हिंदी साहित्य, हिंदी साहित्य, हिंदुत्व, वैदिक अध्ययन व आधुनिक भारत पर कोर्सेस चलते हैं। संस्कृत साहित्य, भाषा-विषयक एवं सांख्यिकीविद् व वैदिक पढ़ाई पर कोर्सेस होते हैं। कितनी संख्या में इन हिंदी विभागों में विद्यार्थी कोर्स करने आते हैं। ये विभाग कितने सुप्त हैं, कितने सक्रिय यह एक विवादास्पद प्रश्न है। मगर आंकड़े बताते हैं कि कुल मिलाकर पाश्चात्य देशों में लोगों का हिंदी के प्रति रुझान बढ़ा है।

NIAS & Nordic Institute of Asian Studies एक स्वतंत्र एशियन स्टडीज इंस्टिट्यूट है जिसका मुख्य दायित्व नॉर्डिक व एशियाई देशों को समीप लाना है। इसका मकसद नॉर्डिक क्षेत्र

में आधुनिक एशिया की राजनीति, आर्थिक, समाजिक व्यापार व संस्कृति रूपांतरण को विकसित करने का है।

फिर 'प्रवासी हिंदी साहित्य' हिंदी साहित्य जगत में एक नया वाक्यांश व चेतना है। डेनमार्क में भारतमूल की कई हस्तियां हैं जिनका हिंदी एवं भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में योगदान निहित है। डेनिश साहित्य का आप्रवासियों द्वारा हिंदी में अनुवाद हो रहा है। ये सभी किसी न किसी रूप में डेनमार्क में भारतीय भाषा व संस्कृति को सहेजे हुए हैं। मगर अभी तक किसी हिंदी साहित्य का डेनिश में अनुवाद नहीं हो पाया है। इस दिशा में कदम उठाने की आवश्यकता है।

एक गंभीर प्रश्न यह भी खड़ा हो रहा है कि जो कुछ हिंदी व भारतीय संस्कृति का बाहर देशों में प्रभाव है वह पुरानी पीढ़ी जो भारत से विदेशों में प्रवासित हुई उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप हैं। आप्रवासियों की नई पीढ़ी हिंदी से कतरा रही है तो हिंदी को इन मुल्कों में आगे लेकर कौन जाएगा? हिंदी का संरक्षण कौन करेगा? सर्वेक्षण दर्शाते हैं कि पुरानी पीढ़ी के अभिभावक जो साठ-सत्तर के दशक में विदेशों में प्रवास किया उनमें फिर भी जिजीविषा थी कि उनके बच्चे अपनी मातृ-भाषा सीखें। जो कुछ अवसर उन्हें उपलब्ध थे उन्होंने अपने बच्चों को हिंदी बोलने-सीखने के लिए प्रेरित किया। लिहाजा उनकी संतानें, जो अब मध्यम आयु की हैं, को हिंदी बोलनी आती हैं। मगर आज की नई पीढ़ी के अभिभावकों में ही हिंदी के प्रति रुझान कम है सो उनके बच्चों को हिंदी बोलनी तक नहीं आती।

हिंदी एक विशाल जनसंख्या की मातृभाषा व पूरे हिंदुस्तान की संपर्क भाषा है। यही नहीं विश्व स्तर की प्रमुख भाषाओं में हिंदी भी एक है। हिंदुस्तान एक बड़ा व विशाल देश होने की वजह से विश्व को इसकी गूढ़ संस्कृति व साहित्य जानने की भी उत्सुकता रहती है। अतः हिंदी के अस्तित्व व महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। हिंदी खतम तो नहीं होगी मगर क्षय हो जाएगी, अगर ठोस कदम नहीं उठाए गए। इसके लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि हिंदी का और विकास हो। यह इतनी विकसित व बुलंद हो, ताकि मात्र भारतीय मूल के लोग ही नहीं, अपितु विदेशी भी हिंदी सीखें और इसे अपने व्यवसाय की भाषा बनाएं। जैसे डेनमार्क जैसे एक छोटे से देश की कोपनहेगन यूनिवर्सिटी में चालीस गैर भारतीय मूल के विद्यार्थी हिंदी व भारतीय संस्कृति का अध्ययन कर रहे हैं और जर्मन व अमेरिकन उनके अध्यापक हैं। आशा है भारत सरकार अपने देश में राजभाषा हिंदी को पर्याप्त महत्व प्रदान कर हिंदी का ध्वज पूरे विश्व में बुलंद करेंगे।

विशेष आभार :

डॉ रविंद्र कौर (कोपनहेगन यूनिवर्सिटी), प्रोफेसर एल्मार रेनर (कोपनहेगन यूनिवर्सिटी), श्रीमती रजनी बहल (हिंदी अध्यापिका, स्टूडियो स्कोले), श्रीमती डॉली शेनाय (एशियन म्यूजिक सोसाइटी), सुखदेव सिंह संधू (अध्यक्ष ऑल इंडियन कल्चरल सोसाइटी डेनमार्क)

विदेशी व्यामोह के भटकाव

सच्चिदानंद सिन्हा

हमारा समाज क्या है इसकी समझ प्रायः इस पर निर्भर करती है कि हम किस धरातल पर अवस्थित होकर इस पर निगाह डालते हैं। देश के संपन्न तथा अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग जो जन मानस बनाते हैं और देश के नीति-निर्धारक भी हैं मानते हैं कि देश ने पिछली अर्ध-सदी में भारी प्रगति की है। हम मोटर-गाड़ियां, रेल के ईंजन, वायुयान और सबसे बढ़कर परमाणु बम और इनका प्रक्षेप करने वाले मिसाइल तक का निर्माण करने लगे हैं। सूचना तकनीक के क्षेत्र में हम दुनिया के अग्रिम दस्ते में शामिल हो गए हैं और अब देश को इंटरनेट से जोड़ने का अभियान चला रहे हैं। इन उपलब्धियों पर किसे नाज नहीं होगा उनको छोड़ जो न हवाई यात्रा करते हैं और न इंटरनेट को समझते हैं। बदकिस्मती से संख्या के हिसाब से इस दूसरे दर्जे के लोग ही विशाल बहुमत में हैं। इससे सलामती की तस्वीर थोड़ी धूमिल हो जाती है। और फिर जब हम नीचे जमीन पर निगाह डालते हैं तो चौंकाने वाले कुछ दूसरे तथ्य सामने उभर आते हैं। आज हमारे देश में निरक्षर लोगों की संख्या आजादी के समय की देश की पूरी आबादी से ज्यादा है और ऐसे ही आंकड़े गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों के हैं। हैजा, पेचिस तथा तपेदिक जैसी गरीबी की बीमारियों से पीड़ित लोगों की संख्या भी संसार में सबसे अधिक भारत में ही है। जो संपन्नता के कुछ द्वीप उभरे हैं और नगरों के पॉश इलाकों में जो चमक दिखायी देती है उसमें कितनी हमारी अपनी है यह भी समझना मुश्किल हो जाता है जब हम इस तथ्य पर विचार करते हैं हमारे देश पर चार लाख करोड़ रुपये से ज्यादा विदेशी कर्ज है। एक तरह से देश में जो कुछ सजा-धजा दिखायी देता है विदेशियों के हाथ गिरवी है और हम इस ठाटबाट को कायम रखने के लिए हर अदना विदेशी राजनेता और नौकरशाह की नसीहत और धौंस बर्दाश्त करने के लिए मजबूर हैं। हमारे अर्थशास्त्री बता देंगे कि आज सारी दुनिया की अर्थव्यवस्था उधार पर चलती है। सबसे संपन्न देश अमेरिका सबसे बड़ा कर्जदार है लेकिन गांव का अनपढ़ आदमी भी जानता है कि कर्ज लेकर मौज करने का सिलसिला ज्यादा दिन नहीं चलता और सूद के साथ कर्ज की अदायगी करनी होती है, तथा ऊपर से महाजन का हुक्म मानना होता है और उसकी बेगार करनी होती है। चाहे लाख मुलम्मा चढ़ाया जाए अंतरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा बार-बार दी जाने वाली नसीहत और 'सहायता' बंद कर देने की धमकी गांव के महाजनी दबदबे से भिन्न चीज नहीं होती। आखिर हम इतने आत्मसम्मानहीन कैसे हो गए? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने की

कोशिश में हमारी सामाजिक हकीकत सामने आ जाती है।

आदमी स्वयं को और अपने समाज को सदा अपनी कल्पना के आधार पर गढ़ता है- लगभग वैसे ही जैसे कोई मूर्तिकार किसी आकृति को लेकिन इसके साथ सभी रचनात्मक प्रक्रिया की तरह एक सीमा भी लगी होती है। हम कैसी आकृति बना सकेंगे यह काफी कुछ उस पदार्थ के चरित्र पर भी निर्भर करेगा जिस को लेकर हम सृजन करना चाहते हैं। पत्थर से गढ़ी गयी मूर्ति ठीक वैसी ही नहीं होगी जैसी काठ की या मिट्टी की। शिल्प की कल्पना और अंतिम रूप से तैयार आकृति दोनों ही निर्मित के लिए उपलब्ध पदार्थ से प्रभावित होती है। जगन्नाथ पुरी के मंदिर में काठ पर बनी कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की तस्वीर पड़ोस में भुवनेश्वर की पत्थर में तराशी गयी मानव मूर्तियों से अपनी परिकल्पना और आकार में भिन्न हो गयी है। भारत जिन परिस्थितियों से आजाद हुआ उनकी विवशताएं थीं। आज हम जो कुछ है वह बहुत हद तक उस कल्पना से निर्धारित हुआ है जिसने देश में उपलब्ध गारा और पत्थर की विशिष्टताओं को नजरंदाज कर देश का निर्माण करने की कोशिश की।

भारत जब आजाद हुआ उस समय देश के भविष्य के संबंध में जो प्रबल धारा थी वह उनकी थी जो यूरोप और अमेरिका की चिंतनधारा में प्रशिक्षित थे। उन लोगों के आदर्श का भारतीय समाज यूरोप और अमेरिका जैसे ही अत्याधुनिक उद्योग-धंधों और सुविधाओं से भरा-पूरा होना था। यह विचार उस पूरे मध्यम वर्ग का था जिसमें देश के विभिन्न राजनीतिक दलों और समूहों के नेता आते थे। हमारी और यूरोप की स्थितियों की भिन्नता किसी के ध्यान में नहीं थी। महात्मा गांधी एकमात्र अपवाद थे। इस सवाल पर वामपंथ और दक्षिणपंथ में मतभेद नहीं था। मतभेद इस बात को ही लेकर था कि उद्योग धंधों का स्वामित्व किसका होगा- निजी क्षेत्र का या सार्वजनिक क्षेत्र का।

यूरोप में संपन्नता कैसे आई इस पर विचार कम ही लोगों ने किया हालांकि यह विचार दादा भाई नौरोजी जैसे देशभक्तों ने उन्नीसवीं शताब्दी में ही तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित किया था कि ब्रिटेन की संपन्नता के पीछे बहुत बड़ा हाथ उस नाले की पद्धति (ड्रेन थ्योरी) का था जिससे भारतीय संपदा बहकर ब्रिटेन पहुंचती थी। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि यूरोप में औद्योगिक क्रांति की नींव सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में एशिया, अफ्रीका, अमेरिकी महाद्वीपों तथा ऑस्ट्रेलिया से लूटकर लायी गयी संपदा पर पड़ी थी। इसके साथ प्रारंभिक वर्षों में स्वयं यूरोप में औद्योगिक प्रगति के लिए छोटे किसानों और अपना छोटा धंधा करने वाले उत्पादकों का अस्तित्व खत्म कर दिया गया। इसके अलावा मजदूरों का घोर शोषण हुआ था, जिसमें बाल शोषण का भी बड़ा हाथ था। उद्योगों के इर्द-गिर्द विकसित हो रहे नगरों में मजदूरों को गंदी बस्तियों (स्लम) में यातना भरी जिंदगी व्यतीत करना होता था। इससे अलग तरह के प्रयोग में रूस का बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण 1917 बोलशेविक क्रांति के बाद हुआ लेकिन यह औद्योगीकरण भी कम यातनामय नहीं था। इसमें किसानों का घोर शोषण हुआ तथा सामूहीकरण के क्रम में करोड़ों किसानों को उनकी जमीन से विस्थापित कर दिया गया तथा इसका विरोध करने वाले लाखों लोगों को साइबेरिया के यातनामय जीवन में बंदी बना निर्वासित कर दिया गया। इन अनुभवों के आलोक में गांधीजी से प्रभावित कुछ विचारकों ने भारत के लिए पश्चिमी ढंग के विकास की संभावना पर आशंका जतायी थी। ऊपर वर्णित औद्योगीकरण की विधियों का हवाला दे प्रतीक रूप में चेतावनी दी थी कि यह विकास यहां भी 'स्लम

मेथड' या 'साइबेरिया मेथड' से ही संभव हो पाएगा लेकिन यह चेतावनी अत्यंत ही अस्फुट थी। महात्मा गांधी इस सवाल पर अपनी बात शक्ति से रख सकें इसके पहले ही एक दूसरे संकट से जूझते हुए आजादी के छह महीने के भीतर एक हिंदुत्ववादी आततायी के हाथ मारे गए।

इस तरह पश्चिमी ढंग के औद्योगिकरण और विकास का उन्माद देश पर हावी हुआ। 'साइबेरिया मेथड' के हिमायती तो सत्ता से बाहर रहे लेकिन भारत की विशेष स्थिति के अनुरूप कुछ विशिष्टताओं के साथ 'स्लम मेथड' को अपनाया गया लेकिन इसे आधार प्रदान करने के लिए यहां वह बाहरी उपनिवेश उपलब्ध नहीं था जो यूरोप को प्रारंभिक दिनों में उपलब्ध था। इस कमी की पूर्ति हमारे आर्थिक और राजनीतिक नीति निर्धारकों ने आंतरिक उपनिवेश कायम कर की। देश के भीतर के कुछ क्षेत्र, जिन्हें आजादी के काल तक एक हद की आधारभूत संरचनात्मक सुविधाएं उपलब्ध हो गयी थीं, तेज औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के केंद्र बन गए और देश के बाकी हिस्से उपनिवेशों की तरह उनके लिए कच्चे माल तथा सस्ते श्रम के आपूर्तिकर्ता बन गए। ये दूसरे क्षेत्र जीवन के पारंपरिक आधार के नष्ट होने से इतना विपन्न होते गए कि यहां से भारी संख्या में श्रमिकों का पलायन नए विकसित हो रहे नगरों और महानगरों की ओर हुआ।

धीरे-धीरे हमारे बड़े औद्योगिक नगर विशाल गंदी बस्तियों में तब्दील होते गए जिनकी पॉश कॉलोनियां कूड़ेदान पर सुनहले तबक की तरह चमकती दिखती हैं। अब यह एक दुश्चक्र बन गया है। गांव जैसे-जैसे विपन्न होते जा रहे हैं वैसे-वैसे नगरों में आबादी की बाढ़ आती जा रही है। क्योंकि जो भी और जैसा भी जीवन का आधार उपलब्ध है वह मूलतः नगरों में ही। फिर सभ्य जीवन के जो प्रतिमान अपनाए गए हैं उनके अनुसार वस्तुओं और सुविधाओं की उपलब्धि भी नगरों में ही है। नगरों में ठौर बना पाना ग्रामीण लोगों का अरमान बनता जा रहा है। कोई अचरज नहीं कि राजधानी दिल्ली की जनसंख्या एक करोड़ पचास लाख से अधिक हो गई है जो आजादी के काल की इसकी जनसंख्या से दस गुनी से भी ज्यादा है। इसी से यह विडंबनापूर्ण स्थिति पैदा हुई कि एक तरफ महानगरों में स्लम को ध्वस्त करने में बुलडोजरों के साथ डेमोलिशन स्क्वायड कार्यरत हैं तो दूसरी ओर इन महानगरों के स्टेशनों और बस अड्डों पर काम की तलाश में आने वाले लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही है, जो यहां से फैलकर नगरों के रंग-रंग में रम जाती है और जहां जगह मिली कंकर पत्थर जोड़ बसेरा खड़ा कर लेती है। नगर को बिजली की आपूर्ति करने के लिए बड़े बांध बनाए जाते हैं लेकिन नगर में बिजली पहुंच सके उसके पहले ही बांधों के निर्माण से विस्थापितों की भीड़ नगरों में गंदी बस्तियों को आबाद करने लगती है। नगरीय व्यवस्था का अपना ब्लूप्रिंट होता है। आजीविका की तलाश में नगर में बाहर से आने वालों का किसी तरह जिंदा रह पाने की अपनी कार्य-सूची होती है। दोनों में कोई तालमेल होना असंभव है। दोनों छोर पर सामाजिक बिखराव होता है- नगर में भी और गांव में भी। आबादी के विस्थापन से गांव में पारस्परिक संबंधों का तानाबाना और समुदाय टूट रहा है। नगरों में विभिन्न परिवेशों से उजाड़कर उड़ेल दिए गए लोग जीने की समस्या से इतना दबे होते हैं कि कोई नया समुदाय नहीं बना पाते। नगर अपरिचित अनजान लोगों की अनबूझ भीड़ है जो तात्कालिक उत्तेजनाओं से संचालित होती है, टिकाऊ नैतिक बंधनों से नहीं। इससे चारों ओर अपराध और हिंसा बढ़ रही है जिसके सामने व्यवस्था विवश दिखायी देती है। चूंकि नगरों में आने वाले मानव सैलाब का मूल कारक हमारे वर्तमान जीवन की परिकल्पना और इससे जुड़ा विकास ही

है इसे रोका नहीं जा सकता, जब तक जीवन के प्रतिमान नहीं बदलते।

यूरोप, अमेरिका आदि में भी औद्योगिक विकास के प्रारंभिक चरण में लंदन एवं न्यूयॉर्क जैसे विशाल नगर बने और इनमें स्लमों का विस्तार हुआ लेकिन अब संसार भर से जमा कर उन्होंने इतनी सम्पन्नता अर्जित कर ली है कि उन बुनियादी संरचनाओं का विस्तार अपने सारे देश में फैला सकें जो उद्योगों के लिए जरूरी है। इस तरह यूरोप और अमेरिका आदि में अब छोटे और व्यवस्थित नगर ही बना रहे हैं और, जहां बड़े नगर हैं, संपन्न लोग इनसे दूर रिहाइश बनाते हैं जहां सारी सुविधाएं उपलब्ध हैं। हमारे देश की आर्थिक स्थिति में बुनियादी संरचनात्मक सुविधाएं इतनी कम हैं और इन्हें फैलाने के लिए आवश्यक साधनों का ऐसा अभाव कि सुविधाएं कुछ नगरों तक ही सीमित हैं। इस तरह सारे देश के लोग नगरों में वैसे ही जुटते हैं जैसे मधुमक्खियां अपने छत्ते पर। आबादी की बाढ़ के साथ-साथ इनमें उपभोक्ता वस्तुओं का बाजार फैलता है तथा परिवहन, ऊर्जा आदि की मांग बढ़ती है। इससे संबद्ध उद्योग-धंधों और इनमें काम करने वाले आदमियों का जमाव भी यहीं होता रहता है। इस तरह इसमें आत्म-उत्तेजना (ऑटो कैटेलिसिस) की प्रक्रिया शुरू हो गयी है। यह तब तक चलती रहेगी जब तक सारे उपलब्ध संसाधन समाप्त न हो जाए। न्यायालयों के आदेश जो तब तक इस प्रबल धारा को नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं इसके सामने बिल्कुल शक्तिहीन है क्योंकि या तो न्यायाधीश इनके झोठों से अनजान हैं या इन्हें नियंत्रित करना न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर की चीज है।

देश के जीवन को ढालने में यह नकलचीपन, जिसके परिणामों की चर्चा ऊपर की गयी है, लंबे समय की कैद के संरक्षित जीवन से पैदा आजादी के भय का परिणाम था। आजादी के आंदोलन में महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब स्वावलंबन और स्वदेशी का आदर्श अपनाया गया तब यह महज आर्थिक-राजनीतिक मुद्दा नहीं था। यह एक नए भारतीय आदमी को अस्तित्व में लाने का प्रयास था, ऐसे आदमी को जो आजादी के मूल्यों से अनुप्राणित हो। महात्मा गांधी का स्वतंत्र भारतीय का आदर्श कुछ वैसा ही था जैसी मनुष्य की परिकल्पना जर्मनी के दार्शनिक कांट ने 'एनलाइटेनमेंट' के युग के संदर्भ में की थी। उसने कहा था कि एनलाइटेनमेंट मनुष्य की वयस्कता का युग है- यानी वह युग जिसमें आदमी बिना बाहरी दबावों के अपने विषय में स्वयं निर्णय कर सके। यह बाहरी दबाव सिर्फ सत्ता का नहीं होता। यह दबाव परंपरा से प्राप्त सामाजिक रूढ़ियों का भी हो सकता है और व्यक्ति द्वारा आत्मसात् किए गए उन प्रचलित मूल्यों का भी जिन्हें एक सचेत आदमी की तर्कबुद्धि स्वीकार नहीं करती-मसलन देखा-देखी अपनाया गया उपभोक्तावादी मूल्य। ऐसे प्रभाव में आदमी वैसा जीवन नहीं जी सकता जो उसके मनोनुकूल हो और उसके अपने सहज प्रयास से हासिल किया जा सके। अपने जमीर के आधार पर खड़ा हो बाकी संसार के सारे दबावों को सहज भाव से झेल लेने के संकल्प का प्रतिमान तो महात्मा गांधी का स्वयं अपना ही जीवन था। जब 1930 में गांधीजी वार्ता के लिए वायसराय लार्ड इर्विन से मिले तो अपने नंगे बदन पर चादर के साथ ही। उनका लिबास अर्धनग्न भारतीयों की जीती जागती तस्वीर थी। चर्चिल को इस 'आधा नंगा फकीर' का ब्रिटेन के शहंशाह के प्रतिनिधि के बराबरी के दर्जे पर मिलना शाही शान का भारी अपमान लगा और उसने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। चर्चिल की नाराजगी स्वाभाविक थी क्योंकि आजादी मिलने के पहले ही महात्मा गांधी लार्ड इर्विन से भारतीयों के प्रतिनिधि की हैसियत के बराबरी के

स्तर पर वार्तालाप कर रहे थे। इसी काल में ब्रिटेन में जब अपनी इसी पोशाक में महात्मा गांधी बादशाह से मिलकर आए तो किसी पत्रकार ने पूछ लिया कि क्या वे अपनी वैसी ही वस्त्रहीनता में शहंशाह से मिले थे तो गांधीजी का जवाब बड़ा ही सहज था। उन्होंने हँसते हुए कहा कि 'शहंशाह के शरीर पर हम दोनों के लिए यथेष्ट वस्त्र थे', उनका जीवन अपनी शर्त पर जीने का आत्मबल अर्जित करने का आह्वान था। सत्याग्रह का हथियार भी कुछ वैसा ही आदमी का अपनी अंतरात्मा की आवाज के अनुसार जिंदा रहने का आग्रह था। अगर आदमी हथियार उठाने से इनकार कर दे और अपने जीवन को दांव पर लगा दे तो फिर इस बात से कोई फर्क नहीं रह जाता कि सामने बड़े प्रतिद्वंद्वी के हाथ में लाठी एवं बंदूक है या परमाणु बम। इसमें सामने खड़ा हथियारबंद प्रतिरोधी अंततोगत्वा ठगा महसूस करेगा क्योंकि कीमती से कीमती और बड़े से बड़े हथियार से वह जान से ज्यादा कुछ नहीं ले सकता जिसे सत्याग्रही ने अपने सत्य की तुलना में मूल्यहीन मान प्रतिद्वंद्वी के सामने हाजिर कर दिया है।

हमारे सारे आर्थिक संकट का मूल यह है कि हमने सत्याग्रह और स्वावलंबन की भावना को तिलांजलि दे दी। देश की सुरक्षा के लिए हथियार कितना चाहिए इसकी कोई सीमा नहीं क्योंकि यह सीमा पड़ोसियों और बाहरी दुनिया से अंतहीन स्पर्धा द्वारा निर्धारित होती है। देश के नेताओं और बुद्धिजीवियों ने पश्चिमी दुनिया की नकल में यह भुला दिया कि अंततोगत्वा जीवन का सुखा बाहरी सजधज और दिखावटी ठाटबाट में नहीं है। प्राचीन भारत से लेकर बाद की सारी संत परंपरा चाहे वह हिंदू संतों की रही हो या सूफी संतों की बाहरी आडंबर को त्याज्य मानती रही है। 'मन न रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा' की बात सिर्फ धार्मिक समूहों और प्रतिष्ठानों पर लागू नहीं होती। यह हमारे आधुनिक शैक्षिक और शोध संस्थानों पर भी लागू होती है। यह कहना मुश्किल है कि इन संस्थानों का कितना धन वास्तविक अध्ययन मनन में खर्च होता है और कितना इनमें कार्यरत लोगों को एक दिखावटी और खर्चीला जीवन प्रदान करने में। नौकरशाही प्रवृत्ति इन संस्थाओं को भी घुन की तरह खोखला बना रही है। इनमें कार्यरत अधिकांश अध्येताओं का ज्यादा समय प्रोन्नति और पैसे के जुगाड़ में जाता है। नतीजा है इन पर खर्च होने वाली विशाल धनराशि का कोई असर देश के आम लोगों की समझ और जीवन की बेहतरी में दिखायी नहीं देता। आधुनिक औद्योगिक उपभोक्तावादी संस्कृति के लिए इस ठाटबाट की प्रासंगिकता है क्योंकि लोग अगर आवश्यकताओं को घटाने लगे तो इस संस्कृति का सारा ढांचा ही धाराशायी हो जाए लेकिन संस्कृतियां और सभ्यताएं आदमी के लिए होती हैं। अगर इनसे आदमी की समस्याएं बढ़ती जाएं और अस्तित्व पर संकट आ जाए तो इनका परित्याग करने में ही विवेक है।

बुद्धिजीवियों, कवियों और कलाकारों की भूमिका स्थापित व्यवस्थाओं के आलोचक की मानी जाती रही है। 'संतन को सिकरी से क्या काम' कुछ इसी भावना की अभिव्यक्ति थी। अब तो सारे कवि और कलाकार भी सिकरी (दिल्ली) में ही डेरा डालना चाहते हैं क्योंकि यहीं से पैसा और वैसी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है जो आधुनिक सभ्य जीवन का मानक बन गयी है। इससे कलाएं आम लोगों की बेपनाह होती उस जिंदगी से कटती जा रही हैं जिनका संपर्क सदा सर्जनात्मक ऊर्जा का स्रोत होता है। लोक जीवन से कटे नागरी जीवन की कला और साहित्य की दुनिया में एक दुश्चक्र बन गया है। अब कवि एवं कलाकार अपने छोटे समुदायों में लोगों के साथ न नृत्य करता है और न

उसमें अपना कविता-पाठ या गायन करता है। क्योंकि अब वह उस समुदाय का हिस्सा नहीं रह पाया है। अब लोगों तक उसकी पहुंच बहुत परोक्ष रूप से होती है-सिनेमा, टी.वी. सीरियल या विशिष्ट संस्थाओं के आयोजनों एवं पुस्तकों के जरिए। ये सब अब बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के हाथ में हैं या उनके द्वारा प्रायोजित होते हैं। अतः इनसे संपर्क बनाए रखने के लिए नगरों में ही जुगाड़ लगाने की जरूरत होती है। इनमें प्रवेश कलाकार की अपनी मर्जी पर नहीं होता, प्रतिष्ठानों के संचालकों की मर्जी पर होता है। इसलिए नुक्कड़ नाटकों के बाहर समाज पर आलोचनात्मक पक्ष प्रस्तुत करने की सुविधा, जो कलाकार और बुद्धिजीवियों का मूल धर्म माना जाता था, नष्ट होती जा रही है। अगर वह प्रतिष्ठित होना चाहता है तो उसे 'कॉर्पोरेट' होना है। अगर वह विरोधी की भूमिका निभाना चाहता है तो हाशिए पर डाल दिया जाता है। इस तरह समाज में कोई ऐसा प्रभावी केंद्र नहीं बन पाता जहां से समाज की वर्तमान दिशा पर प्रश्नचिन्ह खड़े किए जा सकें। वैश्वीकरण की दौड़ में बुद्धिजीवियों ने समाज के सीढ़ीनुमा ढांचे में अपनी आकांक्षा में एक मंजिल और जोड़ ली है। अब दिल्ली अंतिम मंजिल नहीं रही-इसके आगे न्यूयॉर्क, लंदन या पेरिस भी है। अगर बुद्धिजीवी वहां स्थायी जगह नहीं बना पाता तो तीर्थाटन के लिए तो जरूर पहुंचना चाहता है, या बाल बच्चों का भविष्य वहीं देखता है। अब 'सजलां सुफलां मलयज शीतलां', या 'ग्रामवासिनी भारत माता' 'सारे जहां से अच्छा' नहीं जिसे सजाया संवारा जाए। यह तो पायदान है जिस पर पांव रख नयी दुनिया के आदर्श किसी सिलिकॉन वैली में तरक्की की तलाश में छलांग लगानी है। वहां पहुंचने की गली तंग है और आकांक्षी लोगों की भीड़ लगातार बढ़ती ही जा रही है। इस कारण ज्यादातर प्रत्याशी धक्का खा अपमानित हो अपने परिवेश के बंजर में लौटने को मजबूर हो जाते हैं। इस तरह अपनी जमीन और अपने जमीर पर खड़ा हो आत्मनिर्भर जीवन के विकल्प को त्यागने के कारण आजादी की अर्धशती में एक राष्ट्र के रूप में हम ऐसी आर्थिक और आध्यात्मिक दैन्य की स्थिति में आ गए हैं जिसे बाहरी चमक-दमक से ढंक पाना मुश्किल है।



सांस्कृतिक संकट और साहित्य

निर्मला जैन

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों के दौरान उत्तर-आधुनिक विचार की जगह जिन दो मुख्य सरोकारों ने ली उनमें एक थी 'भूमंडलीकरण' की गुहार और दूसरी 'सांस्कृतिक संकट' की आशंका। जिस 'भूमंडलीकरण' का शोर चारों ओर बरपा हुआ, उसका विश्वबंधुत्व की प्राचीन भारतीय अवधारणा से कुछ लेना-देना नहीं था। पहली का जन्म गहन मानवीय सरोकार से हुआ और दूसरी का व्यापारिक प्रभुत्व की लालसा से। सांस्कृतिक संकट की आशंका जाहिर है, पहली नहीं दूसरी स्थिति में पैदा होती है। आर्थिक लाभ के लिए इतर भू-खंडों के निवासियों की सांस्कृतिक-अभिरुचियों का अनुकूलन, व्यापारी वर्ग की प्राथमिक आवश्यकता हो जाती है। उत्पादन की नीति दुहरी होती है। प्रचलित अभिरुचियों के अनुकूल सामग्री का उत्पादन और नए उत्पादों के लिए ग्राहक-वर्ग की रुचियों का अनुकूलन। सांस्कृतिक-संकट की आशंका दूसरी स्थिति में जन्म लेती है।

जीवन-चर्या के बाहरी स्तर-खान-पान, वेशभूषा, किसी हद तक बोली-बानी, आचार-व्यवहार में होने वाले सतही परिवर्तन और परानुकूलन विशेष चिंता का कारण नहीं होते। वहां एक हद तक ये सुविधा और वस्तुस्थितियों के दबाव के तहत उपयोगिता की दृष्टि से घटित हो जाते हैं। पर उसके आगे जब गहरे स्तर पर ये हमारी आस्थाओं, विश्वासों, वैचारिकता और सृजनात्मकता को प्रभावित करने लगते हैं- खतरे की आशंका तब घेरती है। ऐसी स्थितियां समाज के सामने अपनी जीवन-चर्या को नए सिरे से परिभाषित और पुनर्नियोजित करने की चुनौती प्रस्तुत करती हैं। ग्रहण और त्याग के विवेक की अपेक्षा करती हैं। अपने जड़-मूल को, विरासत को, अस्मिता को बचाए और बनाए रखने की जद्दोजहद में पड़ने की अनिवार्यता का एहसास कराती हैं।

साहित्य और कलाओं के संदर्भ में किन्हीं तर्क-सम्मत नतीजों पर पहुंचने के लिए समस्या के देश-काल का खुलासा कर लेना पहली शर्त है। मसलन 'सांस्कृतिक संकट और साहित्य' की चर्चा करने से पहले यह तय करना जरूरी होगा कि कैसे सांस्कृतिक संकट से जूझ रहे हैं? उसका भौगोलिक परिदृश्य क्या है? समग्र भूमंडल, दक्षिण-एशियाई भूखंड या फिर केवल भारत!

संस्कृति अपने में कोई अश्मीभूत (मोनोलिथिक) अखंड, अभेद्य सत्ता नहीं होती। दरअसल उसकी 'मिश्र' प्रकृति पर बल देने के लिए अक्सर अंग्रेजी के जिस विशेषण 'कॉम्पोजिट' का प्रयोग किया जाता है, वह अनावश्यक है। संस्कृति प्रकृत्या सामासिक ही होती है-एकाधिक तत्त्वों या विशेषताओं का संश्लिष्ट रूप। विशुद्धता का न होना ही उसकी वास्तविक पहचान है। सच्चे मोती

के लिए अंग्रेजी में जब 'रियल' के स्थान पर 'कल्चर' विशेषण का प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ ही होता है 'मिलावटी'। 'प्रकृत' नहीं 'बनावटी'। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'अशोक के फूल' शीर्षक निबंध में संस्कृति की इस सामासिक प्रकृति की विस्तार से व्याख्या की है। बड़ी ललित शैली में अनेक दृष्टान्तों के सहारे उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि जीवन और समाज में संस्कृतियों का स्वरूप पारस्परिक सम्पर्क और आदान-प्रदान से ही निर्मित-विकसित हुआ है। इस नजरिए से देखा जाए तो विश्व के अधिकांश देशों का सांस्कृतिक इतिहास आप्रवासियों द्वारा निर्मित हुआ है। इनमें संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, अफ्रीका जैसे तमाम देशों के साथ भारत भी शामिल है।

विशुद्ध अनछुई संस्कृतियों के नाम पर कुछ आदिम, पिछड़े रूढ़, अपने में बंद मानव-समुदायों या जातियों के अलावा शायद ही कहीं कुछ ऐसा हो जिसे 'विशुद्ध' कहा जा सके। सवाल यह भी है कि यह तथाकथित 'विशुद्धता' सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से कितनी काम्य है? इस संदर्भ में रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी के उस आह्वान को याद कर लेना प्रासंगिक होगा जिसमें बाहरी प्रभावों के लिए देश की खड़कियां-दरवाजे खुले रखने का आग्रह किया गया था-पर कुछ ऐसे कि ये अपनी जमीन पर जमे पांव न उखाड़ दें।

इस नजरिये से भारतीय संस्कृति की मूल प्रकृति, मानसिक बनावट एक ऐसी उदार ग्रहणशील प्रवृत्ति की है जिसने सदियों से संवादी नहीं, परस्पर-विरोधी मतों, धर्मों, जीवनशैलियों को जगह देकर आत्मसात करने की क्षमता का प्रमाण दिया है। भारत का वैचारिक इतिहास इस बात का साक्ष्य है। विश्व के शायद ही किसी दूसरे देश में धर्मों, दर्शनों की इतनी बहुलता दिखाई पड़े।

अकेले धर्म-क्षेत्र में ही बौद्ध, जैन, सनातन, आर्यसमाज, इस्लाम, सिख, ईसाई, पारसी सबकी अपनी जीवन-शैलियां हैं, अपने रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहार हैं। किसी हद तक सहभागिता भी है। इसके अलावा लोक जीवन के देवी-देवता, पर्व-त्यौहारों की अपनी समानांतर दुनिया का सह-अस्तित्व अपनी जगह है। यानी मूल प्रवृत्ति और स्वभाव उदारतापूर्वक सबको 'स्पेस' देने की है।

दिलचस्प बात यह है कि भारतीय संस्कृति में विरोधी प्रवृत्तियों और विश्वासों का अस्तित्व भी समानांतर बना रहा है। हिंदूवादी धर्म-सत्ता को ई. पूर्व 300-400 के बीच लोकायत जैसे ठेठ लोकवादी चिंतन ने चुनौती दी थी। ऐसे प्रसंग रह-रहकर घटित होते रहे हैं। इतना ही नहीं समानधर्मा आचार्यों के बीच सांप्रदायिक मतांतर को लेकर शास्त्रार्थ की परंपरा का लंबा इतिहास है।

अपनी संस्कृति के प्राचीन इतिहास को, भारत के अलावा ग्रीस, रोम, मित्र जैसे तमाम देशों ने नव धनाढ्य अमेरिका के बनाव, बड़े मूल्यवान गौरवबोध के साथ धारण किया है। खास बात यह है कि यह मूल्यवत्ता पुरातात्त्विकता की दुहाई देने से नहीं तय होती। इसका कारण है साहित्य, कलाओं, जीवन-शैली के व्यक्त रूपों की मूल्य-व्यवस्था और विश्वासों, सामुदायिक चेतन-अवचेतन की वह अव्यक्त दुनिया जो समय और स्थिति के अनुरूप स्वरूप ग्रहण करती है और जिसका लक्षण सातत्य है न कि स्थिरता।

कहना न होगा कि इस जीवन-प्रवाह की समयानुसार प्रासंगिकता और उपयोगिता, ग्रहण और त्याग के मानवीय विवेक से तय होती है। पर इसमें अंतर्व्याप्त संस्कृति का लक्षण होता है ठहराव-पक्के राग की गायकी की तरह। यह ठहराव, जब जीवन को स्थिरता देकर उसकी जड़ें मजबूत

करता है तो प्रभाव सकारात्मक होता है। पर यदि यह सांगठनिक/संघबद्ध सत्ता का रूप ग्रहण करके 'इतर' के प्रति असहिष्णु हो जाए, उसे आत्मसात या नष्ट करने के प्रति आग्रही हो उठे तो प्रतिरोध को जन्म देता है।

यह सांगठनिक स्वरूप धर्म, जाति, राष्ट्र, समुदाय, काल, भूगोल किसी आधार पर आकार ग्रहण कर सकता है। यह विडंबना ही है कि भारत में धर्म-समर्थित जाति-वर्ण व्यवस्था आधारित सामाजिक संरचना का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही पुराना उसका प्रतिरोध भी है। पर अतार्किक नैतिक बोध से संपृक्त 'धर्म' भारतीय जीवनपद्धति का अनिवार्य अनुषंग है।

दिलचस्प बात यह है कि जितना प्रबल और आग्रहशील धर्म का सांप्रदायिक और सांगठनिक स्वरूप है, उतना ही धर्म के लोक-पक्ष पर आधारित सांस्कृतिक उत्थान के विराट प्रयत्नों का इतिहास भी है। साहित्य में इसका प्रतिफलन मध्यकाल के भक्ति साहित्य में और आधुनिक काल के नवजागरण के साहित्य में देखा जा सकता है। इस साहित्य की नींव सामाजिक न्याय और समता जैसे मानवीय मूल्यों पर टिकी है। भक्ति-साहित्य ने लोक-जागरण की चेतना के वाहक के रूप में जो पहचान कायम की थी, उसी का क्रमिक विकास आधुनिक युग तक आते-आते संस्कृति-बोध के रूप में हुआ।

भारतीय जीवन में 'धर्म' की केंद्रीयता को स्वीकार करने का आग्रह आधुनिक काल के आरंभ से ही मिलता है। सन् 1884 में भारतेन्दु ने बलिया के मेले में अपने प्रसिद्ध भाषण में कहा था : 'सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहले धर्म की ही उन्नति करना उचित है।' पर महत्वपूर्ण उनके द्वारा प्रस्तुत सूत्र नहीं उसकी व्याख्या है। जिसमें उन्होंने मेले, त्यौहार, तीर्थ, व्रत आदि सामाजिक आचार प्रणालियों की तार्किक व्याख्या करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया : 'उन लोगों ने धर्म-नीति और समाज-नीति को दूध-पानी की भांति मिला दिया है।' और सलाह दी कि ग्रहण उन्हीं बातों को किया जाना चाहिए : 'देश और काल के जो अनुकूल और उपकारी हों।' अपनी बात का विस्तार करते हुए उन्होंने बाल-विवाह का विरोध किया, लड़कियों की शिक्षा पर बल दिया-इस रूप में कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें।

इतना ही नहीं : 'वैष्णव, शाक्त इत्यादि नाना प्रकार के मत के लोग आपस का वैर छोड़ दें। यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिंदू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए। जाति में कोई ऊंचा हो चाहे नीचा हो सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसको वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए। मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिंदुस्तान में बसकर वे लोग हिंदुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भांति हिंदुओं से बरताव करें। जो बात हिंदुओं को मयस्सर हैं वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उनमें जाति नहीं, खाने-पीने में चौका-चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक-टोक नहीं। फिर भी बड़े ही सोच की बात है, मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी....'

भारतेन्दु की यह संस्कृति-समीक्षा इस बात का उदाहरण है कि साहित्य, कलाओं जैसे जीवन-शैली के व्यक्त रूपों के भीतर मूल्य-व्यवस्था, विश्वासों, सामुदायिक चेतन-अवचेतन की अव्यक्त दुनिया निश्चित समय और स्थिति के अनुरूप स्वरूप ग्रहण करती है। यह संयोग नहीं है कि मध्यकाल में चिंतन की विभिन्न शाखाओं का बोध 'संप्रदाय' और 'वाद' धर्मी पदों से होता था।

अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि के अलावा निर्गुण संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय आदि। वहां नवजागरण-काल के समाज ने अपने सोच को 'आर्यसमाज' और 'ब्रह्मसमाज' आदि संज्ञाओं से अभिहित करने की प्रवृत्ति अपनायी।

आरंभिक दौर में 'वादों' और 'संप्रदायों' की संकीर्णता और हठवाद का विकास उदार सामाजिकता की दिशा में होता दिखायी पड़ा, पर समय की रफ्तार के साथ विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर भारत एक से अधिक राष्ट्रीयताओं, उप-राष्ट्रीयताओं में विभाजित होता गया। धार्मिक विभिन्नताओं ने देवी-देवताओं की भीड़ पैदा की। साधु-मंहत, उपदेशक, बापू, स्वामी, तांत्रिक जैसे तरह-तरह के शक्ति केंद्र बने और अखाड़े, कुंभ, आश्रम इनके शक्ति-स्थल। इस पूरे प्रपंच की जड़ें धर्म और मिथकीय अंधविश्वासों में हैं।

इतिहासकारों ने इस समकालीन परिघटना का विवेचन किया है, जिसमें शिक्षित समाज भी प्रवचन, भविष्यफल, हनुमान को ढोक लगाना, संतोषी माता का व्रत रखना, शनि की उपासना जैसे तरह-तरह के कर्मकांड में लीन होता गया। कहना न होगा कि भ्रष्ट राजनीति और अर्थ-तंत्र को इनके जादू से शक्ति मिली है। इस वस्तुस्थिति ने जीवन में सकारात्मक योगदान के बजाय ऐश्वर्य और आडंबर-साधना को मजबूत किया है। पराशक्तियों के इस आतंकवाद से मुक्ति में साहित्य और कलाओं की भूमिका कैसी और कितनी हो सकती है-यह सोचा जाना चाहिए।

संस्कृति की विशुद्धता और ईश्वर की एकाधिकारपरक अवधारणा वस्तुतः वर्चस्वधर्मी आग्रह हैं जबकि संस्कृति बहता पानी है। गत्यावरोध जब-जब आता है, प्रतिरोध जन्म लेता है। बाजार की भाषा में 'करेक्शन' स्वयंभू रूप में प्रकट होता है। दरअसल कलाएं, साहित्य, स्थापत्य, संगीत सब साझेपन की अभिव्यक्तियां हैं। सांस्कृतिक बहाव में अपने-अपने ढंग से ये हस्तक्षेप करती हैं। मुख्य बात है मानवीय विवेक जो पिछड़े तत्वों के प्रति आलोचनात्मक रुख और विजातीय प्रभावों के पीछे अंधी दौड़ पर नियंत्रण रखने की समझ पैदा करता है। दोनों का गहरा संबंध तर्कणा से है।

वर्तमान संकट का कारण है एक नए विश्व का उभार-जिसका निमित्त कारण है नयी अर्थ-व्यवस्था, स्वतंत्र पूंजी, बाजारीकरण का दबाव। बड़े पैमाने पर प्रवासन (इमिग्रेशन) राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दोनों स्तरों पर। सब मिलाकर एक ऐसा परिदृश्य जिसमें स्थानीय संस्कृतियों का वर्ण-संकरण हो रहा है। भारतीय मूल के लोगों के लिए उनकी सामुदायिक-अस्मिता का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है।

अस्मिता के प्रश्न को हिंदू-संस्कृति की पवित्रता की दुहाई और पश्चिमी प्रभाव के अपसंस्कृतिकरण से जोड़कर देखा जा रहा है। जबकि सच्चाई यह है कि सांस्कृतिक बहुलतावाद ऐतिहासिक तथ्य है। तथाकथित विशुद्ध कुछ नहीं, सबमें मिलावट है-प्रदूषण नहीं। धर्म-निरपेक्षता इसी सांस्कृतिक बहुलता की स्वीकृति है। भारतीय संस्कृति, हिंदू संस्कृति या ब्राह्मण संस्कृति का तर्कातीत पर्याय नहीं है।

इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि 'भूमंडलीकरण'-सार्वभौमिक भाईचारे (यूनिवर्सल ब्रदरहुड) का वाचक पद नहीं है। विश्व तो अर्थ के आधार पर दो धड़ों में विभाजित हो गया है-विकसित और विकासशील। विकासशील देश पहले वर्ग के आर्थिक उपनिवेश हैं जिनके आर्थिक दोहन के लिए उनकी संस्कृति पर आधिपत्य इनके लिए जरूरी है। जाहिर है सूचना क्रांति के माध्यम

से उपभोक्ता वर्ग की अभिरुचियों का अनुकूलन आवश्यक है। इस परिदृश्य में यदि संस्कृति भी उद्योग हो जाए तो आश्चर्य नहीं। बल न विशुद्धता पर हो न गुणवत्ता पर, बल्कि अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार पर। यह प्रमाणित करने की जरूरत नहीं कि इस समय भारतीय जीवन-शैली पर पाश्चात्य प्रभाव, राजनीतिक उपनिवेश काल की तुलना में कहीं अधिक दिखायी पड़ रहा है। जीवन-व्यवहार में 'अर्थ' यदि चरम पुरुषार्थ हो जाए, तो साहित्य की दुनिया में भी पुरस्कारों, सम्मानों, विदेश-यात्राओं के लिए होड़ सहज ही माना जाना चाहिए।

एडवर्ड सर्ईद ने बीसवीं सदी के अवसान के दौर में इस खतरे की तरफ इशारा किया था कि साहित्य और संस्कृति के तमाम रूपों में यूरोपीय अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व की भाषा अनूजुंज सुनाई पड़ने लगी है। रूपर्ट मर्डोक ने फिल्मों पर, संगीत पर यहां तक कि बी.बी.सी. पर इस खतरे के बढ़ते जाने की आशंका व्यक्त की थी। फ्रेंच फिल्म समारोह में हॉलीवुड के प्रभाव को लक्ष्य कर उन्होंने कहा था कि संस्कृतिकर्मी भी यूरोप-अमेरिका केंद्रित सोच की भाषा बोलने लगे हैं। यानी हवा का रुख आर्थिक वर्चस्व की दिशा की ओर है।

साहित्य और कलाओं पर इस परिवर्तन का प्रभाव इस रूप में पड़ा कि सर्जक, कृति और ग्राहक की अपेक्षा पाठक या ग्राहक का महत्व बढ़ चला। बाजार का बल जैसे उपभोक्ता की रुचि के अनुकूल उत्पादन पर बढ़ा, उसी के समानांतर कलाओं और साहित्य में ग्राहक और पाठक का दर्जा भी महत्वपूर्ण होता गया। रचना में उपभोक्तानुकूल (user friendly) साधनों का आग्रह बढ़ चला। श्रव्य और पाठ्य की अपेक्षा दृश्य अपनी तत्काल ग्राह्यता के कारण अधिक लोकप्रिय हो चला। नतीजा यह कि रचना में सृजन की अपेक्षा प्रस्तुति (performance) पर ध्यान दिया जाने लगा।

साहित्य और कलाओं में सैद्धांतिकी और नियमबद्धता की केंद्रीयता पहले कमजोर हुई और फिर क्रमशः समाप्त हो गयी। शास्त्र-निर्भर वैधता समाप्त होने के कारण-जवाबदेही से मुक्त कलात्मक परिदृश्य निर्मित होता गया। यह आकस्मिक नहीं है कि संगीत और चित्र जैसी कलाओं में 'फ्यूजन' और 'री-मिक्सिंग' यानी रंगों और सुरों के पुनर्योजन और घालमेल को रचनात्मकता का दर्जा हासिल हो गया।

इस परिवर्तन का सकारात्मक पक्ष यह था कि इससे शक्ति-केंद्रों का विकेंद्रीकरण हुआ। हाशिए के वर्गों पर दृष्टिपात करने की अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा। स्त्री, दलित, जनजातियां, किन्नर, उपेक्षित बच्चे जैसे तमाम लगभग वर्जित या उपेक्षित विषय कलाओं और साहित्य की दुनिया में मान्यता पा गए। इससे कलाओं का प्रभाव क्षेत्र विस्तृत हुआ।

इस बदलाव के निमित्त कारणों में आर्थिक उदारीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी में अद्भुत विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। कुल मिलाकर विश्व में भारतीय समुदाय की इमेज बड़ी तेजी से बेहतर होती चली गयी।

बाहरी स्तर पर इस बदलाव ने निहायत प्रभावी और उज्ज्वल भविष्य का जो सपना दिखाया उससे भीतरी जीवन में जो लगभग अलक्षित विघटन हो रहा था, उस पर ध्यान देने की जैसे न किसी में ताब थी न फुर्सत। भौतिक विकास की दौड़ में, मानवीयता में होने वाला हास और विघटन दृष्टि से मानों ओझल होता जा रहा था। पारिवारिक-संबंधों को बनाए और बचाए रखने की चिंता समाप्त हो गई थी। संयुक्त परिवारों की जगह क्रमशः एकल परिवारों ने ले ली और फिर उनके भीतर

निकटतम युगों माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन जैसे संबंधों में भी दरार पैदा होने लगी। परिवार-जिस परस्परता, आपसी सहयोग की बुनियाद पर निर्मित होता है वही दरक गयी थी-इस हद तक कि उसके सबसे छोटी इकाई पति-पत्नी और संतान के बीच भी पारस्परिकता का इतना क्षय हो गया कि विवाह जैसी संस्था का अस्तित्व भी खतरे में आ गया।

सामाजिक जीवन में क्रमशः एक ओर अनुशासनहीनता और भ्रष्टाचार और दूसरी ओर असुरक्षा बोध तेजी से बढ़ रहा है। इस परिस्थिति का निमित्त कारण था समाज की मानसिक बनावट और मूल्य-बोध में क्रमशः घटित होने वाला परिवर्तन। अपरिग्रह की जगह परिग्रह ने ले ली तो 'अर्थ' का सर्वोपरि महत्व हो जाना स्वाभाविक ही था। कुल मिलाकर नतीजा हुआ अधिकाधिक आत्मकेंद्रीकरण और तात्कालिक उपलब्धियों की लालसा।

स्वाधीनता-पूर्व भारत के संघर्ष-काल का स्मरण करें। 'स्वराज' और 'स्वदेशी' के देसी मॉडल का जो सपना गांधीजी ने बुना था, उसमें विशेष बात थी पराभिमुखता। जोर मौलिक चिंतन पर, भारतीय भाषाओं पर था। गांधीजी लगातार विदेशी के विरुद्ध स्वदेशी पर बल देते रहे। वह अंग्रेजी के नहीं अंग्रेजियत के खिलाफ थे; वह अंग्रेजियत जो अताकिर्क रूप से हैसियत और रुतबे का बोध कराने लगी थी।

क्रमशः बाह्य औपनिवेशीकरण और आंतरिक औपनिवेशीकरण आपस में जुड़ गए थे। गांधीजी ने जिस 'स्वदेशी' पर लगातार बल दिया वह विदेशी का नहीं औपनिवेशी का विपर्याय था। दासता तीन तरह की होती है- राजनीतिक, आर्थिक और मानसिक। स्वाधीनता प्राप्त होने पर पहली से मुक्ति तो हो गयी, पर दो से, विशेषकर तीसरे से मुक्ति आज भी शेष है।

सभी विकासशील देशों के भावी कार्यक्रम का निर्धारण-विश्व बैंक, आइएमएफ, डब्ल्यूटीओ, यूएनओ, यूनिसेफ और यूनेस्को जैसी संस्थाओं के द्वारा होने लगा। वहीं से एजेंडा और विमर्श के मुद्दे तय होने लगे। राष्ट्रीयता का अतिक्रमण कर देश की युवा-पीढ़ी अपने भविष्य की तलाश विदेशों में करने लगी। त्याग, उत्सर्ग जैसे शब्द इस पीढ़ी के लिए निरर्थक होते गए। धीरे-धीरे आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक शक्ति के रूप में जड़मूल से विच्छिन्न बीस-पच्चीस करोड़ की आबादी का ऐसा नव धनाढ्य मध्यवर्ग उभरने लगा जो 'मिनी इंडिया' के रूप में विश्व में वैधता प्राप्त करने के लिए आतुर था। जिसे अपने को भारत का भाग्य विधाता समझने का भ्रम हो चला था।

सांस्कृतिक संकट, इस भ्रम के निवारण की चुनौती के रूप में प्रस्तुत था। सवाल यह उठ खड़ा हुआ था कि इस वस्तुस्थिति की रोक-थाम क्या अंतरराष्ट्रीयवाद के विरोध से की जा सकती है। क्या रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'विश्वमानववाद' का गांधीजी के इस उत्तर से कोई संकेत ग्रहण किया जा सकता है :

'मेरा पश्चिमी सभ्यता का विरोध वास्तव में पश्चिमी देशों के उस हेकड़ीपूर्ण दावे का विरोध है कि एशियाई देशों की नियति के निर्धारक वे हैं।'

कहना न होगा कि 'दावे' के रूप में भले ही न हो, पर रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, आचार-व्यवहार सबमें पश्चिमोन्मुखता में बढ़त ही हुई है-किसी के दावे के कारण ही नहीं, बल्कि मूल हीन-ग्रंथि के कारण। इस स्थिति से उबारने में कलाओं और साहित्य की भूमिका आखिर कितनी और कैसी हो सकती है? एक ऐसे समय में जहां उनकी प्रतिस्पर्धा में दृश्य-काव्य और मीडिया का

पूरा कुनबा खड़ा हो- श्रव्य से दृश्य तक, पत्रकारिता से फिल्म, दूरदर्शन जैसे प्रभावी माध्यमों तक। श्रोता या दर्शक को जिनके लिए कोई बड़ी तैयारी भी नहीं करनी पड़ती। फिल्म और उसके अनुज दूरदर्शन की प्रभाव-क्षमता के सामने साहित्य की हैसियत कमजोर के हथियार भर की होती जा रही है।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में इन दोनों माध्यमों की महती भूमिका है। और अब लंबे समय से फिल्मों ने मनोरंजन के साथ संदेश और शिक्षा का गठबंधन करने का दायित्व ओढ़ा है। ऐसी संदेशगर्भित फिल्मों की अच्छी खासी संख्या है- जो बाक्स आफिस पर सफल होने का दावा कर सकती है जैसे : 'लगे रहो मुन्ना भाई', 'तारे जमीं पर', 'थ्री इडियट्स', 'मिस्टर एंड मिसेज अय्यर' आदि।

ठीक इसी तरह साहित्य भी दो किस्म का है और था। एक, वे रचनाएं जिनका लक्ष्य वृहत्तर पाठक श्रोता वर्ग है। जिस तक वे उसी की भाषा में अपनी पैठ बनाती हैं और दूसरा उच्च-भू पाठक को लक्ष्य कर रचा जाने वाला साहित्य जिसका ग्राहक भले ही सीमित पाठक-वर्ग हो, पर दीर्घजीविता या कहीं अधिक कालातिक्रामी होती है। यह प्रश्न विमर्श का है कि सामाजिक उपयोगिता किसकी अधिक मानी जा सकती है। पर इसमें मतभेद की गुंजाइश बहुत नहीं होगी कि साहित्य दृष्टि देता है, दिशा नहीं। वह ऐसी मशाल है जिसके आलोक में सही रास्ते की तलाश करना बहुत कुछ खोजने वाले की क्षमता और संकल्प पर निर्भर होता है।

श्रद्धांजलि

कवि कमलेश

कथाकार, नाटककार महेंद्र भल्ला

कथाकार, संपादक अवध नारायण मुद्गल

कवि ललित शुक्ल

तमिल कथाकार जयकांतन

पूर्व राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम

पत्रकार प्रफुल्ल बिदवई

इन सभी दिवंगत विभूतियों को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की ओर से श्रद्धांजलि।

अन्य भारतीय भाषाओं के संदर्भ में हिंदी

प्रभाकर श्रोत्रिय

आज हम हिंदी भाषा और साहित्य के कुछ ताजा प्रश्नों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि आज हिंदी ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाएं भीतर बाहर के विखंडन से जूझ रही हैं। इस समय राष्ट्रभाषा को यही बात अपने विचार-केंद्र में रखना चाहिए और अपने दुःख-सुख से उबरकर भारतीय भाषा के रूप में आचरण करना चाहिए ताकि सभी भारतीय भाषाओं, लोक-भाषाओं और भारत के बाहर फैले हिंदी-संसार को अपने आंगन में उनकी पूरी नागरिकता और स्नेह के साथ शामिल कर सके।

स्थिति यह है कि आज हिंदी सहित भारतीय भाषाएं तेजी से बोली बनती जा रही हैं, वे समस्त उपयोगी क्षेत्रों से हटकर सिर्फ आपस में बातचीत की भाषा रहने दी गई हैं; लिपियों को अपदस्थ करने की अंतर्योजनाएं भी चल रही हैं। भाषाओं की अस्मिता का इतनी तेजी से क्षरण होना, हमें एक ऐसे भविष्य की ओर धकेलता है, जहां एक ऐसी भाषा का साम्राज्य होगा जिसने हम पर सदियों तक राज्य किया। यह नए तरह का साम्राज्यवाद है जो हर भाषा की साझा चिंता है। राष्ट्रभाषा होने के कारण हिंदी को ही सभी भारतीय भाषाओं को संगठित कर उन्हें बाजारवादी षड़यंत्र से सावधान करना होगा। इसके लिए हमें कुछ ठोस पहल करनी होगी।

पहली तो यह कि एक ओर हम तमाम मंचों से तो आत्ममुग्ध घोषणाएं करते रहते हैं कि भारतीय साहित्य अनेक भाषाओं में लिखा एक साहित्य है; पर अगर कोई पूछे कि आप ऐसा कैसे कहते हैं तो हमारे पास बिखरा-टूटा-सा उत्तर होगा। क्योंकि इस तथ्य को जानने पर इस देश ने कभी प्रयास ही नहीं किया कि वह 'एक' क्या है जो विविध भाषाओं में निहित है, क्या वह 'एक' कोई चीज है? कोई सूत्र है? हर क्षेत्र की, भाषा की अपनी-अपनी समस्याएं, परिवेश, अनुभव और प्रतिभाएं हैं, ये सब किस अर्थ में एक हैं? यहां तक कि लेखक की अपनी अस्मिता है, अपना सच है; फिर इतनी-पृथक्ताओं में 'एक' है क्या?

यह प्रश्न उठाकर मैं 'अनेकता में एकता' के सच को अस्वीकार नहीं कर रहा हूं बल्कि यह कहना चाहता हूं कि क्या हमने इसका कोई प्रमाण, कोई सच खोजा है? उन अंतर्धाराओं को जाना है जो एक महानद के भीतर प्रभावित होती हैं? क्योंकि बिना सच को जाने कही जाने वाली कोई बात 'असत्य' होती है।

इसका अन्वेषण और प्रमाणीकरण इन प्रश्नों के उत्तर में निहित है कि क्या भारतीय भाषाएं एक-दूसरे के अवदान और गौरव से परिचित हैं? संवेदन और ज्ञान के क्षेत्र में किए गए कामों से

परस्पर परिचित हैं? होंगी कैसे? चंद, पुस्तकों के दो-एक भाषाओं में अनुवाद क्या उस भाषा-समुद्र की बूंद के एक कण से भी अधिक हैं? आस-पड़ोस की भाषाएं ही एक-दूसरे के अवदान से अपरिचित हैं। तमिल को नहीं पता कि मलयालम में कितना खजाना है? बांग्ला को नहीं पता कि असमिया या उड़िया में वह दुर्लभ क्या रचा है, जो उसे अतिक्रान्त करता है। एक ओर आत्म-प्रचार, आत्म-मुग्धता और दूसरी ओर आत्मान्वेषण तथा वस्तुगत अन्वेषण की कमी ने हमें खोखला कर दिया है। यह हमारी भाषाओं, हमारी चेतना और ज्ञान को अपने दायरे में सिमटाए हुए है और संवाद को, यहां तक कि हमारे परस्पर सम्मान को भी कुंद किए हुए है।

भाषाओं का पास-पास रहना ही जरूरी नहीं है, परस्पर अवगति के बिना इसका कोई मूल्य नहीं है। दो व्यक्ति पड़ोसी हो सकते हैं पर उनका फासला समुद्र जितना हो सकता है। भाषाएं न पेंटिंग हैं, न नृत्य, न संगीत; वे शब्द में रहती हैं; बिना शब्दों का अर्थ जाने उनका आस्वाद या ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। यह भाषाओं के परस्पर अनुवाद से ही संभव है।

भाषाओं के अनुवाद का काम छोटा नहीं है। अठारह-अठारह समृद्ध भाषाओं में अथाह साहित्य है; ज्ञान की अनेक शाखाओं में प्रज्ञाओं ने अखूट काम किया है। इनके अनुवाद के लिए हमें कितने प्रकार की प्रतिभाएं और मेधाएं चाहिए? कितने साधन चाहिए?

अनुवाद-कार्य एक तकनीकी काम भी है, भाषांतरण की एक सेतुभाषा का भी अपना विज्ञान होता है। यह विराट काम न कोई व्यक्ति कर सकता है, न कोई समूह। इसके लिए एक विशाल व्यवस्था चाहिए। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि इस भाषा-बहुल देश में भाषाओं के अनुवाद का 'एक' विश्वविद्यालय तक क्यों नहीं है? वैसे होना तो सैंकड़ों चाहिए और प्रमुखतः चारों दिशाओं में कम-से-कम एक तो अवश्य। परंतु मुझे नहीं लगता कि कोई शिक्षा-केंद्र, राजनीति या कोई दिग्पाल इस बारे में चिंता कर रहा है? विभिन्न भाषाओं में शतियों, सहस्राब्दियों से लिखे श्रेष्ठ साहित्य को हम अनुवाद के माध्यम से जब तक नहीं जानेंगे तब तक किस तरह हम भावात्मक रूप से एक होंगे? एक दूसरे से अभिज्ञता, और परस्पर मूल्यांकन के बीज पड़े बिना यह ज्ञान और सृजन की खेती कैसे बढ़ेगी? हिंदी को यह काम करना होगा। क्योंकि उसकी भाषिक समृद्धि और व्याप्ति के कारण ही वह सेतुभाषा है।

'विश्वविद्यालयों' का सुझाव इसलिए कि यहां अनुवाद की सारी वैज्ञानिक, तकनीकी प्रणालियां एकत्र और अन्वेषित की जा सकती हैं; विशाल पुस्तकालय, संदर्भ ग्रंथों का संग्रह हो सकता है और वे समस्त सुविधाएं दी जा सकती हैं जो इस कार्य के लिए आवश्यक हैं। देश भर के विद्वानों को यहां आमंत्रित कर सकते हैं और अंततः छात्रों को पारंगतता के बाद उपाधि दे सकते हैं ताकि हमारी युवा पीढ़ी प्रमाणिक अनुवादक के रूप में रोजगार और प्रतिष्ठा पा सके; देश भर में अनेक स्तरों पर जो अनुवाद हो रहे हैं उन्हें सही दिशा, सही भाषा मिल सके और सार्थकता भी।

हिंदी वैधानिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में संयोजक भाषा इसलिए भी है कि उसके कई सिरे हैं, कोई संस्कृत से मिलता है, कोई उर्दू से; कोई लोक भाषाओं से तो कोई विदेशी भाषाओं से। मैं अपने अनुभव से जानता हूं कि जिस रचना का हिंदी में अनुवाद हो जाता है, उसका अन्य भाषाओं में भी तुरंत अनुवाद हो जाता है।

अनुवाद हमारी क्लैसिक सिद्धि और वैज्ञानिक सामर्थ्य का पता देते हुए हमारी आधुनिक प्रतिभा और प्रखरता का पता भी देंगे और उस चेतना का भी जो अनेक दिशाओं में बिखरी हुई है और दुनिया भर के लोग उसका लाभ उठा रहे हैं। जिस दिन बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का ठीक-ठिकाने का अनुवाद

हो जाएगा उस दिन लोग देरिदा के भाषा-दर्शन की रटंत भूल जाएंगे। अनुवाद की प्रक्रिया भी अनुभव और अन्वेषण का नया संसार खोलती है क्योंकि अनुवाद कोई मशीनी प्रक्रिया नहीं है, एक प्रकार का सर्जनात्मक कर्म है।

अपने शब्दकोश को लेकर भी हमारी कई समस्याएं हैं, कभी हम उसे अपर्याप्त या दरिद्र कहते हैं और विदेशी भाषाओं का मुंह ताकते हैं, कभी ऐसी बेमेल खिचड़ी पकाते हैं जो हमारे भाषिक स्वभाव के विरुद्ध है। देशी भाषाओं का अनुवाद हमें न सिर्फ शताब्दियों से परिपक्व शब्द भंडार देगा, बल्कि अनेकानेक बोलियों के शब्दों से भी समृद्ध करेगा। साथ ही अनूदित भाषाओं के शब्द भंडारों को भी भर देगा। यह हमारे लिए एक स्वाभाविक आदान-प्रदान होगा, जो संस्कृति के मूल स्रोतों से आया है।

हमारी त्रासदी यह है कि आजादी के बाद ही बने 'तकनीकी एवं वैज्ञानिक शब्दावली आयोग' जिस पर विज्ञान, समाज विज्ञान, साहित्य-रूपों आदि की पारिभाषिक शब्दावली बनाने का भी जिम्मा रहा है, उसकी दिशा शुरू से ऐसी है कि वह इस शब्दावली को कहां पहुंचाएगी, पता नहीं। यह आयोग अंग्रेजी को आधार मानकर हिंदी शब्द बनाता है, जबकि हमारी परंपरा और प्रचलन में हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और लोक भाषाओं में उनसे अच्छे, मौलिक, व्यंजक और सार्थक शब्द हैं। पर आयोग का दृष्टिकोण न सिर्फ हिंदी को, बल्कि भारतीय भाषाओं को भी अनूदित भाषा बनाकर छोड़ेगा।

यह सच है कि डॉ. रघुवीर के कोश में संस्कृत के अनेक दूभर शब्द हैं; हम बरसों से उसकी कई अच्छाइयों के बाद भी उसे गरियाते रहे हैं, परंतु यह भी तो अतिवाद है कि किशोरीदास वाजपेयी जैसे व्याकरणविद् संस्कृत को बांझ भाषा कहते हैं जबकि सभी भारतीय भाषाएं उसकी शब्दावली से समृद्ध हुई हैं। यह भी एक अतिवाद है कि कुछ लोग हिंदी में उर्दू और अंग्रेजी का बोलबाला चाहते हैं।

सारे अतिवादी मार्ग हमें केवल दिग्भ्रंत करते हैं। यहां इसका विश्लेषण करने का अवसर नहीं है; परंतु हमारे संविधान का कहना है कि जब नए शब्द की आवश्यकता हो तब संस्कृत और भारतीय भाषाओं के शब्द लिए जाएं। इस दृष्टि से क्या हम संस्कृत और सब बोलियों और भाषाओं की सार्थक और व्यावहारिक शब्दावली को लेकर एक नया कोश नहीं बना सकते या पूर्व कोशों में संशोधन नहीं कर सकते? नए कोश-निर्माण में हमें भारतीय परिसर (डायस्पोरा) के अत्यावश्यक और उपयुक्त शब्दों पर भी विचार करना चाहिए।

यह सच है कि एक जीवित भाषा में शब्दावली का विकास होता रहता है और हिंदी सहित सभी भाषाओं में यह निरंतर हो रहा है। इसी रूप में शब्दकोशों का विकास होना चाहिए। भाषा में किसी अन्य भाषा का शब्द अछूत नहीं होता। मसलन अगर पश्चिम ने नए वैज्ञानिक साधन दिए हैं तो वे अपनी भाषा भी लेकर आए हैं। हम उनमें से कई ज्यों-के-त्यों ले सकते हैं।

एक ओर जहां शब्दकोशों का परिमार्जन और विकास होना जरूरी है, वहीं साहित्य कोशों, ज्ञान कोशों और विश्वकोशों के निरंतर नए परिवर्धित संस्करण निकलने चाहिए, परंतु पचास-साठ बरसों से वे ज्यों-के-त्यों चले आ रहे हैं। फिर नए-नए विषयों और छूट गए विषयों के भी कोश बनाना चाहिए इस दिशा में हमारा आलस्य और जड़ता ही हमारे विकास और गतिशीलता में बाधक है।

आखिर देश-भाषा और विश्व-भाषा बनना कोई खेल-तमाशा नहीं है। इसके लिए हिंदी को कई दिशाओं में कठिन परिश्रम कर सशक्त होना होगा और अपने साथ देश की अन्य भाषाओं को भी समर्थ बनाना होगा। मेरी जानकारी में ऐसी कोई साझा योजना नहीं बनी। बनी भी हों तो उन पर कोई ठिकाने का काम नहीं हुआ। हमारी अगली पीढ़ियां बहुत प्रतिभाशाली हैं। उन्हें मार्गदर्शन देते हुए यह दायित्व देना होगा, साधन देने होंगे। केवल विश्वविद्यालय में डॉक्टरेट की उपाधियां देकर

उन्हें नौकर बना देना, उच्च ज्ञान का लक्ष्य नहीं है।

मैं आपका ध्यान उन सैकड़ों लोकभाषाओं या बोलियों की ओर भी दिलाना चाहता हूँ जो भाषाओं की जड़ें हैं। अनेक अकादमियाँ बनी हैं पर यह नहीं सोचा गया कि श्रेष्ठ साहित्य के साथ ही केंद्र के स्तर पर लोक-साहित्य अकादमी और लोक-भाषा अकादमी भी बननी चाहिए। लोक-साहित्य के अनुवाद की भी हमारे पास कोई समेकित योजना नहीं है, न लोक-भाषाओं के विकास और संरक्षण की। हमारी 300 से अधिक लोक-भाषाएं मर चुकी हैं और कई मरने की कगार पर हैं। एक लोक-भाषा का मरना एक लोक-संस्कृति का मरना है।

लोक के नाम पर हमने कुछ विश्वविद्यालय खोले हैं, पर वे अन्य विश्वविद्यालयों से किस अर्थ में भिन्न हैं, यह समझना मुश्किल है। अगर हमें वहाँ सामान्य पद्धति से जनजातियों को ही शिक्षित करना है तो उन्हें छात्रवृत्तियाँ देकर उन्हें अन्य विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा सकता है। इन विश्वविद्यालयों से कोई विशेष काम लिया जाना चाहिए। हमारे पास एक सही लोक-नीति होनी चाहिए और उस पर निष्ठापूर्वक काम होना चाहिए। लोक का मौखिक साहित्य, ज्ञान, अनुभव पीढ़ियों के साथ लुप्त होता जा रहा है, उसका संरक्षण, उपयोग और विकास होना भी जरूरी है। श्रेष्ठ भाषाओं के जीवन के लिए लोक-भाषाओं और बोलियों का जीवित रहना, उनकी कला का जीवित रहना; अनुभव और ज्ञान का जीवित रहना जरूरी है। इतना ही नहीं, इनके जीवित रहने को सार्थक और नए उन्मेष से जोड़ने की या उनसे स्वयं उन्मेष पाने की, एक सतत आदान-प्रदान प्रणाली विकसित करनी होगी। उन्हें उपेक्षित और अकेले छोड़कर पूरी मानव-सभ्यता किस अर्थ में लगातार कंगाल हो रही है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

स्वयं हिंदी की बात करें तो उसकी बोलियाँ जो जन्मतः उसका अभिन्न अंग रही हैं, आज एक-एक कर उससे अलग होकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और अधिकार की मांग कर रही हैं। पता नहीं कितने समय से अपनी अनदेखी की पीड़ा वे झेलती रही हैं। ज्वालामुखी जब फटता है तब कितने युगों की बेचैनी उसमें घनीभूत होती है? याद करें कि हमने कितने समय से अपने साहित्येतिहास में लोक-साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं और रचनाकारों का स्मरण नहीं किया? ब्रजबुली, डिंगल, मैथिली, अवधी, भोजपुरी, ब्रज आदि के साहित्य को सूख गई धाराओं की तरह भुला दिया गया। इतना ही नहीं ब्रजबुली के कवि विष्णुदास, बुंदेली के ईसुरी, भोजपुरी के रघु ठाकुर, निमाड़ी के सिंगाजी जैसे लोकव्यापी महाकवियों को अपने इतिहास में जगह तक नहीं दी। क्या यह हमारा ऐतिहासिक अपराध नहीं?

क्या यह हमारी विखंडित सोच नहीं है कि हम एक काल-सीमा बांधकर रचना-प्रवृत्ति का वहीं अंत मान लेते हैं? क्या वीर-काव्य, भक्ति काव्य, प्रेम काव्य, संत साहित्य या रीतिधारा ने हमारे निरिधरित युगों की सीमा को स्वीकार कर वहीं अपना अंत कर लिया? क्या आज भी ये धाराएं, क्षीण रूप में ही सही, हमारी रचनाओं में अंतर्प्रवाहित नहीं हैं? परंतु हम ऐसी व्यापक पड़तालें से इनकार करते रहे हैं। हमारे इनकार करने से क्या चीजें बदल जाती हैं? उल्टे, इन धाराओं के उच्च स्तरीय रचनाकार भी उपेक्षित रह जाते हैं।

भारत के बाहर भारतवंशी हिंदी-भाषियों, लेखकों, हिंदी-कवियों का एक बड़ा संसार है। हम इन लेखकों को 'प्रवासी लेखक' कहते हैं। यह इन्हें आहत करता है, कई विदेशी विद्वान और लेखक भी हिंदी की अथक सेवा कर रहे हैं परंतु 'विदेशी लेखक' कहना उन्हें भी चुभता है क्योंकि वे हिंदी के

ही हो गए हैं। उन्होंने महत्वपूर्ण अन्वेषण किए हैं और भारत में हिंदी की उपेक्षा, विदेशी दूतावासों में हिंदी की उपेक्षा से क्षुब्ध होते हैं। वे हमसे पूछते हैं कि उनके देशों में अंग्रेजी, फ्रेंच, आदि कई भाषाओं के लेखक हैं पर उन्हें तो वे भाषाएं 'प्रवासी' या 'विदेशी' नहीं कहतीं? आप अपनी भाषा के लेखकों को प्रवासी और विदेशी क्यों कहते हैं? उनका प्रश्न और उनकी मांग सही है। जितना गर्व हमारे लेखकों को अपनी भाषा पर है उससे ज्यादा उन्हें है। मॉरीशस के सोमदत्त बखौरी कहते हैं- 'हमको प्यारी हिंदी भाषा, जितनी प्यारी अपनी माता।'

यह बात गौर करने की है कि परदेस में आप अपना खून देकर उसे समृद्ध तो कर सकते हैं, पर खून देकर वहां अपनी भाषा लाना बहुत कठिन है। ऐसा करने की कोशिश एक तरह से विपरीत वातावरण में ऐसा युद्ध लड़ना है, जिसका कोई ठोस प्राप्य भी नहीं दिखता। फिर भी भारतवासियों ने वहां अपना खून ही नहीं दिया, अपनी भाषा और संस्कृति के बीज बोकर अपने रक्त से सींचा है। इसलिए अपनी मूल धारा के इतिहास और संस्कृति से कटना उन्हें जितना खलता है उतना ही हमें भी खलना चाहिए। हिंदी-प्रेमी, विद्वान लेखक और संस्कृतिकर्मी जापान के हिंदी प्रोफेसर क्यूमादोई का यह दर्द देखें- 'यह कैसा देश है जिसकी राष्ट्रभाषा उसके विदेशी दूतावास तक नहीं समझते और बोलते हैं।' 1935 में बेल्जियम से भारत आए कामिल बुल्के यह देखकर चकित रह गए कि भारत में हिंदी की घोर उपेक्षा है। विडंबना देखिए कि उन्होंने भारत में हिंदी पढ़ाने के लिए हिंदी सीखी और 'रामकथा' के वैश्विक प्रभाव पर एक कालजयी खोज-ग्रंथ लिखा, शब्दकोश बनाया। कोलंबिया विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर शेल्डन पोलॉक भारत में संस्कृत सहित प्राचीन भाषाओं के मरते जाने से जितने दुःखी हैं उतने तो भारत के संस्कृत और प्राचीन भाषाओं के पंडित भी न होंगे। वे हमारी तरह उन्हें बांझ भाषा कहकर छुट्टी नहीं पा लेते। ऐसे स्वजनों को हम विदेशी और प्रवासी कैसे कह सकते हैं?

हिंदी पर जब-जब हिंदुओं की भाषा का लेबिल लगा दिया जाता है। यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है जिस खड़ी बोली हिंदी के पहले कवि अमीर खुसरो हों; रहीम, जायसी, रसखान जैसे बड़े कवि जिसका गौरव हो; एक पूरी की पूरी प्रेम-काव्यधारा मुस्लिम-सूफी कवियों की हो; परवर्तीकाल में भी अनेक गैरहिंदू और गैरहिंदी रचनाकार हों, जो भाषा; विश्व के अनेक देशों में फैली हो और अनेक स्थानीय भाषाओं के मिश्रण से क्रियोल भाषाएं बना रही हों; जैसे सूरीनाम में 'सरनामी' और फीजी में 'फीजीबात' का निर्माण भारतवाशियों ने किया है और हिंदी की प्रसार-संख्या बढ़ाई है। स्वयं भारत में 50-60 करोड़ लोग जिसे समझते, लिखते, पढ़ते हों, उस भाषा को एक जाति के घेरे में बांधना किस अर्थ में सही कहा जा सकता है? उसकी सिर्फ एक जाति है- 'हिंदी जाति'- जैसा डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है।

वास्तव में वही भाषा बड़ी होती है जो मूल जातीय घेरे से बाहर अन्य जातियों, देशों में फैलती है- केवल बोलचाल के स्तर पर नहीं, सर्जना और ज्ञान के स्तर पर भी। जब हिंदी में केरल की, तमिलनाडु की, कर्नाटक की, आसाम की, बंगाल की, गुजरात की, महाराष्ट्र की, कश्मीर की सुवास, वहां का परिवेश, जीवन, संस्कृति, और व्यंजन का स्वाद मिलता है तभी उसकी रंगारंग समृद्धि दिखाई देती है और जब इसमें से मॉरीशस, फीजी, इंडोनेशिया, जापान, रूस, चीन, इंग्लैंड, अमरीका, यूरोप आदि का जीवन, वहां की समस्याएं, वहां की झंकार, वहां के राग-रंग दिखाई पड़ते हैं तो वह समृद्धि से और मालामाल हो जाती है। इसलिए भाषा को नष्ट करने वाली किसी भी संकीर्ण सोच को हिंदी में जगह नहीं दी जा सकती।

पिछले दशकों से हिंदी साहित्य में वादों, विचारों, क्षेत्रों, प्रांतों, स्वार्थों आदि के अनेक छोटे-छोटे कटघरे बने हैं। हिंदी के पाठक उनसे कितना परहेज करते हैं, यह इसी बात से समझा जा सकता है कि अब लेखकों को यह शिकायत होने लगी है कि उसके पाठकों की संख्या कम होती जा रही है। पाठकों पर कोई दोष मढ़ने से पहले हिंदी के सर्जकों और बुद्धिजीवियों को आत्मान्वेषण करना चाहिए कि पाठकों की दूरी या कमी के भीतर उनकी कितनी भूमिका है; उनकी संकीर्णता, ईर्ष्या, क्षुद्रता और घमंड के प्रति पाठक का मन कितना वितृष्ण हो गया है?

हिंदी का सच्चा पाठक न तो मसखरी से भरा घटिया और अश्लील साहित्य पसंद करता है, न परंपरावादी और उसे पीछे धकेलने वाला साहित्य, वह संप्रेषण के प्रति उदास, अरुचिकर, स्तरहीन और शुष्क साहित्य को भी नापसंद करता है। वह सही अर्थों में श्रेष्ठ साहित्य चाहता है, क्योंकि उसे अपनी लंबी परंपरा का ज्ञान है और श्रेष्ठ वैश्विक साहित्य की पहचान है। इन दृष्टियों से भी हमें उसकी अरुचि और दूरी की पड़ताल करना चाहिए।

हमने कई तरह से अपने को सिकोड़ा है। भारतेंदु युग को याद कीजिए एक साथ कितनी विधाओं का विस्फोट हुआ था- कविता के कई प्रकारों के अलावा कथा, नाटक, निबंध और उसके अनेक रूप-रंग; संस्मरण, पत्र, आत्मकथा और बाद में विकसित हुए डायरी, एकाकी, रेडियो नाटक, रिपोर्टाज और अनेक। और आज अपने साहित्य की पड़ताल करें तो कितनी विधाएं लुप्त हो गई हैं या नाममात्र की रह गई हैं? इनके बदले क्या नई विधाएं आई हैं? हमने और हमारे प्रकाशकों ने व्यावसायिकता के चलते हिंदी साहित्य को प्रायः कविता, कहानी, उपन्यास में सीमित कर हिंदी को दरिद्रता की ओर धकेला है।

हिंदी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाएं साहित्य का मतलब ललित साहित्य समझ रही हैं; ज्ञान-विज्ञान से स्तरीय ग्रंथों का लगभग लोप हो गया है, या उनमें पाठ्यपुस्तकीय स्तर का लेखन होता है। संस्कृत और उसके बाद भी ललित साहित्य के साथ, ज्ञान-विज्ञान के लगभग सभी अनुशासनों में गंभीर, अन्वेषणपरक और अद्भुत ग्रंथों की रचना हुई है- जैसे उन्होंने कोई क्षेत्र छोड़ा ही न हो; यहां तक कि हमारे साहित्य-ग्रंथ अप्रत्यक्ष रूप से हमारे ज्ञान-समुद्र रहे हैं। रामायण, महाभारत रघुवंश आदि अपने आप में साहित्य-रूप में ज्ञानकोश हैं। परंतु आज हिंदी और अन्य भाषाओं में हमारी आत्म और वस्तु-केंद्रित दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदि अनेक झरोखे ही बंद नहीं किए; हमारे गांव, हमारी प्रकृति तक हमसे छीन ली है, इसी तरह वे बड़े वैश्विक प्रश्न जो साहित्य को उठाना चाहिए। छोटा सोच हमें कितनी जगहों पर छोटा बनाता है?

भारत में प्रतिभाओं की कमी नहीं है। फिर भी हमारे प्रतिभाशाली ज्ञान-विज्ञान के लेखक अपने ग्रंथ अंग्रेजी में लिखते हैं। इनके भीतर कई अन्य कारण सक्रिय हैं। इसलिए लेखकों से कुछ कहने की अपेक्षा उन कारणों की खोज और समस्याओं का समाधान हमारी मौलिक ज्ञान राशि के विकास के लिए जरूरी है। राजनेता भले ही सड़क, पानी, बिजली को विकास का पर्याय मानें, भाषाकर्मी तो मौलिक ज्ञान को ही आधारभूत विकास मानेगा।

विघटन की इतनी दिशाओं की ओर संकेत करने का उद्देश्य नकारात्मक तस्वीर पेश करना नहीं है। कहना यह है कि जब कोई भाषा, देश और स्वप्न बिखरने लगता है तो इसका अंत नहीं होता। हमने जो बिखेरा है, उसे हमारे अलावा कौन सहेजेगा? तुलसी ने कहा है- 'जोई बांध्यो सोई छोरे।'

हिंदी पत्रकारिता और साहित्य का अंतःसंबंध

कृपाशंकर चौबे

हिंदी पत्रकारिता और हिंदी गद्य ने साथ-साथ विकास किया। हिंदी के आरंभिक गद्य को जिन्होंने रोपा, सींचा और परिनिष्ठित रूप दिया, वे पत्रकार थे। भारतेंदु ने कहा था, 'हिंदी नई चाल में ढली 1873 ई में।' परंतु हिंदी की चिंता के संकेत उससे भी पहले मिलने लगे थे। 30 मई 1826 को कलकत्ता से प्रकाशित हिंदी के पहले समाचार पत्र 'उदंत मार्तंड' के 'आश्विन वदि-3' के अंक में उसके संपादक युगल किशोर शुक्ल ने 'अशुद्धता' शीर्षक एक टिप्पणी लिखकर 'समाचार-दर्पण' की भाषा-च्युति पर तीखा व्यंग्य किया था। हालांकि खुद 'उदंत मार्तंड' पर फारसी का प्रभाव था। 1829 में कलकत्ता से ही निकले 'बंगदूत' पर भी फारसी का प्रभाव था। 'उदंत मार्तंड' तथा 'बंगदूत' और को औ लिखते थे। 1854 में निकले हिंदी के पहले दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' तक आते-आते हिंदी पत्रकारिता फारसी के प्रभाव से एक हद तक तो मुक्त हो गई किंतु ब्रज भाषा का प्रभाव तब भी कायम था। 'समाचार सुधावर्षण' भया लिखता था तो 'बंगदूत' होय लिखता था। ब्रजभाषा के प्रभाव के अलावा तब की हिंदी पत्रकारिता में खड़ी बोली के क्षेत्रीय प्रयोग की बहुतायत होती थी। जैसे तब के समाचार पत्र करती के लिए कर्ती, मानने के लिए मान्ने लिखते थे। उसके ठीक बाद भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी पत्रकारिता में आए। भारतेंदु ने बनारस से 15 अगस्त 1867 को कविता केंद्रित पत्रिका 'कवि वचन सुधा' निकाली। उस पत्रिका के साथ ही कविता के क्षेत्र में नया युगांतर आया। कविता जब पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी तो सभी पाठकों को सुलभ हो गई। उसके पहले कविता दरबार तक सीमित थी। बाद में गद्य साहित्य भी 'कवि वचन सुधा' में छपने लगा था। 'कवि वचन सुधा' का मूल वाक्य था : 'अपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै।' यानी भारत द्वारा सत्व ग्रहण करने के उद्देश्य को हासिल करने के लिए भारतेंदु ने वह पत्रिका निकाली थी। हिंदी में साहित्यिक पत्रकारिता की शुरुआत करने का श्रेय 'कवि वचन सुधा' को ही जाता है। उस पत्रिका में भारतेंदु ने हिंदी के पुराने तथा नए कवियों की रचनाएं छापने के अलावा विदेशी कवियों की श्रेष्ठ रचनाएं भी प्रकाशित की। सात साल से ज्यादा समय तक 'कवि वचन सुधा' निकालने के बाद भारतेंदु ने 15 अक्टूबर 1973 को 'हरिश्चंद्र मैग्जीन' का प्रकाशन प्रारंभ किया। उसके केवल आठ अंक ही निकल सके। उसके बाद उसका नाम 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' कर दिया गया। छह वर्षों तक उसने साहित्य का प्रसार किया। कविता के अलावा गद्य की विभिन्न विधाओं की रचनाएं भी उसमें छपती थीं। लाला

श्रीनिवास दास का नाटक 'तप्सासंवरण' सबसे पहले 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में ही छपा था। भारतेंदु ने 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'नवोदित हरिश्चंद्र चंद्रिका' और स्त्रियों की मासिक पत्रिका 'बाला बोधिनी' का भी प्रकाशन किया। उस कालखंड को भारतेंदु युग के नाम से इसलिए जाना जाता है क्योंकि भारतेंदु ने अपने युग धर्म को पहचानते हुए उसे दिशा दी थी।

भारतेंदु से प्रेरणा पाकर भारतेंदु मंडल के अन्य लेखकों ने भी समाचार पत्रों का प्रकाशन किया। बालकृष्ण भट्ट के संपादन में 1877 में प्रकाशित 'हिंदी प्रदीप' इस दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयास था। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' के माध्यम से भारतीय ज्ञान परंपरा के प्रसार का अत्यंत मूल्यवान कार्य किया। उन्होंने 'हिंदी प्रदीप' में कालिदास, श्री हर्ष, भवभूति, बिल्हण, बाण, त्रिविक्रम भट्ट, हरिश्चंद्र, भारवि, क्षेमेंद्र तथा गोवर्धन आदि कवियों के जीवन और योगदान पर लेख प्रकाशित किए तो संस्कृत के कई ग्रंथों की आलोचनाएं भी छापीं। बालकृष्ण भट्ट ने 'नल दमयंती', 'किरातार्जुनीयम', 'सौ अजान एक सुजान' और 'भाग्य की परख' जैसे नाटक 'हिंदी प्रदीप' में छापे और व्यंग्य रचनाएं भी। इन विधाओं के विकास में योगदान करने के अलावा 'हिंदी प्रदीप' ने हिंदी पाठकों के लिए देश के प्राचीन इतिहास और नगरों, नदियों, पर्वतों का परिचय भी प्रकाशित किया। 1908 में माधव शुक्ल की कविता छापने के लिए 'हिंदी प्रदीप' पर जुर्माना लगा जिसे नहीं चुका पाने के कारण वह बंद हो गया।

'हिंदी प्रदीप' शुरू होने के एक साल बाद 1878 में 'भारत मित्र', 1879 में 'सारसुधानिधि' और 1880 में 'उचित वक्ता' निकला और उन समाचार पत्रों के माध्यम से उनके संपादकों क्रमशः छोटेलाल मिश्र, सदानंद मिश्र और दुर्गाप्रसाद मिश्र ने हिंदी गद्य के उन्नयन की दिशा में ठोस काम किए। 'सारसुधानिधि' के वर्ष 2, अंक 12 की संपादकीय टिप्पणी में सदानंद मिश्र ने लिखा था, 'एक विशुद्ध साधु हिंदी भाषा की सर्वत्र एक ही पुस्तक पढ़ायी जाना उचित है। किंतु विशेष दुःख का विषय है कि जिस हिंदी भाषा का अधिकार इतना बड़ा है कि भारतवर्ष के प्रायः आधे दूर तक परिव्याप्त है। उस भाषा के विषय में विश्वविद्यालय की सीनेट सभा ऐसी उदासीन रहे कि उस ओर भ्रम से भी कभी न देखे। जहां के जिस शासनकर्ता की जैसी इच्छा वह वैसी ही इसको विकृत कर डालें जो इच्छा पाठ्य पुस्तक स्थिर कर दें। कोई पूछने वाला नहीं कि इस विषय में क्या होता है। ...एक सीनेट सभा के उदासीन रहने के कारण हिंदी भाषा का अभी तक एक स्वरूप ही स्थिर नहीं हो सका है। और यह तो निश्चय है कि जब तक हिंदुस्तान प्रधान हिंदी भाषा विशुद्ध और साधु रूप धारण नहीं करेगी, साधारण उन्नति कदापि नहीं हो सकेगी। अतएव हिंदुस्तान की उन्नति का मूल जब यह ठहरा कि हिंदुस्तान की प्रधान भाषा हिंदी परिशुद्ध होकर सर्वत्र एक ही रूप से प्रचार होय, तब अवश्य गवर्नमेंट की सहायता आवश्यक है। क्योंकि संप्रति भारतवासियों की सर्व प्रकार की शिक्षा एकमात्र गवर्नमेंट के अधीन है।'

इसी तरह दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 12 जनवरी 1895 के 'उचितवक्ता' की संपादकीय टिप्पणी में लिखा था, 'आजकल हिंदी साहित्य की विचित्र दशा वर्तमान है। इसकी कुछ स्थिरता ही नहीं देख पड़ती। विविध प्रकार के रंग-बिरंगे लेख प्रकाशित होते हैं। कोई तो आज संस्कृत शब्दों पर झुक रहे हैं और ज्योंही किसी ने कह दिया कि आपकी भाषा कठिन है, कुछ सरल कीजिए, कि चट पलट कर उर्दू की खिचड़ी पकाने लग गए, फिर ज्योंही किसी ने कह दिया कि केवल संस्कृत के शब्दों

के मिलाने से वा उर्दू के शब्दों के प्रयोग से भाषा पुष्ट होगी, बस चट बदल गए और दोनों प्रकार के शब्दों को मिलाने में उतारू हो गए। सारांश यह कि ग्राहकों की खोज में भाषा को भी भटकाते रहते हैं। 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता' की इन संपादकीय टिप्पणियों से स्पष्ट है कि पुराने संपादकों में भाषा के प्रश्न को लेकर गहरी चिंता थी। इसी सरोकार से 1881 में बद्रीनारायण उपाध्याय ने 'आनंद कादंबिनी' नामक पत्र निकाला और प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से 'ब्राह्मण' का प्रकाशन किया। 'आनंद-कादंबिनी' ने जहां साहित्यिक पत्रकारिता में योगदान दिया वहीं 'ब्राह्मण' का योगदान साधारण व सरल गद्य के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। 1896 में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' निकली। उसके चार साल बाद 1900 में इलाहाबाद के इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' निकली। आरंभ में उसके संपादन का भार एक समिति को सौंपा गया था जिसमें पांच लोग थे। वे थे बाबू श्याम सुंदर दास, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिक प्रसाद, बाबू जगन्नाथ दास और किशोरीलाल गोस्वामी। प्रवेशांक के मुखपृष्ठ पर पांच चित्र थे-सबसे ऊपर वीणावादिनी सरस्वती का चित्र था। ऊपर बाईं ओर सूरदास और दाईं ओर तुलसीदास तथा नीचे बाईं ओर राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद और बाबू हरिश्चंद्र के चित्र थे। एक साल बीतते न बीतते यह स्पष्ट हो गया कि संपादक मंडल से काम नहीं चलेगा तो जनवरी 1901 से बाबू श्याम सुंदर दास उसके संपादक हो गए। 1902 के आखिर में बाबू श्याम सुंदर दास ने आगे से संपादन करने में असमर्थता जताई और उन्होंने सरस्वती प्रेस के मालिक चिंतामणि घोष से नए संपादक के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सुझाया। चिंतामणि घोष द्विवेदीजी के महत्व से परिचित थे। उन्होंने द्विवेदीजी को आमंत्रित किया और द्विवेदीजी ने रेलवे की नौकरी छोड़कर 'सरस्वती' के संपादन का दायित्व स्वीकार किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जनवरी 1903 में 'सरस्वती' का संपादक बनने के साथ ही उसे ज्ञान के सभी अनुशासनों का खुला मंच तो बनाया ही, यह भी सुनिश्चित किया कि प्रकाशन के पूर्व हर रचना की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शास्त्रसम्मत हो। उन्होंने भरसक कोशिश की कि पूरी पत्रिका एक ही वर्तनी में निकले। द्विवेदीजी के लिए भाषा-परिष्कार पहली प्राथमिकता थी। उन्होंने 'सरस्वती' के नवंबर 1905 के अंक में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लिखकर अपनी भाषा चिंता जताई थी। उस लेख में द्विवेदीजी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र तक की व्याकरण की गलतियों पर टिप्पणी की है। द्विवेदीजी ने बाबू हरिश्चंद्र के जिस अवतरण का उदाहरण दिया है, वह है- 'मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों को श्रीबाबू रामदीन सिंह खड्गविलास के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापे।' भारतेंदु हरिश्चंद्र के इस वाक्य पर द्विवेदीजी की टिप्पणी है- 'इस वाक्य में पुस्तकों के आगे कर्म का चिह्न को विचारणीय है। पुस्तकों को ...स्वामी का कुल अधिकार है, यह वाक्य व्याकरण सिद्ध नहीं। यदि को के आगे छापने का ये दो शब्द आ जाते तो वाक्य की शिथिलता जाती रहती। फिर छापे के पहले एक सर्वनाम भी अपेक्षित है।' महावीर प्रसाद द्विवेदी इसी लेख में राजा शिव प्रसाद, गदाधर सिंह, काशीनाथ खत्री, मधुसूदन गोस्वामी और बाल कृष्ण भट्ट के अवतरणों की गलतियां भी उद्धृत करते हुए उन पर टिप्पणी करते हैं। 'हिंदी प्रदीप' के संपादक बाल कृष्ण भट्ट के जिस अवतरण को द्विवेदीजी ने उद्धृत किया है, वह है- 'जब तुम कुछ कर ही नहीं सकते तब मूंड़ मारकर घर क्यों नहीं बैठे रहते?' इस पर द्विवेदीजी टिप्पणी करते हैं- 'विचार्य्य शब्दों के प्रयोग में विधि निषेध का कुछ भी बंधन नहीं देख पड़ता। यहां तक कि जो

के आगे कोई-कोई तब का भी प्रयोग करते हैं। भाषा की यह अनस्थिरता बहुत ही हानिकारिणी है। द्विवेदीजी के इस एक शब्द अनस्थिरता को लेकर लंबा विवाद चला। 'भारतमित्र' के तत्कालीन संपादक बालमुकुंद गुप्त ने आत्माराम के नाम से दस लेख लिखकर द्विवेदीजी की तीखी आलोचना की। हर लेख के अंत में गुप्तजी अनस्थिरता के सवाल को खड़ा कर देते थे। गुप्तजी के दसों लेखों के उत्तर भी द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के फरवरी 1906 के अंक में दिए। द्विवेदीजी ने लिखा- 'भाषा की परिवर्तनशीलता के विषय में अस्थिरता की जगह अनस्थिरता शब्द लिखना अनुचित नहीं। अस्थिरता शब्द केवल स्थिरता के प्रतिकूल अर्थ का बोधक है। जो स्थिर नहीं है, वह अस्थिर है। परंतु जिसमें अतिशय अस्थिरता है, जिसमें अस्थिरता की मात्रा अत्यंत अधिक है, उसके लिए अनस्थिरता का प्रयोग हम अच्छा समझते हैं।' द्विवेदीजी के जवाब के बाद भी गुप्तजी संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने 'व्याकरण विचार' और 'हिंदी में आलोचना' शीर्षक लेख लिखकर द्विवेदीजी की फिर आलोचना की। तब गोविंदनारायण मिश्र सामने आए और उन्होंने 'हिंदी बंगवासी' में 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक से लेख लिखकर गुप्तजी की आलोचना की। डेढ़ साल तक चले उस ऐतिहासिक विवाद ने एक काम यह किया कि व्याकरणसम्मत भाषा और वर्तनी की एकरूपता के प्रति तब के संपादक और अधिक सजग रहने लगे।

'सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणियां और समालोचनाएं महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं लिखते थे और उनकी समालोचना की साख इतनी थी कि जिस भी किताब की वे प्रशंसा कर देते थे, उसकी प्रतियां देखते-देखते बिक जाती थीं। साहित्य की विधाओं-कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, जीवनी, आलोचना के समांतर समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, नागरिक शास्त्र, इतिहास और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भी पत्रिका में महत्व दिया और इस तरह उसका फलक विस्तृत कर दिया। अनेक रचनाकारों को सबसे पहले द्विवेदीजी ने ही अवसर दिया और जिनकी कविता या कहानी या लेख 'सरस्वती' में छपते थे, वे भी चर्चा में आ जाते थे। 'सरस्वती' में छपकर ही श्याम सुंदर दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधा कृष्ण दास, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी, संत निहाल सिंह, माधव राव सप्रे, राम नरेश त्रिपाठी, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, जय शंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, राय कृष्ण दास, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारी सिंह दिनकर जैसे साहित्यकारों की कई रचनाएं चर्चित हुई थीं।

'सरस्वती' ने सर्जनात्मक साहित्य की हर विधा के विकास के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए सिर्फ कहानी विधा को लें तो रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' 1903 में द्विवेदीजी के संपादन में 'सरस्वती' में ही छपी। बंग महिला (राजेंद्रबाला घोष) की कहानी 'कुंभ की छोटी बहू' 'सरस्वती' के सितंबर 1906 के अंक में छपी। 'सरस्वती' में 1909 में वृंदावन लाल वर्मा की कहानी 'राखी बंद भाई' और 1915 में प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' और 1916 में उन्हीं की बहुचर्चित कहानी 'पंच परमेश्वर' छपी। 1915 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' 'सरस्वती' में छपकर ही प्रसिद्ध हुई। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' और 'गुलबहार' तथा भगवान दास की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' पहले ही 'सरस्वती' में छप चुकी थीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दिसंबर 1920 में 'सरस्वती' से विदा ली। उनका अंतिम

संपादकीय 'संपादक की विदाई' शीर्षक से जनवरी 1921 की 'सरस्वती' में छपा। उसमें द्विवेदीजी ने लिखा, 'सरस्वती' को निकलते पूरे 21 वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था, उस समय हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य की क्या दशा थी, यह बात लोगों से छिपी नहीं है। जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं। 'सरस्वती' के आकार-प्रकार, उसके ढंग और लेखन शैली आदि को लोगों ने बहुत पसंद किया-अच्छी मासिक पुस्तक में जो गुण होने चाहिए, उसका शतांश भी मुझमें नहीं।'

भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की कविता पत्र-पत्रिकाओं से ही सामने आई थी। वही क्रम बराबर चला। इसी तरह कहानी के विकास में 'सरस्वती' के अलावा 'इंदु' और 'चांद' ने भी बहुत योगदान किया। जयशंकर प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' 'इंदु' में 1911 में छपी थी। 'चांद' का प्रकाशन सन् 1920 में प्रारंभ हो चुका था। आरंभ में वह साप्ताहिक था। बाद में मासिक हो गया। 'चांद' पत्रिका में ही महादेवी वर्मा का अधिकांश साहित्य छपा। 1920 में बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने बनारस से 'आज' का प्रकाशन शुरू किया। बाबूराव विष्णु पराड़कर 'आज' से उसके स्थापना काल से ही जुड़ गए। पराड़करजी ने हिंदी पत्रकारिता को कई नए शब्द दिए। श्री, सर्वश्री, राष्ट्रपति, मुद्रास्फीति उन्हीं के दिए शब्द हैं। पराड़करजी ने आज के लिए वर्तनी के नियम स्थिर किए थे जो काफी हद तक आज भी वहां लागू हैं।

मुंशी प्रेमचंद ने प्रेमचंद ने 1903 में स्वतंत्र पत्रकारिता प्रारंभ की थी और यह सिलसिला 1930 में 'हंस' के शुरू होने तक चलता रहा। 'हंस' के जरिए उन्होंने अपने युग के सवालियों का सामना किया। नवीन पद्य और गद्य साहित्य प्रकाशित करने के समानांतर रिपोर्ताज और टिप्पणियों के प्रकाशन के प्रति भी प्रेमचंद बहुत उदार थे। स्वयं उन्होंने विपुल पत्रकारीय लेखन किया और उनके उस पत्रकारीय लेखन, अनेकानेक रिपोर्ताज, लेख, टिप्पणियां, पुस्तक परिचय व समीक्षाएं वगैरह को पढ़े बगैर प्रेमचंद के समग्र साहित्यिक अवदान को समझा ही नहीं जा सकता। पत्रकारीय लेखन से प्रेमचंद का क्रम आजीवन चला। इस तरह के लेखन की शुरुआत उन्होंने ओलिवर क्रॉमवेल के विभिन्न प्रसंगों पर टिप्पणी लेखन से की थी जो 'आवाजे खल्क' में 1 मई 1903 से 24 सितंबर 1903 तक धारावाहिक छपी थी। इस समाचार पत्र के अलावा 'स्वदेश' और 'मर्यादा' में भी मुंशी जी रिपोर्ताज व टिप्पणियां लिखते थे। उर्दू के प्रसिद्ध समाचार पत्र 'जमाना' से तो उनका आत्मीय संबंध ही था, जो जीवनपर्यंत बना रहा। 'जमाना' में मुंशीजी रपटों व टिप्पणियों के अलावा 'रफ्तारे जमाना' के नाम से एक स्थाई स्तंभ भी लिखते थे। प्रेमचंद की पत्रकारिता से हम यह सीख ले सकते हैं कि रपट या टिप्पणी चाहे कलेवर में जितनी छोटी हो, उसकी संप्रेषणीयता इतनी बेधक व शक्तिशाली होनी चाहिए और वक्तव्य इतना स्पष्ट होना चाहिए कि कोई उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। उदाहरण के लिए 'हंस' के फरवरी 1934 के अंक में प्रकाशित 'जाति भेद मिटाने की एक आयोजना' शीर्षक प्रेमचंद की एक छोटी सी रपट को देखा जा सकता है। इस रपट की पहली ही पंक्ति में यह सूचना दी गई है कि बंबई के मि. बी. यादव ने वर्तमान भेद-भाव को मिटाने के लिए यह प्रस्ताव किया है कि सभी हिंदू उपजातियों को ब्राह्मण कहा जाए और हिंदू शब्द को उड़ा दिया जाए, जिससे भेद-भाव का बोध होता है। उसके ठीक बाद प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-प्रस्ताव बड़े मजे का है। हम उस दिन को भारत के इतिहास में मुबारक समझेंगे, जब सभी हरिजन ब्राह्मण कहलाएंगे।

दरअसल प्रेमचंद की पीड़ा यह है कि हम पहले ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या हरिजन हैं, आदमी बाद में हैं। आज की सबसे कटु सच्चाई यह है कि समूची की समूची हिंदी पट्टी जातियों में बंटी हुई है। इसीलिए हिंदी का बाजार तो बन गया, हिंदी का समाज नहीं बन पाया है। 'हंस' के ही जनवरी 1934 के अंक में प्रेमचंद की बिलकुल छोटी-एक वाक्य की एक टिप्पणी छपी है, जिसका शीर्षक है-'अच्छी और बुरी सांप्रदायिकता।' इसमें मुंशीजी लिखते हैं कि 'इंडियन सोशल रिफार्मर' नामक पत्र ने कहा है कि सांप्रदायिकता अच्छी भी है और बुरी भी। बुरी सांप्रदायिकता को उखाड़ना चाहिए, मगर अच्छी सांप्रदायिकता वह है जो अपने क्षेत्र में बड़ा उपयोगी काम कर सकती है, उसकी क्यों अवहेलना की जाए। इतनी जानकारी देने के बाद प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-अगर सांप्रदायिकता अच्छी हो सकती है तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है। जात-पात और सांप्रदायिकता की जिस समस्या को मुंशी जी ने आज से आठ दशक पहले अपनी छोटी-छोटी टिप्पणियों के मार्फत उठाया था, वह आज भी समाज में विद्यमान है, बल्कि उसके खतरे आज घटने की बजाय बढ़े हैं। प्रेमचंद की नजर से न शोषित-शासित दलित बचा रहा न अभाव में डूबा समाज, न क्रूर जमींदार न अंग्रेजी शासन की नृशंसता। एक तरफ प्रेमचंद पराधीनता में पिसती जनता की पीड़ा का वर्णन करते हैं तो आपदा की चपेट में आई जनता के साथ भी खड़े नजर आते हैं। मुंशी जी ने 1934 में बिहार में आए प्रलयकारी भूकंप का मार्मिक चित्रण किया था। मुंशीजी अपनी पत्रकारीय टिप्पणियों में नए प्रेमचंद लगते हैं। ये प्रेमचंद समाज के प्रवक्ता के बतौर हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। वे यह सीख देते हैं कि पत्रकार को बाजार का नहीं, समाज का प्रवक्ता होना चाहिए। वे यह सीख भी देते हैं कि पत्रकारिता मुद्दों पर केंद्रित होनी चाहिए। प्रेमचंद ने हर मुद्दे पर कलम चलाई। स्वाधीनता संग्राम, अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति, हिंदू-मुसलमान, खूत-अखूत, किसान-मजदूर, नागरिक शासन, साहित्य-दर्शन, धर्म-समाज, शिक्षा-संस्कृति, महिला जगत से लेकर राष्ट्रभाषा से जुड़े मुद्दों पर मुंशीजी ने रिपोर्टाज, टिप्पणियां व लेख लिखे। प्रेमचंद ने 1930 से 1936 तक मासिक 'हंस' का संपादन करने के अतिरिक्त 1933-34 में 'जागरण' साप्ताहिक पत्र का भी संपादन किया। मुंशीजी के संपादकीय संस्पर्श ने 'जागरण' व 'हंस' को आदर्श समाचार पत्र-पत्रिका ही नहीं बनाया, दोनों को अपार लोकप्रियता भी हासिल हुई। संपादक के रूप में प्रेमचंद प्रतिकूलताओं के बीच खड़े होकर भी अपने धवल चरित्र व ऊंचे मनोबल से अंग्रेजी साम्राज्यवाद का जमकर प्रतिरोध करते थे। मुंशीजी एक तरफ अपने पाठकों को ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ महात्मा गांधी के आंदोलन में भाग लेने के लिए प्रेरित करते थे तो दूसरी तरफ अंग्रेजी शासन के कुकृत्यों व नृशंसता का तीव्र प्रतिवाद भी करते थे। इसीलिए 'जागरण' व 'हंस' को कई बार ब्रिटिश शासन का कोपभाजन बनना पड़ा। 'जागरण' के 12 दिसंबर 1932 के अंक में प्रेमचंद ने स्वयं इस कोप का ब्यौरा दिया है, 'हंस' की जमानत से हाल ही में गला छूटा है। पांच महीनों तक पत्र बंद रहा, इसलिए इतनी जल्दी जमानत का हुक्म पाकर हम क्षुब्ध हुए।' इसी टिप्पणी में प्रेमचंद लिखते हैं, 'ऐसे वातावरण में जबकि हर संपादक के सिर पर तलवार लटक रही हो, राष्ट्र का सच्चा राजनीतिक विकास नहीं हो सकता।'

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता ने साहित्यांदोलनों में भी भूमिका निभाई। हिंदी काव्यधारा में छायावाद की नींव डालने का श्रेय 'इन्दु' पत्रिका को है जिसे 1909 में जयशंकर प्रसाद ने निकाला था। उसके अलावा 1921 में निकली 'माधुरी' छायावाद की लोकप्रिय पत्रिका रही। विष्णुनारायण

भार्गव उसके संस्थापक थे। 'चांद' का फांसी अंक नवंबर 1928 में आया था और उसमें चार अत्यंत महत्वपूर्ण कहानियां छपी थीं। वे हैं-चतुरसेन शास्त्री की 'फंदा', पांडेय बेचन शर्मा उग्र की 'जल्लाद', जनार्दन प्रसाद झा द्विज की 'विद्रोही के चरणों पर' और विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक की 'फांसी'। जैनेंद्र की पहली कहानी 'खेल' 1928 में 'विशाल भारत' में छपी। प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'कफन' 'चांद' के अप्रैल 1936 के अंक में छपी थी। पचास के दशक में जिस पत्रिका में प्रकाशित होना गौरव की बात समझी जाती थी, वह हैदराबाद से बंदी विशाल पित्ती द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'कल्पना' थी। 'कल्पना' ने कई लेखक पैदा किए। उन्हीं में एक मार्कंडेय थे। मार्कण्डेय चक्रधर उपनाम से एक लंबे समय तक 'कल्पना' के हर अंक में साहित्य समीक्षा का एक स्तंभ 'साहित्यधारा' लिखते रहे थे। उसी दौरान 'कहानी' और 'नई कहानी' पत्रिकाओं ने हिंदी में नई कहानी आंदोलन को जन्म दिया। भैरव प्रसाद गुप्त ने जनवरी 1955 से 'कहानी' पत्रिका के माध्यम से नई कहानी आंदोलन का नेतृत्व किया। 'कहानी' के नववर्षांक 1956 के अंक में पहली बार स्पष्टतः नई कहानी की बात उठाई गई। 1955-56 का समय हिंदी कहानी के लिए कितना रचनाशील था, इसका अंदाजा कहानी में तब छपी कहानियों से लग जाता है। वे कहानियां हैं-'राजा निरबंसिया', 'रसप्रिया', 'गुलाकी बन्नो', 'गदल', 'मवाली', 'हंसा जाई अकेला', 'डिप्टी कलक्टरी', 'चीफ की दावत', 'बादलों के घेरे' और 'सेब'। 'कहानी' पत्रिका के जरिए अमरकांत, शेखर जोशी, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर आदि प्रतिष्ठित हुए। भैरव प्रसाद गुप्त 1955 से 1959 तक 'कहानी' के संपादक रहे। उसके बाद वे 'नई कहानियां' का संपादन करने लगे जिसमें छपकर राम नारायण, प्रयाग शुक्ल, मन्नू भंडारी, कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, रमेश बक्षी, उषा प्रियंवदा प्रतिष्ठित हुए।

साहित्यांदोलन चलाने तथा सर्जनात्मक साहित्य को गति देने के अलावा अनुवाद साहित्य प्रकाशित कर भाषाओं को निकट लाने का काम भी हिंदी पत्रिकाओं ने लगातार किया। भारतेंदु ने अनुवाद साहित्य प्रकाशित करने की जो शुरुआत की थी, वह अनवरत जारी रही। हजारीप्रसाद द्विवेदी के संपादन में शांतिनिकेतन से निकली 'विश्वभारती पत्रिका' का सबसे बड़ा अवदान यही है कि उसने रवींद्र साहित्य से हिंदी जगत को अवगत कराया। द्विवेदीजी के संपादनवाली 'विश्वभारती पत्रिका' प्राच्य और आधुनिकता के बीच एक पुल की तरह थी जिसमें पाठक को एक छोर से दूसरी छोर तक जाने की पूरी छूट थी। रवींद्रनाथ टैगोर ने द्विवेदीजी के बारे में कहा था कि उनका ज्ञान हमलोग पांच सौ वर्षों में भी सीख पाएंगे, कहना कठिन है। टैगोर ने यह टिप्पणी इसलिए की थी क्योंकि द्विवेदीजी ने भारतीय दर्शन, अध्यात्म, साधना, इतिहास, संस्कृति और कला को खोख डाला था और वैदिक वाङ्मय, इतिहास, संस्कृति, नीति शास्त्र, दर्शन शास्त्र और काव्य शास्त्र का द्विवेदी जी ने अपने साहित्य में जितना समर्थ उपयोग किया, उतना किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं। द्विवेदी जी ने अपनी पत्रकारिता में भी इन सबका भरपूर उपयोग किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय 1942 के आरंभ में 'विश्वभारती' पत्रिका का उदय हुआ। प्रवेशांक की संपादकीय में द्विवेदीजी ने लिखा, 'शांतिनिकेतन में हिंदी भवन की स्थापना के अवसर पर स्वर्गीय गुरुदेव ने यह इच्छा प्रकट की थी कि विश्वभारती से एक ऐसी हिंदी पत्रिका प्रकाशित हो जिसके द्वारा भारतवर्ष की साहित्यिक और सांस्कृतिक साधना का जो कुछ सर्वोत्तम है, उसका नियमित रूप से प्रचार और उन्नयन होता रहे। भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करके उन्होंने दिखलाया था कि देश आज किस प्रकार

नाना भाँति की संकीर्णताओं का शिकार बनता जा रहा है। उससे रक्षा पाने का सर्वोत्तम उपाय साहित्य ही है।' कहने की जरूरत नहीं कि जनवरी 1942 से 1947 तक द्विवेदीजी के संपादन में निकली 'विश्वभारती पत्रिका' भारत की साहित्यिक व सांस्कृतिक साधना के सर्वोत्तम के नियमित प्रचार व उन्नयन में लगी रही। लगभग वही काम सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने 'प्रतीक' के माध्यम से किया। 'प्रतीक' ने नई पीढ़ी के रचनाकारों को अनवरत आगे बढ़ाया पर पत्रिका के उच्च स्तर को कभी गिरने नहीं दिया। तब 'प्रतीक' की ख्याति इतनी थी कि इसमें छपते ही नए लेखक भी रातों-रात प्रसिद्ध हो जाते थे। त्रिलोचन, शमशेर, भारत भूषण अग्रवाल, सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त, कुंवरनारायण, रांगेय राघव की कविताएं और राजेंद्र यादव, मनोहर श्याम जोशी, अहमद हुसैन, शिवप्रसाद सिंह, राधाकृष्ण, की कहानियां प्रतीक में छपकर चर्चित हुई थीं। अज्ञेय अकेले साहित्यकार हैं जिन्होंने हर तरह की पत्रकारिता की। अज्ञेय ने दैनिक अखबार, साप्ताहिक अखबार, मासिक पत्रिका, द्विमासिक पत्रिका और त्रैमासिक पत्रिका का संपादन किया। अज्ञेय 1936 में आगरा के साप्ताहिक 'सैनिक' के बगैर नाम के संपादक नियुक्त हुए थे। वहां साल भर रहे थे। 'सैनिक' में काम करने के दौरान उन्होंने जैनेंद्र कुमार से कहा था कि उसके मालिक पालीवाल को वे मुंह नहीं लगाने देते थे। इस घटना से पता चलता है कि संपादक की गरिमा के प्रति वे कितने सजग-सचेत रहते थे। अज्ञेय 1937 में बनारसी दास चतुर्वेदी के 'विशाल भारत' के संपादक पर से हटने पर उनके उत्तराधिकारी बने। अज्ञेय 'विशाल भारत' में डेढ़ वर्ष तक संपादक रहे पर उस अल्प अवधि में ही उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। हिंदी के स्वाभिमान के सवाल पर वे 'विशाल भारत' के मालिक रामानंद चट्टोपाध्याय तक से भिड़ गए थे। रामानंद बाबू ने 'प्रवासी' तथा 'माडर्न रिव्यू' में कुछ ऐसी टिप्पणियां की थीं जिसमें हिंदी के प्रति अवज्ञा का भाव था। उससे अज्ञेय को इतना क्लेश हुआ कि विशाल भारत में उन्होंने संपादकीय टिप्पणी लिखकर रामानंद बाबू के आरोपों का उत्तर दिया। अज्ञेय की टिप्पणी से रामानंद बाबू नाराज हुए थे और उसका खंडन करते हुए अज्ञेय को लंबा पत्र लिखा। अज्ञेय ने उस पत्र का भी जवाब लिखा कि आपका पत्र पढ़ने के बाद भी मैं मानता हूँ कि 'विशाल भारत' में जो टिप्पणी लिखी गई है, वह सही है और मुझे कुछ बदलने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। इस पत्र प्रकरण के बाद अज्ञेय लिखते हैं-मैं अपने को उतना ही स्वाधीन मानता रहा जितना पहले मानता था और जितना संपादक के नाते अपने को हमेशा रखता रहा हूँ। इसी तरह का मतांतर बनारसी दास चतुर्वेदी से भी रामानंद चट्टोपाध्याय का हुआ था।

1947 में अज्ञेय ने इलाहाबाद से द्वैमासिक 'प्रतीक' नामक साहित्यिक पत्रिका निकाली। उन्होंने जनवरी 1951 में 'प्रतीक' को मासिक कर दिया। मासिक 'प्रतीक' में अज्ञेय की संपादकीय टीम में रघुवीर सहाय, सियाराम शरण गुप्त, शिवमंगल सिंह सुमन और श्रीपत राय थे और प्रिंटलाइन में इन सबका नाम छपता था। अज्ञेय ने प्रतीक में फिल्म, रंगमंच, चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला पर संवाद और टिप्पणियां शुरू की थीं। इस तरह अज्ञेय का बड़ा अवदान यह है कि उन्होंने साहित्यिक पत्रकारिता को प्रदर्शनकारी कलाओं से जोड़ा। उपन्यास लेखन में एक नया प्रयोग 'प्रतीक' में अज्ञेय ने किया था-'बारहखंभा' नामक धारावाहिक स्तंभ शुरू करके। उसमें बारह लेखकों को एक किस्त लिखकर उसे आगे बढ़ाना था। अज्ञेय ने पहली किस्त अगस्त 1951 के अंक में लिखी थी। बाद में मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर, अमृतलाल नागर, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती ने उसकी

किस्त लिखी। वह पूरा नहीं हो सका क्योंकि अगस्त 1952 में 'प्रतीक' का प्रकाशन बंद हो गया। उस पत्रिका में कला, दर्शन और समाज शास्त्र पर भगवतशरण उपाध्याय, कपिला मल्लिक, यशदेव शल्य और वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए। 'प्रतीक' में टिप्पणियों का खंड भी विशिष्टता लिए होता था। उसमें सम्मेलनों, गोष्ठियों, फिल्मों, रंगमंच की गतिविधियों और रेडियो प्रसारणों पर टिप्पणियां व बहसों भी होती थीं। अज्ञेय ने 'प्रतीक' में एक स्तंभ चलाया था- गत मास का साहित्य। उसमें पिछले माह की किसी पत्रिका में प्रकाशित किसी उल्लेखनीय रचना पर प्रकाश डाला जाता था।

1965 में अज्ञेय 'दिनमान' साप्ताहिक के संस्थापक संपादक बने। उनके संपादन में 'दिनमान' छह महीने के भीतर ही राष्ट्रीय स्तर की सर्वाधिक प्रतिष्ठित पत्रिका बन गई थी। उसने पाठकों को राजनीतिक और सामाजिक रूप से चेतन भी किया। 'दिनमान' ने नई शब्दावली चलाई। अज्ञेय की मान्यता थी कि व्यक्तियों और स्थानों के नामों को जहां तक हो सके, वैसे ही लिखा जाए जैसा उन देशों में बोला जाता है। मास्को शब्द जब पूरे भारत में चल गया था, उस समय 'दिनमान' मस्क्वा लिखता था। इसी तरह चिली को 'दिनमान' चिले लिखता था। सौ किलोग्राम के लिए जब कुएंटल शब्द चला तो दिनमान ने उसे कुंतल लिखना शुरू किया। अज्ञेय ने 'दिनमान' के लिए वर्तनी के लिए जो नियम स्थिर किए थे, उनमें कुछ प्रमुख हैं- 1. विभक्तियां सर्वनाम के साथ लिखी जाएं- यथा: मैंने, हमने, किससे, उससे। 2. क्रिया पद 'कर' मूल क्रिया से मिलाकर लिखें- यथा: जाकर, जमकर, हंसकर। 3. चंद्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाए- यथा: हंसना, मां, पहुंचना। 4. प्रदेशों के नाम मिलाकर लिखें- यथा: उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, अरुणाचलप्रदेश, आंध्रप्रदेश, हिमाचलप्रदेश। 5. बड़े संवाद के लिए दोहरा उद्धरण चिह्न और छोटे उद्धरणों तथा वाक्यांशों के लिए एकल उद्धरण चिह्न यथेष्ट है। 6. संस्कृत के शब्दों में जहां 'यी' का प्रयोग होता है, वहां 'ई' का प्रयोग उचित नहीं, यथा-स्थायी, अनुयायी।

1967 में बिहार में जब सूखा पड़ा तो अज्ञेय ने उस अंचल की यात्रा की। उस यात्रा में उन्होंने अपने साथ फणीश्वरनाथ रेणु को भी रखा था। सूखे पर 'दिनमान' में प्रकाशित उनके शृंखलाबद्ध रिपोर्ताज को लोग आज भी याद करते हैं। अज्ञेय ने सूखे के चित्र खींचे थे जिसकी प्रदर्शनी उन्होंने दिल्ली में लगाई थी। यह एक संपादक की दृष्टि थी कि हर आपदा में वह पाठक से सहधर्मिता दिखाए। अज्ञेय ऐसे संपादक थे जिन्होंने हर जगह अपने उत्तराधिकारी खुद बनाए। इसीलिए उनके संपादक पद से हटने के बाद भी संबद्ध समाचार पत्र या पत्रिका में उत्तराधिकार का कोई संकट कभी खड़ा नहीं हुआ। 'दिनमान' की अपनी संपादकीय टीम में उन्होंने रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को शामिल किया था। 1969 में अज्ञेय ने 'दिनमान' छोड़ा, उसके बाद भी वह पुराने तेवर के साथ ही निकलता रहा। सन् 1973 में अज्ञेय ने 'प्रतीक' को नए सिरे से निकाला। इस बार उसका नाम 'नया प्रतीक' था। वह मासिक पत्रिका भी नई प्रतिभाओं का खुला मंच बनी। 1977 के अगस्त में अज्ञेय दैनिक 'नवभारत टाइम्स' के संपादक बने और 1979 तक वहां रहे। उन्होंने 'नवभारत टाइम्स' को तत्कालीन अंग्रेजी दैनिक पत्रकारिता का विकल्प बनाने की चेष्टा की थी।

अज्ञेय ने जिस तरह 'दिनमान' को राष्ट्रीय पत्रिका बनाया, उसी तरह धर्मवीर भारती ने 1957

में निकली 'धर्मयुग' को राष्ट्रीय सांस्कृतिक पत्रिका बनाया था। भारती के संपादन में 'धर्मयुग' केवल हिंदी का ही नहीं पूरे देश की पत्रकारिता का प्रतिनिधित्व करती थी। परदेसों में भी उसकी ख्याति फैल गयी थी। थल सेना, जल सेना और वायु सेना सभी के कार्यकलापों को 'धर्मयुग' के माध्यम से जनता ने जाना और सराहा। बांग्लादेश मुक्ति संग्राम के समय धर्मवीर भारती ने स्वयं बांग्लादेश जाकर 'धर्मयुग' के लिए रिपोर्टिंग की। 'धर्मयुग' में भारतीय भाषाओं का साहित्य भी पूरे सम्मान के साथ छपता था। 'धर्मयुग' को देश की सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक पत्रिका बनाने वाले धर्मवीर भारती का एक बड़ा अवदान यह रहा कि उन्होंने भी अज्ञेय की तरह अपने योग्य उत्तराधिकारी बनाए। धर्मवीर भारती के संपादकीय सहयोगी रहे योगेंद्रकुमार लल्ला, सुरेंद्र प्रताप सिंह, उदयन शर्मा, कन्हैयालाल नंदन, रवींद्र कालिया, मनमोहन सरल, गणेश मंत्री, विश्वनाथ सचदेव, सतीश वर्मा और हरिवंश जैसे लोग बाद में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के कामयाब संपादक बने। धर्मवीर भारती के सहयोगियों में से एक रवींद्र कालिया हाल-फिलहाल तक 'नया ज्ञानोदय' का संपादन करते रहे जबकि इन दिनों 'नया ज्ञानोदय' के संपादक लीलाधर मंडलोई हैं।

विद्यानिवास मिश्र और नामवर सिंह की पत्रकारिता पर अपेक्षाकृत कम काम हुआ है अथवा न के बराबर हुआ है। विद्यानिवास मिश्र के संपादन में एक वर्ष तक निकले हिंदी दैनिक 'नवभारत टाइम्स' तथा मासिक 'साहित्य अमृत' के अंकों के पन्नों को पलटें तो पता चलेगा कि उनके लिए संपादन भी उसी तरह का सर्जनात्मक कर्म था। इसी तरह 'जनयुग' और 'आलोचना' के संपादक रहे तथा सहारा समूह के प्रधान संपादकीय सलाह रहे नामवर सिंह के लिए भी संपादन कविता अथवा आलोचनात्मक निबंध लिखने जैसा सर्जनात्मक कार्य ही रहा। यही बात राजेंद्र यादव, ज्ञानरंजन तथा कमलेश्वर के लिए भी सही है। राजेंद्र यादव ने 1986 में 'हंस' का संपादन शुरू किया और उसमें छपकर ही उदय प्रकाश, संजीव, शिवमूर्ति, प्रियंवद, सृजय, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा आदि प्रतिष्ठित हुए। राजेंद्र यादव का एक विशाल अवदान यह रहा कि उन्होंने 'हंस' के जरिए दलित और स्त्री विमर्श को आंदोलन के रूप में चलाया और उन्हें साहित्यिक विमर्शों के केंद्र में ला खड़ा किया। राजेंद्र यादव के निधन के बाद 'हंस' संजय सहाय के संपादन में निकल रही है। जुलाई 2015 में 'हंस' का 345वां अंक आया है। ज्ञानरंजन की तबीयत खराब रहने और आर्थिक कारणों से तीन साल पहले 'पहल' का प्रकाशन बंद हो गया था किंतु इधर फिर उसका पुनर्प्रकाशन संभव हुआ है। 'पहल' का सौवां अंक आ चुका है। उसके अब तक प्रकाशित सभी 99 अंकों का जर्मन में अनुवाद हो चुका है। 'सारिका' के संपादक रहे कमलेश्वर 'दैनिक भास्कर' के संपादकीय सलाहकार भी रहे और उसे उन्होंने साहित्य-कला-संस्कृति से जोड़ा था। 'अमृत प्रभात' के साहित्य संपादक रहे मंगलेश डबराल ने 'जनसत्ता' के रविवारी परिशिष्ट को राष्ट्रीय महत्व का परिशिष्ट बनाया था। निकट अतीत तक वे 'सहारा समय', 'पब्लिक एजेंडा' से जुड़े रहे। इस समय वे 'शुक्रवार' के साहित्य संपादक हैं। 'शुक्रवार' को विष्णु नागर का भी संपादकीय संस्पर्श मिला था। प्रयाग शुक्ल ने 'रंगप्रसंग', पंकज बिष्ट ने 'समयांतर', अखिलेश ने 'तद्भव' और ज्योतिष जोशी ने 'समकालीन कला' को अपनी संपादन दृष्टि से अलग पहचान दी। प्रभाकर श्रोत्रिय ने अक्षरा, साक्षात्कार, वागर्थ और नया ज्ञानोदय का संपादन किया और हर जगह अपनी अमिट छाप छोड़ी। इन दिनों वे पुनः 'समकालीन भारतीय साहित्य' के संपादक हैं।

प्रभाकर श्रोत्रिय और रवींद्र कालिया के बाद अब एकांत श्रीवास्तव तथा कुसुम खेमानी के संपादन में 'वागर्थ' पत्रिका निकल रही है। उसके अब तक 240 अंक आ चुके हैं। हरिनारायण के संपादन में निकलनेवाली मासिक 'कथादेश' ने 34 वें वर्ष में प्रवेश किया है। प्रेम भारद्वाज के संपादनवाली 'पाखी' का यह सातवां साल है। एक समय 'अब' निकालने वाले शंकर संप्रति द्विमासिक 'परिकथा' का संपादन कर रहे हैं। विभूति नारायण राय 'वर्तमान साहित्य' को नए सिरे से निकाल रहे हैं। हरिशंकर परसाई और कमला प्रसाद के बाद अब राजेंद्र शर्मा के संपादन में 'वसुधा' निकल रही है। इसी कड़ी में 'मधुमती', 'समास', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'इंद्रप्रस्थ भारती', 'बहुवचन', 'पुस्तक वार्ता', 'आजकल', 'त्रिपथगा', 'भाषा', 'समन्वय पूर्वोत्तर', 'उत्तर प्रदेश', 'समकालीन सृजन', 'संवेद', 'कल के लिए', 'कथा', 'साम्य', 'साखी', 'संबोधन', 'पल-प्रतिपल', 'समकालीन तीसरी दुनिया', 'मणिमय', 'दस्तक', 'पुरुष', 'विपक्ष', 'उद्भावना', 'परिवेश', 'दस्तावेज', 'साक्षात्कार' और 'अक्षरा' जैसी पत्रिकाओं और विभिन्न समाचार पत्रों व पत्रिकाओं के वार्षिकांकों का जिक्र लाजिमी है। कभी इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी निकालता था। 'जनसत्ता' का वार्षिकांक भी निकलता रहा है। दैनिक जागरण 'पुनर्नवा' नाम से साहित्य विशेषांक निकालता रहा है जिसका संयोजन राजेंद्र राव करते हैं। दीपावली के अवसर पर 'लोकमत समाचार', 'प्रभात खबर' और 'स्वाधीनता' भी वार्षिकांक निकालते हैं। 'अक्षर पर्व' पत्रिका वर्ष में दो विशेषांक निकालती है। इन विशेषांकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में ही पहले कविताएं-कहानियां आती हैं जबकि संग्रह में बाद में। साहित्यिक पत्रकारिता में नवीनता का आकर्षण सदैव बना रहता है।

संदर्भ :

1. हिंदी की अनस्थिरता-एक ऐतिहासिक बहस: महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त और गोविंद नारायण मिश्र, संपादक-भारत यायावर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1993
2. विविध प्रसंग, प्रेमचंद (तीन खंड), संकलन एवं रूपांतर: अमृत राय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- जुलाई 1962
3. हिंदी पत्रकारिता: जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण भूमि, कृष्णबिहारी मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, प्र.सं.-1968
4. पहला संपादकीय, विजय दत्त श्रीधर, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011
5. पत्रकारिता के उत्तर आधुनिक चरण, कृपाशंकर चौबे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2003



खड़ी बोली हिंदी के उद्भव में अनुवाद की भूमिका

रमण सिन्हा

खड़ी बोली हिंदी गद्य की प्राचीनतम पुस्तक राम प्रसाद 'निरंजनी' की भाषा योग वशिष्ठ (1741) को माना जाता है¹ जो वशिष्ठ कृत संस्कृत वेदांत ग्रंथ 'योगवशिष्ठ' का अनुवाद है। खड़ी बोली गद्य की अखंड परंपरा के प्रवर्तन का श्रेय जिन चार कृतियों को प्रायः दिया जाता है उनमें विवादास्पद कृति 'उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी' (1801) को छोड़ दें, जिसे कुछ आलोचकों ने हिंदी गद्य-परंपरा की कृति मानने के बजाय उर्दू गद्य-परंपरा की रचना माना है² तो बाकी तीनों रचनाएं अनुवाद हैं। मुंशी सदासुख लाल 'नियाज' (1746-1824) का सुखसागर श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध का अनुवाद है तो लल्लू लाल (1763-1824) का प्रेम-सागर (1803) भागवतपुराण के दशम स्कंध का चतुर्भुज शर्मा के ब्रजभाषा रूपांतर का खड़ी बोली गद्य में अनुवाद है³; सदल मिश्र (1768-1848) की बहुचर्चित कृति 'नासिकेतोपाख्यान' (1803) भी नचिकेता के प्रसिद्ध संस्कृत आख्यान का खड़ी बोली में रूपांतर है। इसी प्रकार आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन भारतेंदु हरिश्चंद्र (1840-84) के जिस 'विद्यासुंदर' (1868) नाटक से माना जाता है⁴ वह यतींद्र मोहन ठाकुर के बांग्ला नाटक 'विद्यासुंदर' का छायानुवाद है।⁵ खड़ी बोली काव्य की प्रथम कृति श्रीधर पाठक (1859-1928) की 'एकांतवादी योगी' (1886) ऑलिवर गोल्डस्मिथ (1728-74) की 'द हरमिट' का काव्यानुवाद है। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष (1900) में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी (1564-1932) की जिस कृति 'इंदुमती' को कुछ आलोचकों ने हिंदी की पहली कहानी माना है वह विलियम शेक्सपियर (1564-1616) की 'द टेम्पेस्ट' की छाया लेकर लिखी गयी है।⁶ हिंदी में आधुनिक ढंग के उपन्यास का आरंभ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतेंदु के 'पूर्ण प्रकाश और चंद्रप्रभा' से माना है⁷ जो स्पष्टतः किसी मराठी उपन्यास का अनुवाद या छायानुवाद है।⁸ खड़ी बोली हिंदी में निबंध-विद्या को रास्ता दिखाने वाले जो दो ग्रंथ माने जाते हैं: निबंधमालादर्श (1899) और बेकन-विचार-रत्नावली (1900)। ये दोनों ही अनूदित ग्रंथ हैं।⁹ 'निबंधमालादर्श' विष्णु कृष्ण चिपलूणकर (1850-82) के मराठी निबंधों का गंगा प्रसाद अग्निहोत्री द्वारा अनूदित ग्रंथ है और 'बेकन-विचार-रत्नावली' में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने फ्रांसिस बेकन (1561-1626) के अंग्रेजी निबंधों का खड़ी बोली में अनुवाद प्रस्तुत किया है। लाला सीताराम (1861-1937) के अनूदित नाटकों की आलोचना पर केंद्रित महावीर प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिंदी कालिदास की आलोचना'

हिंदी आलोचना की पहली किताब है और प्रकटतः जो अनुवाद की समालोचना की किताब है।¹⁰

जिस भाषा में अनुवाद की इतनी केंद्रीय भूमिका हो कि प्रायः हर विधा की शुरुआत किसी अनूदित या अनुवाद से संबंधित किसी ग्रंथ से हो वहां अनुवाद को गंभीर विश्लेषण का विषय तक न मानना आश्चर्यजनक है। यह तब और भी खेदजनक लगता है। जब हम अन्य साहित्य की ओर अपनी स्वतंत्र शास्त्र की निर्मित हो चुका है। 1970 से 77 के बीच इजराइल में इत्तामार इवान जोहर के अनुवाद पर कई लेख प्रकाशित हुए जिसे बाद में 'पेपर्स इन हिस्टॉरिकल पोयटिक्स'¹¹ नामक पुस्तक में संकलित किया गया है। वस्तुतः तेल अवीव विश्वविद्यालय के अंतर्गत एक दशक तक चलने वाले एक महत्वाकांक्षी प्रोजेक्ट 'हिब्रू में साहित्यिक अनुवाद का इतिहास' पर काम करने के दौरान इवान जोहर को यह अनुभव हुआ कि नियमतः साहित्य के इतिहास में अनुवाद का जिक्र तभी होता है जब उसकी उपेक्षा किसी तरह भी संभव न हो जैसे रेनेसां या मध्यकाल का इतिहास लिखते वक्त। अन्य काल-खंडों में भी अनुवाद का इक्का-दुक्का जिक्र मिल सकता है लेकिन शायद ही कभी साहित्य का ऐतिहासिक लेखा प्रस्तुत करने वक्त अनुवाद का वृहत् साहित्यिक प्रणाली के साथ सुसंगत ढंग से उल्लेख किया जाता हो। इवान जोहर के अनुसार ऐसा न करना किसी साहित्यिक प्रणाली को अधूरा समझना है।

इवान-जोहर रूसी रूपवाद के इस विचार से सहमत थे कि संस्कृति प्रणालियों की एक जटिल प्रणाली है। तिन्यानेव की मान्यता थी कि समस्त साहित्यिक एवं साहित्येतर संसार को बहुसंरचनात्मक प्रणालियों में विभाजित किया जा सकता है। साहित्यिक प्रणाली के अंतर्गत साहित्यिक परंपराएं अपनी अलग प्रणाली का निर्माण करती हैं तो साहित्यिक विधाओं की अलग प्रणाली है; उसी प्रकार एक साहित्यिक कृति स्वयं एक अनोखी प्रणाली है और फिर सामाजिक व्यवस्थाएं अपनी एक अलग प्रणाली रचती ही हैं। ये सभी प्रणालियां स्वतंत्र या स्वायत्त नहीं होती हैं बल्कि न सिर्फ एक दूसरे से जुड़ी होती हैं, एक दूसरे को द्वंद्वत्मक ढंग से प्रभावित भी करती हैं। लेकिन प्रणालियों के बीच पारस्परिक संबंध समानता का न होकर श्रेणीबद्ध होता है यानी कुछ प्रणालियों का स्थान प्रमुख होता है और कुछ का गौण। पर प्रणालियों की कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं होती। नयी रचनाएं अपरिचितिकरण के झटके से साहित्यिक प्रणाली को निरंतर अव्यवस्थित किए रहती हैं जिससे श्रेणी में नीचे की प्रणालियां ऊपर चली जाती हैं और ऊपर की प्रणालियां नीचे उतरने को बाध्य होती हैं। यह फेरबदल निरंतर घटित होता रहता है जिसके परिणामस्वरूप साहित्यिक प्रणालियों में विकास संभव होता है।¹²

इवान जोहर ने तिन्यानेव की 'प्रणालियों की प्रणाली' की अवधारणा, प्रणाली की श्रेणीबद्ध संरचना, ऐतिहासिक महत्ता को निर्धारित करने वाला 'अपरिचितिकरण' की संकल्पना एवं साहित्यिक परिवर्तन और विकास की धारणा को ग्रहण करते हुए अपनी 'बहुप्रणाली' (polysystem) की अवधारणा प्रस्तुत की।

इवान जोहर ने हर प्रकार की साहित्यिक प्रणालियों के समुच्चय के लिए 'बहुप्रणाली' पद का प्रयोग किया। उनके अनुसार किसी भी साहित्यिक बहुप्रणाली में अन्य प्रणाली की ही तरह अनुवाद भी एक प्रणाली है और जिसे अनिवार्यतः गौण प्रणाली नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपने आंकड़ों से यह सिद्ध किया कि साहित्यिक बहुप्रणाली विशेष की उम्र, शक्ति एवं सुदृढ़ता पर ही यह निर्भर

करता है कि उसके अंदर अनूदित साहित्यिक प्रणाली की क्या स्थिति होगी। ऐंग्लो-अमरीकन या फ्रांसिसी जैसी पुरानी एवं विशाल संस्कृतियों की बहुप्रणालियां इजराइल-जैसे छोटे या युवा देश की बहुप्रणालियों से प्रकृत्या भिन्न होती है। एक शक्तिशाली, पुरानी एवं सुदृढ़ बहुप्रणाली में अनूदित साहित्यिक प्रणाली जहां हाशिए पर होती है वहीं एक 'युवा', 'कमजोर' एवं 'अस्थिर' 'बहुप्रणाली' में वह केंद्रीय स्थान प्रणाली ग्रहण कर सकती है।

इवान जोहर के अनुसार, अनूदित साहित्यिक प्रणाली किसी 'बहुप्रणाली' में केंद्रीय स्थान तब ग्रहण कर लेती है जब साहित्यिक बहुप्रणाली (1) अभी युवावस्था में है और अभी स्थापित होने की प्रक्रिया में है, (2) हाशिए पर है या कमजोर है या दोनों है, (3) संकट या संक्रांति से गुजर रहा है।¹³

एक युवा साहित्यिक बहुप्रणाली पर परंपराओं का कोई बोझ नहीं होता न स्थापित प्रतिमानों का दबदबा ही होता है; यही कारण है कि अनूदित और मूल की सीमाएं यहां अस्पष्ट-सी हो जाती हैं : इवान-जोहर के अनुसार अगर अनूदित रचना कुछ अधिक ही मूलगामी हुई तो यह खतरा रहता है कि लक्ष्य-भाषा की साहित्यिक प्रणाली में वह अभिग्रहित ही न हो लेकिन यदि अनूदित रचना 'विजयी' हुई तो उसकी स्थिति केंद्रीय हो जाती है। स्थिति ठीक इसके विपरीत पुरानी एवं सुदृढ़ बहुप्रणाली में होती है जहां एक लंबी एवं सुदृढ़ परंपरा तथा स्थापित सौंदर्य प्रतिमानों के रहते अनुवादक स्वीकृति के लिए जिसे तरजीह देने को बाध्य होता है। बहुप्रणाली सिद्धांत के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी की एंग्लो-अमरीकी अनुवाद (रोजेटी, लांगफेलो, फिट्जेराल्ड) का स्थान केंद्रीय था क्योंकि यह परंपरा के बजाय मूल के प्रति निष्ठावान बने रहने की प्रतिज्ञा पर आधारित था। लेकिन आधुनिक अनुवाद (बाइबिल का समकालीन अनुवाद या नाट्य-रूपांतर) का स्थान हाशिए पर इसलिए है क्योंकि यह मूल रूपों के बजाय लक्ष्य-भाषा के स्वीकृत साहित्यिक-रूपों का ही प्रयोग करना चाहती है। परिणामतः नयी तकनीक या नए विचारों को लाने के बजाय वह स्वीकृत एवं स्थापित सौंदर्यशास्त्र को ही पुनर्प्रतिष्ठित करती है।

अगर कोई साहित्यिक बहुप्रणाली कमजोर है तो वहां अनूदित साहित्य न सिर्फ नए-नए विचारों का वाहक होता है, बल्कि ऐसी-ऐसी लेखन-शैलियों का आदर्श प्रस्तुत करता है जिसको उस भाषा के रचनात्मक लेखक बार-बार उपयोग में लाते हैं। अगर 'बहुप्रणाली' संक्रांति से गुजर रही है तो वहां अनूदित साहित्य कुछ बिल्कुल नए तत्व लाकर उसे संकट से उबारने की कोशिश करता है।

अनूदित साहित्य और साहित्यिक बहुप्रणाली के संबंध पर इवान-जोहर दो दृष्टियों से विचार करते हैं : एक, लक्ष्य-संस्कृति में होने वाली अनूदित कृति का चुनाव किस आधार पर होता है और दो, अनूदित कृतियां किस प्रकार कुछ प्रतिमानों को ग्रहण कर लक्ष्य-प्रणाली के अन्य प्रणालियों से अपने संबंध कायम कर, सक्रिय होती हैं।¹⁴

इवान-जोहर के अनुसार बहुप्रणाली विशेष की अपेक्षाओं एवं आवश्यकताओं को पूरा करने के सामर्थ्य के आधार पर किसी कृति-विशेष को अनुवाद के लिए चुना होता है। उनके अनुसार एक प्रणाली के रूप में अनूदित साहित्य स्वयं श्रेणीबद्ध होता है : कुछ अनूदित कृतियां केंद्रीय स्थान ग्रहण कर लेती हैं तो कुछ गौण ही बनी रहती हैं।¹⁵

खड़ी बोली का उद्भव और विकास हिंदी नवजागरण के उदय के साथ होता है। नवजागरण यदि दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है¹⁶ तो कहना होगा कि अनुवाद

ही वह माध्यम है जो संस्कृतियों में संपर्क और टकराहट को संभव बनाता है। आश्चर्य नहीं कि नवजागरण की चेतना के पीछे की प्रायः केंद्रीय भूमिका रही है। 'अनुवाद के गहरे पतों से नवजागरण की भूमि उर्वर हुई।'¹⁷ यह बात सिर्फ अंग्रेजी नवजागरण के लिए ही नहीं नवजागरण मात्र के लिए कही जा सकती है। भारतीय नवजागरण में संस्कृत एवं अंग्रेजी से हुए अनुवादों की वही भूमिका थी जो यूरोपीय पुनर्जागरण के संदर्भ में ग्रीक एवं लैटिन के अनुवादों की थी। लेकिन ग्रीक एवं लैटिन परंपराएं, जहां एक ही सभ्यता के अंग थे; संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य की परंपराएं न सिर्फ भिन्न सभ्यता से उत्पन्न हुई थीं बल्कि कई अर्थों में परस्पर विरोधी सांस्कृतिक रूपकों को प्रतिनिधित्व करती थीं। भारतीय नवजागरण में संस्कृत एवं अंग्रेजी के अनुवादों की एक समान भूमिका कहीं उस प्रवृत्ति का प्रतिफलन तो नहीं जिसे इतिहासकारों ने दुचित्तेपन (ambivalence) की प्रवृत्ति कहा है।¹⁸ क्या यह महज संयोग है कि खड़ी बोली के आदिकाल में सिर्फ अंग्रेजी से अनुवाद करने वाले या सिर्फ संस्कृत से अनुवाद करने वाले कोई महत्वपूर्ण अनुवादक नहीं दिखाई पड़ते? भारतेंदु ने अगर 'पाखंड विडंबन' (1872), 'धनंजय विजय' (1875), 'कर्पूर मंजरी' (1875), 'मुद्राराक्षस' (1878) जैसे संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया तो शेक्सपियर के 'मर्चेट ऑफ वेनिस' को भी अनूदित किया। लाला सीताराम जिन्होंने 1885 से 1915 के बीच शेक्सपियर के ग्यारह नाटक अनूदित किए; भवभूति के 'महावीरचरित' (1897), 'उत्तररामचरित' (1884), 'रघुवंश' (1886) 'मालविकाग्निमित्र' (1898), शूद्रक के 'मृच्छकटिक' (1899) एवं हर्षदेव के 'नागानंद' (1900) के भी अनुवादक हैं। गोल्डस्मिथ, थॉमस ग्रे, लांगफेलो एवं पार्नेल के प्रसिद्ध अनुवादक श्रीधर पाठक कालिदास के 'ऋतुसंहार' के भी अनुवादक हैं। जोसेफ एडिसन के 'केटो' के विख्यात अनुवादक तोताराम वर्मा (1864-1902) ने 'वाल्मीकि रामायण' को भी अनूदित किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) जयदेव की 'बिहारवाटिका' (1890), कालिदास की 'ऋतुतरंगिणी', (1891) पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगा-लहरी' (1891) के ही अनुवादक नहीं हैं बल्कि जे.एस. मिल की '-ऑन लिबर्टी' (स्वाधीनता : 1905) एवं फ्रांसिस बेकन के लेखों (बेकन-विचार-रत्नावली : 1900) के भी अनुवादक हैं।

क्या वह दो विजातीय परंपराओं में संतुलन स्थापित करने का प्रयास था या तथाकथित 'भावबोध की कष्टकर विच्छिन्नता'¹⁹ का प्रतिफलन? जो भी हो इतना तो तय है कि खड़ी बोली की आरंभिक अनूदित साहित्यिक प्रणाली में नवजागरण की सारी प्रवृत्तियां और अंतर्विरोध दर्ज हैं।

प्रायः सभी भाषाएं पद्य से आरंभ हुई हैं लेकिन खड़ी बोली का आरंभ गद्य से हुआ और इसमें गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से होता है। रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में लिखा है : 'विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेंदु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनंद रघुनंदन नाटक' को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चंद्र ने सबसे पहले 'विद्यासुंदर नाटक' का बांग्ला से सुंदर हिंदी में अनुवाद करके संवत् 1925 में प्रकाशित किया।²⁰ विलक्षण बात सिर्फ यह नहीं है कि शताब्दियों तक लुप्त रहने के बाद नाटक की विधा से किसी नयी भाषा का प्रवर्तन होता है बल्कि विलक्षणता इसमें भी है कि यह प्रवर्तन मौलिक नाटक से न होकर अनूदित नाटक से होता है। गद्य साहित्य की परंपरा के प्रवर्तन के संदर्भ में रामचंद्र शुक्ल ने 1868 में प्रकाशित भारतेंदु के 'विद्यासुंदर' का तो उल्लेख किया है लेकिन 1861 में प्रकाशित

राजा लक्ष्मण सिंह (1826-96) के 'अभिज्ञान शाकुंतल' का नहीं; यद्यपि स्वयं भारतेन्दु ने लक्ष्मण सिंह के 'शकुंतला नाटक' को खड़ी बोली का प्रथम तथा 'विद्यासुंदर' को द्वितीय नाटक स्वीकार किया है। 'विद्यासुंदर' के 'द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम' में भारतेन्दु लिखते हैं, 'निवाज का शकुंतला या ब्रजवासीदास का 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक नहीं काव्य है इससे हिंदी भाषा में नाटकों की गणना की जाए तो महाराज रघुराज सिंह का 'आनंद रघुनंदन' नाटक और मेरे पिता का 'नहुष' नाटक यही दो प्राचीन ग्रंथ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं। यों नाम को तो 'देवमायाप्रपंच', 'समयसार' इत्यादि कई भाषा ग्रंथों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है। इनके पीछे 'शकुंतला' का अनुवाद राजा लक्ष्मण सिंह ने किया है। यदि पूर्वाक्त दोनों ग्रंथों को ब्रजभाषा मिश्र होने के कारण हिंदी न मानो तो 'विद्यासुंदर' नाटक गुणों में अद्वितीय न होने पर भी द्वितीय है।²¹

कालिदास (376-454?) की संस्कृत नाट्य-कृति 'अभिज्ञान-शकुंतला' ने उन्नीसवीं शताब्दी के भारत को और उन्नीसवीं शताब्दी के भारत ने 'अभिज्ञानशाकुंतल' को कई रूपों में प्रभावित किया। न सिर्फ भारत-विद्यावाद (Indology), प्राच्यवाद (Orientalism) एवं भारतीय नवजागरण पर इस रचना का असर है बल्कि विभिन्न भाषाओं में अनूदित 'शकुंतला' पर इन आंदोलनों की राजनीति की गहरी छाया है।

भारत का आधुनिक पश्चिम से सांस्कृतिक विमर्श विलियम जॉस (1746-1794) द्वारा 'अभिज्ञान शाकुंतल' के लैटिन अनुवाद से आरंभ होता है। उन्होंने लैटिन से अंग्रेजी में 1789 में 'शकुंतला ऑ द फैटल रिंग' शीर्षक से अनुवाद किया।²² इसकी भूमिका में अनुवादक ने कालिदास को भारत का शेक्सपियर घोषित किया। जॉस के अनुवाद ने पूरे यूरोप का ध्यान 'शकुंतला' की ओर आकर्षित किया। लगभग सारी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। कहा जाता है। कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः हरेक दशक में इस नाटक का एक और भाषा में एक और अनुवाद हुआ था। इस नाटक की लोकप्रियता के पीछे शकुंतला को 'प्रकृति की पुत्री' के रूप में प्रस्तुत करना था जो स्पष्टतः यूरोपीय स्वच्छंदतावाद को रास आ रहा था। नव-शास्त्रीयतावाद की 'सुसंस्कृत स्त्री' की विशेषकर जर्मन स्वच्छंदतावादी प्रतिक्रिया 'प्रकृति की पुत्री' ही हो सकती थी। जॉर्ज फोर्स्टर के जर्मन अनुवाद (1971) पर गोयठे की शकुंतला की बहुचर्चित प्रशंसा²³ को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

शकुंतला के प्रति अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद का रवैया जर्मन स्वच्छंदतावाद की तरह उत्साहजनक नहीं था। संभवतः इसलिए कि इंग्लैंड में जेम्स मिल के उपयोगितावादी दर्शन का प्रभाव था। जेम्स मिल भारतीय सभ्यता एवं विलियम जॉस के कटु आलोचक थे। वे अबुद्धिवाद को भारतीय सभ्यता की पहचान मानते थे। उनके अनुसार एक आदिम समाज ही पशुचारण को गौरवान्वित करने वाला साहित्य रच सकता है। चूंकि ऐसा समाज निरंकुश शासन के अधीन होने को अभिशप्त है वह अपनी स्थिति का वस्तुगत आकलन करने के बजाए हल्के-हल्के रोमांस रचने की ही क्षमता रखता है। उनके अनुसार संपूर्ण संस्कृत साहित्य एक आत्मग्रस्त समाज की रचना थी।²⁴ ब्रिटिश उपनिवेश होने के कारण भारत का इंग्लैंड से संबंध अन्य यूरोपीय देशों की तुलना में प्रकृत्या भिन्न था। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान उपनिवेश एवं उपनिवेशकर्ता का संबंध लगातार बदलता रहा और जिसकी छाया 'प्राच्यवाद' पर स्पष्ट देखी जा सकती है। विलियम जॉस की 'शकुंतला' (1789) मोनियर विलियम्स की 'शकुंतला' (1855) से अलग है। प्राच्य पुनर्जागरण (Oriental Renaissance) की आरंभिक

जिज्ञासा अब शिथिल होकर औपनिवेशिक नियंत्रण को प्रभावी बनाने के महत्तर कार्य में डूब गई थी। भारतीय अतीत को सिर्फ इसलिए पुनराविष्कृत नहीं किया गया था कि भारत का उभरता मध्य-वर्ग अपने अतीत से परिचित हो सके बल्कि प्रच्छन्न मंशा यह थी कि उसके मनोमस्तिष्क पर 'प्राच्यवाद' द्वारा की गयी उस अतीत की व्याख्या भी अपनी जड़ें जमा सके। जैसा कि गौरी विश्वनाथन ने कहा है कि यह औपनिवेशिक नियंत्रण की ही एक भिन्न प्रकार की नीति थी।²⁵

यह भी विचारणीय है कि विलियम जॉस की अनूदित कृति (द फेटल रिंग) के बजाय क्यों मोनियर विलियम्स के अनुवाद (द लॉस्ट रिंग) को मानक मान लिया गया। यह एक तथ्य है कि मोनियर विलियम्स की रचना ने ही प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में 'शकुंतला' को अनूदित करने के लिए प्रेरित किया था।²⁶ राजा लक्ष्मण सिंह मोनियर विलियम्स के अनुवाद से कितने प्रभावित थे, यह तो तय नहीं लेकिन जैसा कि लक्ष्मी सागर वाष्ण्य का कहना है, 'स्वयं विद्याव्यसनी और पंडित होने के अतिरिक्त वे पाश्चात्य विद्वानों के संपर्क में भी आए थे। 1861 ई. में उन्होंने कालिदास कृत 'शकुंतला' का हिंदी में अनुवाद किया। कालिदास की इस रचना ने यूरोप के विद्वानों की आंखें खोल दी थीं। उसे पढ़कर वे भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता के कायल हुए थे। 1861 ई. में राजा लक्ष्मण सिंह ने अपने अनुवाद में काव्यात्मक अंश नहीं रखे थे। 1889 में उन्होंने उसमें काव्यात्मक अंश भी जोड़ दिए। राजा शिवप्रसाद (1823-1995) ने अपने 'गुटका' में शामिल कर उनके अनुवाद का विशेष आदर किया।'²⁷ यहां इस तथ्य को रेखांकित किया जा सकता है कि वहां विलियम जॉस की रचना शकुंतला का गद्यानुवाद थी; मोनियर विलियम्स ने मूल के छंदयुक्त अंशों का पद्यानुवाद भी किया था।

मोनियर विलियम्स के नाम त्रिवेन्द्रम के वी. पद्मनाभ अय्यर के 1893 में लिखे एक पत्र से पता चलता है कि उस जमाने में मध्यवर्गीय शिक्षित युवा वर्ग में 'शकुंतला ऑ द लॉस्ट रिंग' का नाट्य-प्रदर्शन काफी लोकप्रिय था। स्पष्ट है भारतीय मध्यवर्ग का एक हिस्सा अंग्रेजी अनुवाद में इस नाटक को पढ़कर इसका नाट्य प्रदर्शन कर रहा था।²⁸

पारसी एलिफिंस्टन ड्रमेटिक सोसायटी की स्थापना बंबई में 1861 ई. में हुई। खुर्शीदजी बालीवाला ने दिल्ली में 1877 ई. में जब विक्टोरिया थियेट्रिकल कंपनी की स्थापना की तो उनके प्रतिद्वंद्वी और 'भारत के इरविंग' कहे जाने वाले ख्वासजी खटाऊ ने उसी वर्ष 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी' की स्थापना की; फिर तो इस प्रकार की दर्जनों कंपनियां खुल गईं। 'कालिदास ऐलिफिंस्टन ड्रमेटिक सोसायटी', 'विक्टोरिया नाटक-मंडली' शेक्सपियर एवं कालिदास की नाट्य-कृतियों को प्रस्तुत कर रही थीं। कालिदास की कृतियां अंग्रेजी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती एवं हिंदी में प्रदर्शित होती थीं। हिंदी क्षेत्र में भारतेंदु के प्रयत्न से बनारस में हिंदू नेशनल थिएटर (नाटक समाज), कवितावर्धिनी सभा एवं पेनी रीडिंग क्लब में नियमित नाट्य-प्रदर्शन हुआ करते थे। इलाहाबाद में 'आर्य नाट्य सभा' कानपुर में 'भारतेंदु मंडल' लखनऊ में 'विद्यांत नाट्यशाला, भी अपने-अपने तरह से सक्रिय थीं। इसी प्रकार पटना, बलिया, मुजफ्फरपुर, आगरा की भी अपनी-अपनी नाटक मंडलियां थीं।²⁹

'प्राच्यवाद' ने भले ही भारतीय अतीत की 'दृष्टि' (vision) बदल दी हो,³⁰ नवजागरण की राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया उस अतीत को महिमामंडित करने में लगा था। भारतेंदु कहते हैं: 'यदि कोई हम से यह प्रश्न करे कि सबसे पहले देश में नाटकों का प्रचार हुआ तो हम क्षण मात्र का भी विलंब

किए बिना मुक्तकंठ से कह देंगे भारतवर्ष में। इसका प्रमाण यह है कि जिस देश में संगीत और साहित्य प्रथम परिपक्व हुए होंगे वहीं प्रथम नाटक का भी प्रचार हुआ होगा। हम नहीं समझ सकते कि पृथ्वी की और कोई जाति भी भारतवर्ष के सामने इस विषय में मुंह खोले।³¹ मानो इसे सिद्ध करने के लिए ही संस्कृत के एक-एक ग्रंथ को ढूँढ-ढूँढ कर अनुवाद किया जाने लगा-विशेषकर नाटकों का। इसके पीछे एक कारण यह भी था कि साहित्य की सभी विधाओं में नाटक के सर्वाधिक सामाजिक स्वरूप होने के कारण नवजागरण की सामाजिक चेतना को पुष्ट करने में यह विधा सर्वाधिक सहायक हो सकती थी। राम मोहन राय (1772-1833) की 'आत्मीय सभा' (1815)³² हो या 'ब्रह्म समाज' (1828) महाराष्ट्र का 'प्रार्थना समाज' (1867) हो या स्वामी दयानंद का 'आर्य समाज' (1875) या भारतेंदु का 'तदीय समाज' (1873) सभी का वैयक्तिकता के बदले सामाजिकता को स्थापित करने पर बल है। स्पष्टतः यह नवजागरण की मूल प्रतिज्ञाओं में से एक है।

राजा लक्ष्मण सिंह के 'शकुंतला' जिसे मौलिक नाटकों की-सी ख्याति मिली,³³ के बाद भारतेंदु का 'विद्यासुंदर' नाटक है जो चौर कवि की मूल संस्कृत रचना से अनूदित न होकर यतींद्र मोहन ठाकुर की बांग्ला कृति का अनुवाद है। इसी वर्ष भारतेंदु ने श्री हर्ष कृत 'रत्नावली' का अनुवाद किया। 1873 ई. में उन्होंने कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चंद्रोदय नाटक' का 'पाखंड विडंबन' एवं कांचन पंडित के 'धनंजय विजय' का अनुवाद किया। आगे महाकवि विशाख दत्त के 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद 1875 ई. में प्रकाशित किया। इसी वर्ष उन्होंने राजशेखर की प्राकृत रचना 'संस्कृत' का अनुवाद 'कर्पूर मंजरी' के नाम से किया। इन कृतियों को अनूदित करने के पीछे नवजागरण की भावना तो थी ही लेकिन एक और भी कारण था। जैसा कि इवान-जोहर ने लिखा है कि 'एक युवा साहित्यिक प्रणाली चूँकि सभी प्रकार की रचनाओं का तत्काल उत्पादन कर पाने में असमर्थ होता है, वह दूसरे साहित्य के अनुभवों को अनुवाद के माध्यम से फायदा उठाना चाहता है।'³⁴ 'रत्नावली' की भूमिका में भारतेंदु लिखते हैं : 'हिंदी भाषा में जो सब भाँति की पुस्तकें बनने के योग्य हैं अभी वे बहुत कम बनी हैं विशेषकर के नाटक तो (कुंवर लक्ष्मण सिंह के) 'शकुंतला' के सिवाय कोई भी ऐसे नहीं बने हैं जिनको पढ़ के कुछ चित्त को आनंद और इस भाषा का बल प्रकट हो; इस वास्ते मेरी इच्छा है कि चार नाटकों का तर्जुमा हिंदी में हो जाए तो मेरा मनोरथ सिद्ध हो।'³⁵ स्पष्ट है कि भारतेंदु साहित्य के रिक्त भंडार को अनुवाद से भरने के कौशल से परिचित थे। उन्होंने न सिर्फ अपने को इस काम में लगाया बल्कि अपने मित्रों-सहयोगियों को भी आगे आने के लिए प्रोत्साहित किया। शीतला प्रसाद ने 1879 में कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चंद्रोदय नाटक' का तथा देवदत्त तिवारी ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' का 1871 में अनुवाद किया। दुबे नंदलाल विश्वनाथ ने भी 1886 ई. में 'उत्तररामचरित' और 'शकुंतला' का अनुवाद प्रस्तुत किया। आगे चलकर लाला सीताराम ने भी भवभूति की कई नाट्य कृतियों- 'महावीर चरित' (1871), 'उत्तर रामचरित' (1879) एवं हर्षदेव कृत 'नागानंद' (1900) को भी खड़ी बोली में अनूदित किया। रामेश्वर भट्ट ने श्री हर्ष की 'रत्नावली' को 1895 में तथा इसी नाटक को बालमुकुंद गुप्त ने 1898 में अनूदित किया। कालांतर में 'रामायण', 'हरिवंश पुराण', 'शिवपुराण', 'विघ्ननारदीय पुराण', 'कथासरित्सागर', 'हितोपदेश', के अतिरिक्त अश्वघोष, पंडितराज जगन्नाथ, जयदेव, जिनसेन सूरी, नीलकंठ पुष्पदंत भट्ट, भर्तृहरि, भारवि, माघ, बिल्हण, वाणभट्ट, भास, रामदास, बाघिचंद्र सूरी, हरिहर उपाध्याय, हृदयराम कवि, दंडी,

विष्णु शर्मा, वल्लात, कुसुमदेव को भी अनूदित किया गया।³⁶

खड़ी बोली हिंदी की युवा साहित्यिक प्रणाली को संस्कृत के अलावा अंग्रेजी कृतियों के अनुवाद से भी समृद्ध किया जा सकता था, यह नवजागरण काल के साहित्यकार अच्छी तरह जानते थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी की राय थी : 'जैसे अंग्रेजों ने ग्रीक और लैटिन भाषा की सहायता से अंग्रेजी की उन्नति की, और उन भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रंथों का अनुवाद करके अपने साहित्य की शोभा बढ़ाई, वैसे ही हमको भी करना चाहिए। इस समय अंग्रेजों का साहित्य उन्नत दशा को प्राप्त है। अतएव हमको चाहिए कि उस भाषा के अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अनुवाद करके हिंदी साहित्य की दशा को सुधारें।'³⁷

1879 ई. में अंग्रेजी से दो ग्रंथ खड़ी बोली में अनूदित हुए: एक जोसेफ एडिसन (1672-1799) की नाट्य-कृति 'केटो' (1713) का तोताराम वर्मा (1847-1902) द्वारा अनूदित 'केटो वृत्तांत' तथा दूसरा विलियम शेक्सपियर की नाट्य-रचना 'द कामेडी ऑफ एरर्स' (1592) का श्री रत्नचंद्र (1840-1911) का अनुवाद, 'भ्रमजालक नाटक'। शेक्सपियर की इस कृति के इसी वर्ष 'भ्रमजालक' शीर्षक से मुंशी इमदाद अली के एक और अनुवाद का उल्लेख मिलता है। अंग्रेजी से हिंदी में अनूदित होने वाली प्रथम कृति 'केटो वृत्तांत' में जहां स्वाधीनता एवं देशभक्ति का गुणगान किया गया है वहीं 'भ्रमजालक' एक प्रहसन (फार्सी) है। अगले ही वर्ष भारतेंदु ने शेक्सपियर के 'द मर्चेट ऑफ वेनिस' (1596-97) का 'दुर्लभ बंधु या वंशपुर का महाजन' के नाम से अनुवाद किया।³⁸ फिर शेक्सपियर के प्रायः सभी नाटक अनूदित हुए। पहले सुखांत रचनाएं ही अनूदित की गईं संभवतः भारतीय नाट्य-परंपरा में उनकी स्वीकृति के कारण; लेकिन बाद में दुखांत रचनाएं भी अनूदित हुईं। शेक्सपियर के आरंभिक अनुवादकों में लाला सीताराम का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इन्होंने 1885 से 1915 ई. के बीच शेक्सपियर के 'भूलभुलैया' (कॉमेडी ऑफ एरर्स), अपनी-अपनी रुचि (एज यू लाइफ इट), प्रेम परिणाम (रोमियो एंड जुलियट), मन मोहन का जाल (मच एंडो अबाउट नथिंग), जंगल में मंगल (द टेम्पेस्ट), राजा लियर (किंग लियर), राजा हेनरी पंचम (हेनरी फिफथ), सिम्बेलीन (सिम्बेलीन), राजा जुलियस (जुलियस सीजर), डेनमार्क का राजकुमार (हेलमेट), ओथेलो (ओथेलो), बगुला भगत (मेजर फॉर मेजर) शीर्षक से अनुवाद प्रस्तुत किया। इस दौर में लाला सीताराम के अतिरिक्त शेक्सपियर के अन्य महत्वपूर्ण अनुवादक हैं : आर्या (मर्चेट ऑफ वेनिस-वेनिस नगर का व्यापारी 1888), पुरोहित गोपीनाथ (एज यू लाइफ इट-मनभावन : रोमियो एंड जुलियट-प्रेमलीला 1897), मथुरा प्रसाद उपाध्याय (मैकबेथ-साहसेंद्र साहस; 1893) गदाधर सिंह (ओथेलो 1894) श्रीनिवास दास (रोमियो एंड जुलियट-रणधीर और प्रेम मोहिनी 1888)।

खड़ी बोली हिंदी के आरंभिक चरण में शेक्सपियर की इस लोकप्रियता को तत्कालीन रंगमंच की गतिविधियों के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। उन दिनों हिंदी क्षेत्र में रंगमंच के नाम पर या तो रामलीला, रासलीला या स्वांग जैसी लोककलाएं थीं या पारसी रंगमंच था। शेक्सपियर के नाट्यानुवाद पारसी रंगमंच पर बेहद लोकप्रिय थे। 'खूने-नाहक' (हेमलेट), 'मुरादे-शक' (विंसें टेल), शहीदे-वफा (ओथेलो), 'बज्मे-फानी' (रोमियो एंड जुलियट), 'मीठा जहर' (सिंबेलीन), 'दिल फरोश' (मर्चेट ऑफ वेनिस), 'शहीदे-नाज' (मेजर फॉर मेजर) जैसे नाटक शेक्सपियर की कृतियों के स्वतंत्र अनुवाद थे और जिनकी नाट्य-प्रस्तुति में कलात्मकता का नितांत अभाव हुआ करता था। भारतेंदु

का संस्मरण है: 'काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब 'शकुंतला' नाटक खेला और उसमें धीरोदत्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और पतली कमर बलखाय यह गाने लगा और डॉक्टर थिबो बाबू, प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।³⁹ कालिदास के साथ-साथ पारसी रंगमंच पर शेक्सपियर का भी गला रेटा जा रहा था और जिसके पीछे सिर्फ व्यावसायिक रंगमंचीय प्रस्तुति का ही हाथ नहीं था बल्कि स्वतंत्र अनुवाद के नाम पर मूल के साथ अक्लात्मक छेड़छाड़ भी जिसका प्रमुख कारण था। इन दोनों प्रकार की अशिष्टताओं के प्रतिक्रियास्वरूप ही खड़ी बोली हिंदी के आरंभिक अनुवादकों ने शेक्सपियर पर अपना ध्यान केंद्रित किया था। लाला सीताराम ने हेमलेट के हिंदी अनुवाद की भूमिका में इस ओर संकेत भी किया है।

इस दौर में कुछ यूरोपीय नाटक अंग्रेजी के माध्यम से खड़ी बोली में अनूदित हुए, जिसमें प्रमुख हैं फ्रांसीसी नाटककार ब्रियो यूजीन के अंग्रेजी अनुवाद 'मैटरनिटी' शीर्षक नाटक का श्री वासुदेव द्वारा रूपांतरित 'वैवाहिक अत्याचार और मातृत्व', मारिस मैतरलिक की नाट्य कृति (अंग्रेजी में सिस्टर ब्रीमीस) का पदुमलाल पन्नालाल बख्शी द्वारा 'प्रायश्चित' शीर्षक से अनुवाद, मोलियार की 'ल मेडिसां मालग्रे लूइ' का हरिनारायण आप्टे तथा लल्ली प्रसाद पांडेय द्वारा अंग्रेजी से अनूदित 'ठोंक पीट कर वैद्यराज' तथा जी. पी. श्रीवास्तव द्वारा मोलियार की तीन नाट्य-कृतियों - 'ल मेडिसा मालग्रे लूइ', 'लामार मेडिसां', 'ल मेडिस वलां, का क्रमशः 'मार मार कर हकीम', 'आंखों में धूल', 'हवाई डॉक्टर' शीर्षक से अनुवाद। रूसी रचनाकार लेव तोल्स्तोय (1828-1910) की नाट्य-कृति भी अंग्रेजी अनुवाद ('द फर्स्ट डिस्टिलर) से खड़ी बोली में क्षेमानंद राहत द्वारा 'तलवार की करतूत' शीर्षक से अनूदित हुई।

सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार सभी आधुनिक भाषाओं पर अंग्रेजी के बाद आधुनिक बांग्ला साहित्य का सर्वाधिक प्रेरक प्रभाव रहा है।⁴⁰ यह अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में कितना सत्य है पता नहीं पर खड़ी बोली के आरंभिक युग पर बांग्ला साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव तो है ही, कई बार अंग्रेजी का भी प्रभाव बांग्ला के ही माध्यम से आया। बांग्ला की यह भूमिका यूरोपीय साहित्य के संदर्भ में फ्रांसीसी की याद दिलाती है।

'खड़ी बोली के आदिपुरुष भारतेन्दु की सम्मति थी: 'यद्यपि हिंदी भाषा में दस बीस नाटक बन गए हैं किंतु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जाएंगे। और अपनी सम्मति शालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षयरत्न भंडार की सहायता से हिंदी भाषा बड़ी उन्नति करे।'⁴¹ इस संदर्भ में पहल स्वयं भारतेन्दु ने यतींद्र मोहन ठाकुर की नाट्य-कृति 'विद्यासुंदर' को अनूदित कर की। तत्पश्चात् रामगोपाल विद्यांत ने 1877 ई. में मनमोहन बसु (1831-1912) की प्रसिद्ध नाट्य-रचना 'रामाभिषेक' (1867) का इसी नाम से अनुवाद किया। यह बांग्ला में रामकथा पर लिखा जाने वाला पहला मौलिक नाटक था। बसु के सर्वाधिक प्रसिद्ध दुखांत नाटक 'सती' का अनुवाद उचित नारायण लाल ने 1889 में किया। बसु के नाटक में लोक एवं शास्त्रीयता का अद्भुत संगम है। ईश्वर चंद्र विद्यासागर (1820-91) की 1855 ई. में रचित वह प्रसिद्ध कृति जो 'विधवा विवाह अधिनियम' को पारित करवाने में काफी सहायक हुआ था, ब्रह्मशंकर मिश्र द्वारा 1881 ई. में अनूदित होकर खड़ी

बोली में 'विधवा-विवाह' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। अगले वर्ष इस नाटक का एक और अनुवाद काशीनाथ खत्री ने प्रस्तुत किया। केशव प्रसाद मिश्र ने ज्योतिरींद्र नाथ ठाकुर की नाट्य-रचना 'सरोजनी' (1875) का अनुवाद 1883 ई. में किया। देशभक्ति की भावना से लबालब इस त्रासदी को 'यात्रा' में भी रूपांतरित किया गया था और सारे देश में जिसका प्रदर्शन काफी लोकप्रिय हुआ। इनकी एक अन्य महत्वपूर्ण रचना 'अश्रुमति नाटक' (1879) का अनुवाद उदित नारायण लाल ने 1895 में किया था। 'अश्रुमति नाटक' की कथा राजपूत इतिहास से ली गई है। माइकेल मधुसूदन दत्त (1824-1873) के सामाजिक प्रहसन 'एकेइ कि बले सभ्यता' (1859) का अनुवाद बृजनाथ शर्मा ने 1888 ई. में 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?' शीर्षक से प्रकाशित किया। इस नाटक में अंग्रेजी शिक्षा की आलोचना प्रस्तुत की गयी है। टैगोर टूप एवं शोभा बाजार प्राइवेट थियेट्रिकल सोसायटी द्वारा प्रस्तुत इसका नाट्य-प्रदर्शन भी काफी सफल रहा था। दत्त के दो अन्य महत्वपूर्ण नाटक 'पद्मावती' (1860) तथा 'कृष्णाकुमारी' (1865) का अनुवाद रामकृष्ण वर्मा (1859-1906) ने 1888 ई. में किया। 'पद्मावती' जहां एक ग्रीक पुराकथा का रूपांतर है वहां 'कृष्णाकुमारी' टॉड की 'ऐनल्स एंड ऐंटिक्विटि ऑफ राजस्थान' (दो खंड : 1829) की एक कहानी पर आधारित है। टॉड का यह ग्रंथ भारतीय नवजागरण की एक केंद्रीय आधार रचना है जो, '... राष्ट्रीय दृष्टि से आत्मसजग शिक्षित युवा बंगालियों के लिए लगभग वेद-सदृश हो गया था।'⁴² दत्त की इन दोनों कृतियों पर शेक्सपियर एवं ग्रीक त्रासदी का स्पष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। 1892 ई. में लिखित रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941) की प्रगीतात्मक नाट्य-कृति 'चित्रागंदा' का गोपालराम गहमरी ने 1895 में अनुवाद प्रस्तुत किया। यह नाटक अंग्रेजी में रूपांतरित होकर लंदन में सफलतापूर्वक प्रदर्शित हो चुका था। केशवराम भट्ट (1854-1914) ने उपेंद्रनाथ दास (1847-95) की 'शरत-सरोजिनी' (1874) के आधार पर 'सज्जाद सुंबुल' (1877) एवं 'सुरेंद्र विनोदिनी' (1875) के आधार पर 'शमशाद सौसन' (1880) की रचना की। उपेंद्रनाथ दास ग्रेट नेशनल थिएटर के निर्देशक थे और इनकी ये दोनों राष्ट्रवादी रचनाएं मंच पर काफी लोकप्रिय थीं।

आगे चलकर क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद (1863-1927), गिरीशचंद्र घोष (1844-91), राजकृष्ण राय (रचना काल 1881), द्विजेंद्र लाल राय (1863-1915) के भी कतिपय नाटक अनूदित हुए।

जैसा कि जॉर्ज लुकाच का कहना है कि हमारी साहित्यिक आवश्यकताएं ही साहित्यिक आयात (अनुवाद) को तय करती हैं लेकिन आयातित साहित्य का प्रभाव वहीं गहरा और गंभीर होता है जहां लक्ष्य साहित्य और स्रोत साहित्य की प्रवृत्तियां, चाहे प्रच्छन्न ही क्यों न हों, मिलती-जुलती हों।⁴³ उन्नीसवीं शताब्दी के बांग्ला साहित्य और खड़ी बोली की साहित्यिक प्रवृत्तियों में काफी समानता दृष्टिगोचर होती है। बांग्ला नाटक के आरंभिक युग में 1853 ई. में बांग्ला नाटककारों ने दो स्पष्ट पद्धतियां अपनाईं; एक अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद और रूपांतर, विशेषकर शेक्सपियर के; और दूसरी संस्कृत के अधिक प्रसिद्ध नाटकों और रूपांतर।⁴⁴ जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि खड़ी बोली के आरंभिक युग में भी इन्हीं दो पद्धतियों का अनुसरण हुआ। इन दोनों साहित्यिक प्रणालियों के आरंभिक युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रवादी नाटकों तथा समाज सुधारवादी प्रहसनों का जोर दिखाई देता है। यही कारण है कि जहां मनमोहन बसु का 'रोमाभिषेक', 'सती नाटक' और 'हरिशचंद्र' जैसे पौराणिक नाटकों का हिंदी में अनुवाद हुआ वहीं लाला श्रीनिवास दास

का 'प्रहलाद चरित्र' (1888), अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'प्रद्युम्न विजय' (1893), बालकृष्ण भट्ट का 'दमयंती स्वयंवर' (1895), कार्तिक प्रसाद वर्मा का 'उषाहरण' (1891) जैसे मौलिक पौराणिक नाटक भी लिखे गए। बांग्ला से अगर मधुसूदन दत्त की 'कृष्णकुमारी', लक्ष्मीनारायण चक्रवर्ती का 'नवाब सिराजुद्दौला', ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर का 'सरोजिनी अर्थात् चित्तौर आक्रमण' जैसे ऐतिहासिक नाटक अनूदित हुए तो खड़ी बोली में लालाश्रीनिवास दास का 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी का 'अमर सिंह राठौर' (1895) जैसे मौलिक नाटक भी लिखे गए। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत 'अश्रुमति नाटक', 'कृष्णकुमारी' जैसे नाटक बांग्ला से अनूदित होकर हिंदी में लोकप्रिय हो रहे थे तो भारतेंदु का 'प्रेमयोगिनी' (1874), 'भारत दुर्दशा' (1875), बद्रीनारायण चौधरी (1855-1922) का 'भारत सौभाग्य' (1889), गोपालराम गहमरी का 'देशदशा' (1892) जैसे मौलिक नाटक भी लिखे जाने लगे। किंतु जैसा कि डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है; 'उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों की प्रधान विशेषता प्रहसन है।⁴⁵ माइकेल मधुसूदन दत्त का प्रसिद्ध प्रहसन 'एकई कि बले सभ्यता' तो 1888 में हिंदी में अनूदित हुआ लेकिन उसके पहले ही भारतेंदु का 'बौद्धिक हिंसा हिंसा न भवति' (1873), 'विषस्यविषमौषधम' (1875), 'अंधेर नगरी' (1881), प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894) का 'कलिकौतुक' (1876), राधाचरण गोस्वामी (1859-1923) का 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (1888) जैसे प्रहसन हिंदी में लोकप्रिय हो चुके थे।

उपन्यास: एक नयी साहित्यिक विधा की शुरुआत :

आशीष नंदी के अनुसार एशियाई समाज में औपनिवेशिक अनुभव के एक अवयव के रूप में उपन्यास की अवधारणा का प्रवेश हुआ।⁴⁶ यह सच है कि भले ही फ्रेडरिक जेमसन की तरह उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के संदर्भ में तीसरी दुनिया को व्याख्यायित करने की जिद हम न करें और तीसरी दुनिया में लिखे जाने वाले हर उपन्यास को 'राष्ट्रीय रूपक' की तरह पढ़ने की कोशिश ही करें।⁴⁷ फिर भी भारत जैसे देश में उपन्यास के उदय को उपनिवेशवाद से विछिन्न कर समझना कठिन है। एजाज अहमद का यह कहना उर्दू के लिए भी सही नहीं है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लिखे जाने वाले उपन्यासों में एक नए प्रकार के पेटी बर्जुआ के उदय एवं स्त्री की स्थिति का प्रश्न ज्यादा महत्वपूर्ण है बजाए कि उन अनुभवों के जो उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के संबद्ध माने जाते हैं।⁴⁸ दुर्गेशनादिनी के अनुवादक और उन्नीसवीं शताब्दी के तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण उर्दू उपन्यासकारों में एक मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' (1860-1926) के अधिकांश उपन्यास अगर मुस्लिम अतीत को गौरवान्वित करते हैं तो औपनिवेशिक या साम्राज्यवादी दासता से मुक्ति के इस प्रयास को अनुभव के किस खाते में डाला जाए?

निर्मल वर्मा का यह कहना सही है कि 'यूरोप ने भारतीय चेतना में जो दरार उत्पन्न की थी-एक हिस्सा परंपरा में डूबा हुआ और दूसरा अपने को यूरोपीय मनुष्य की छवि में ढालने में लीन-उसने एक ऐसी आत्मछलना को जन्म दिया जो हिंदू परंपरावादियों और नव्य हिंदुओं-दोनों के अंतःकरण को कुतरने लगी। परंपरावादी अपने को यूरोपियों के विरुद्ध स्थापित करना चाहते थे, अपने अतीत को आदर्शकृत करके। इसके लिए भले ही उन्हें अपने इतिहास के कुछ अंशों को मिथ्याकरण करना पड़ा हो जैसे कि बंकिम चटर्जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में किया था।'⁴⁹ औपनिवेशिक मन की यह एक प्रचलित प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि प्रायः हर उपनिवेश में राष्ट्रवाद के साथ

पुनरूत्थानवाद का भी उदय होते देखा गया है। इतिहासकार सुधीर चंद्र का यह विचार सही है कि पुनरूत्थान औपनिवेशिक चेतना की संरचना का एक अनिवार्य संघटक है। और यही कारण है कि वृंदावन के वैष्णव पुजारी राधाचरण गोस्वामी और अंग्रेजीदां आई.सी.एस. अधिकारी रमेशचंद्र दत्त के इस संदर्भ में विचार इतने मिलते-जुलते हैं।⁵⁰

भारतीय इतिहास पर अंग्रेजी पुस्तकों के कुछ प्रकाशन ने यहां के नवजागरण पर गहरा असर डाला। इस संदर्भ में टॉड की 'ऐनल्स एंड ऐंटिक्विटी ऑफ राजस्थान' (दो भाग : 1829), ग्रॉट डफ की 'द हिस्ट्री ऑफ मराठाज' (तीन भाग 1826) तथा कैंटर्स की 'रोमांस ऑफ हिस्ट्री, इंडिया' (भाग दो) का नाम उल्लेखनीय है। इन ग्रंथों से यह सहूलियत हुई कि अब भारत के किसी भी खंड के इतिहास को लेकर, जैसा कि मीनाक्षी मुखर्जी ने लिखा है 'शौर्य के नए मिथ का सृजन संभव था।'⁵¹ उपनिवेशवाद की राष्ट्रवादी प्रतिक्रियास्वरूप 'शौर्य के नए मिथ' गढ़ने के लिए 'ऐतिहासिक उपन्यास' का रूप अख्तियार किया गया। यह संभवतः इसलिए भी कि ऐतिहासिक उपन्यास का रूप ठेठ पश्चिमी उपन्यास के बजाय कथा-वाचन की पारंपरिक भारतीय अवधारणा के ज्यादा करीब था। शुरुआत बांग्ला से हुई। बांग्ला में ऐतिहासिक कथा लिखने वाले पहले व्यक्ति थे भूदेव मुखर्जी (1825-94) जिन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास (1862) की कथावस्तु जे. एच. कांटर की 'रोमांस ऑफ हिस्ट्री' से ली। उनकी 'अंगुरीय विनियम' भी कांटर की 'द मरहट्टास चीफ' पर आधारित है। इसमें औरंगजेब की सेना पर शिवाजी की विजय-गाथा चित्रित हुआ है। प्रसंगतः बंकिमचंद्र चटर्जी (1838-94) का पहला बांग्ला उपन्यास 'दुर्गेशनदिनी' (1865) का केंद्रीय कथानक 'अंगुरीय विनियम' से ही लिया गया है। 'दुर्गेशनदिनी' वह उपन्यास है जिससे भारतीय उपन्यास की यात्रा का आरंभ माना जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ और हर दृष्टि से भारतीय साहित्य पर इसका प्रभाव युगांतकारी सिद्ध हुआ।

हिंदी क्षेत्र में ऐतिहासिक चेतना का नितांत अभाव था। यही वजह है कि वृंदावन लाल वर्मा के पहले कायदे से कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखा गया।⁵² हिंदी नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु को अपने क्षेत्र के अनैतिहासिक चेतना की व्याप्ति का अनुभव था और वे स्वयं 'कालचक्र', 'प्राचीन काल का संवत् निर्णय', 'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह-दर्पण' जैसी रचनाओं के सहारे इसे दूर करने की कोशिश कर रहे थे। इस अभियान में भारतेंदु का ऐसा मानना था कि बांग्ला के ऐतिहासिक उपन्यास सहायक सिद्ध हो सकते थे। भारतेंदु ने बंकिम के उपन्यास 'राजसिंह' (1881) को अनूदित करना आरंभ किया। उन्होंने इस काम में अपने मित्रों को भी प्रेरित किया। उनके मित्र गदाधर सिंह द्वारा किया गया 'दुर्गेशनदिनी' का अनुवाद बांग्ला से खड़ी बोली हिंदी में अनूदित होने वाला पहला उपन्यास है। भारतेंदु ने इसे सातवें दशक के अंत में अपनी पत्रिका 'कवि वचन सुधा' में धारावाहिक प्रकाशित किया था। गदाधर सिंह ने इसी वर्ष बंकिम के 'चौबे का चिट्ठा' का अनुवाद दो भागों में प्रस्तुत किया था। इन्होंने रमेश चंद्र दत्त (1848-1909) के अकबरकालीन ऐतिहासिक उपन्यास 'बंगविजेता' (1874) का भी अनुवाद 1886 ई. में किया था। भारतेंदु की मित्र मल्लिका देवी ने बंकिम के उपन्यास 'राधारानी' (1886) का अनुवाद 1893 ई. में प्रस्तुत किया था। भारतेंदु के अनन्य मित्र एवं सहयोगी प्रताप नारायण मिश्र (1856-1894) ने बंकिम के चार उपन्यास-'इंदिरा' (1873), 'युगलांगरीय' (1874), 'राधारानी' (1886), 'राजसिंह' (1881) का अनुवाद खड़ग विलास प्रेस,

बॉकीपुर से 1894 ई. में प्रकाशित किया। इन्होंने बंकिम के 'कपालकुंडला' (1866) को भी अनूदित किया था लेकिन वह उनके मरणोपरांत 1901 ई. में ही छप सका। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (1865-1947) ने भी बंकिम के दो उपन्यास 'कृष्णकांत का दानपत्र' (कृष्णकांतेर उडल :1878) एवं 'राधारानी' का अनुवाद 1897 ई. में किया। कालांतर में बंकिम के अन्य उपन्यास 'मृणालिनी' (1869), 'विषवृक्ष' (1873), 'चंद्रशेखर' (1875), 'रजनी' (1877), 'आनंदमठ' (1882), 'देवी चौधरानी' (1884), 'सीताराम' (1887) भी अनूदित किए गए। बंकिम और रमेशचंद्र दत्त के बाद रवींद्रनाथ ठाकुर की बड़ी बहन स्वर्ण कुमारी देवी (1885-1932) का ऐतिहासिक उपन्यास 'दीप निर्वाण' (1876) अनूदित किया गया। पृथ्वी राज चौहान के ऐतिहासिक कथा पर आधारित इस उपन्यास के दो-दो अनुवाद- एक राधाचरण गोस्वामी द्वारा तथा दूसरा उदितनारायण लाल वर्मा द्वारा 1891 ई. में प्रकाशित हुए।

इन ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद ने निस्संदेह एक प्रकार के ऐतिहासिक चेतना को विकसित करने में मदद की लेकिन इस ऐतिहासिक चेतना की अपनी सीमाएं थीं। यह मुस्लिम संस्कृति को धूल-धूसरित करके ही हिंदू श्रेष्ठता के मिथ को रोशन कर पाती थी। भारतेंदु युग के प्रायः सभी साहित्यकार इस चेतना से ग्रसित दिखाई देते हैं।

बांग्ला के ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त सामाजिक उपन्यासों के भी खूब अनुवाद हुए। बालमुकुंद गुप्त (1865-1907) ने अक्षयचंद्र सरकार (1846-1917) के बहुचर्चित उपन्यास 'माडेल भगिनी' (1886-88) का अनुवाद चार भागों में किया जो 1888 ई. में प्रकाशित हुआ था। तारकनाथ गांगुली (1845-19) के यथार्थवादी उपन्यास 'स्वर्णलता' (1873) का अनुवाद राधाचरण दास ने किया। कालांतर में इनके दो अन्य उपन्यास 'अदृष्ट' एवं 'अहोर' भी अनूदित हुए। कार्तिक प्रसाद खत्री द्वारा अनूदित पांचकौड़ी दे का उपन्यास 'कुलटा' तथा 'मधुमालती' का 1897 ई. में प्रकाशन हुआ। इसके अलावा इस दौर में दामोदर मुखर्जी (1853-1907), नगेंद्र नाथ गुप्त (1861-1940) शिवनाथ शास्त्री (1847-1919), संजीव चंद्र चटर्जी (1834-89), हरिदास हाल्दार (1862-1934) एवं रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941) के कतिपय उपन्यास अनूदित हुए। इस दौर के प्रमुख अनुवादक हैं : रामकृष्ण वर्मा, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, रूपनारायण पांडेय, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुंद गुप्त एवं राधाकृष्ण दास।

बांग्ला के इन उपन्यासों के अनुवाद ने जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है- 'हिंदी को एक ओर अतिप्राकृत, अतिरंजित, घटनाबहुल, ऐय्यारी, उपन्यासों के मोहजाल से मुक्त किया और दूसरी ओर शुद्ध भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख किया। उनके अनुवादों ने भाषा को संस्कृत पदावली की मधुरता और गंभीरता की ओर प्रवृत्त किया और कोमल भावनाओं और सुकुमार कल्पनाओं की रुचि उत्पन्न की। यद्यपि कुछ दिनों तक उसका अभिभूतकारी प्रभाव हिंदी पर छाया रहा, पर सब मिलाकर उसने हिंदी कविता और गद्य-भाषा को समृद्ध ही किया। उर्दू के अतिरंजित कथानकों और किस्सागोईपरक साहित्य से कुछ देर तक के लिए छुटकारा मिलना हिंदी के विकास के लिए आवश्यक था। उर्दू मुहावरों की भाषा बन गई थी, उस समय उससे बंधे रहने पर हिंदी में उन्मुक्त कल्पना का अवकाश न मिलता, हमारा कथा-साहित्य मुहावरेबाजी और लतीफेबाजी में देर तक अटका रहता।'⁵³

कालक्रम की दृष्टि से खड़ी बोली हिंदी को इस नयी साहित्यिक विधा 'उपन्यास' से परिचय

डेनियल डेफो (1660-1731) के अंग्रेजी उपन्यास 'द लाइफ एंड स्ट्रेंज एंड सरप्राइजिंग एडवेंचर्स ऑफ रोबिन्सन क्रूसो' (1719) के हिंदी अनुवाद से 1860 ई. में हुआ। यह उपन्यास काशी पाठशाला के चीफ रीडर पंडित बद्रीलाल ने बांग्ला से अनूदित किया था। बांग्ला में यह वर्नाक्युलर लिटरेचर कमिटी के प्रकाशनाधीन 1852 में अनूदित हुआ था। 'रोबिन्सन क्रूसो' पश्चिमी उपन्यास की गौरवशाली परंपरा की वह आरंभिक कृति है जिसे पहली बार व्यक्तिवाद, मध्यवर्ग एवं पूंजीवाद के उदय को अभिव्यंजित करने वाली एक नयी विधा की संभावनाओं के रूप में लिया गया। डेफो के बाद जान बुनयान (1628-88) का उपन्यास 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (1676) का 'यात्रा स्वप्नोदय' के नाम से 1865 ई. में एक ईसाई मिशनरी के द्वारा अनुवाद हुआ। उन दिनों ईसाई मिशनरियों के एजेंडे में बाइबिल के अलावा 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' को अनूदित करना धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। यह कृति एक नैतिक आख्यान होने के बावजूद कथा-विन्यास के एक निराले ढंग को सामने लाती है।

डेफो की साहित्यिक एवं बुनयान की नैतिक कथा के बाद हिंदी में रेनाल्ड्स के रहस्य रोमांच से भरपूर मनोरंजक उपन्यासों को अनूदित किया गया। जॉर्ज डब्ल्यू. एम. रेनाल्ड्स का नाम अंग्रेजी साहित्य के किसी भी इतिहास में दर्ज नहीं है क्योंकि यह एक 'पल्प' (घासलेट) लेखक का नाम है और जिसे 'पॉपुलर कल्चर' के मौजूदा समय में 'लोकप्रिय लेखक' कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों में रेनाल्ड्स ने अद्भुत लोकप्रियता अर्जित की थी! प्रेमचंद जैसे 'यथार्थवादी' लेखक भी रेनाल्ड्स के 'लंदन रहस्य' के उत्साही पाठक थे।⁵⁴ रेनाल्ड्स की लोकप्रियता सिर्फ भारत में ही नहीं बल्कि सभी अंग्रेजी उपनिवेशों में एक समान थी। वर्जीनिया वुल्फ (1882-1941) को श्रीलंका में पदस्थ अपने सिविल सर्वेंट पति से यह जानकर बेहद आश्चर्य हुआ था कि गॉल्सवर्दी, बेनेट एवं वेल्स जैसे लोकप्रिय लेखकों के बजाए वहां रेनाल्ड्स एवं मेरी कारेली लोकप्रिय हैं।⁵⁵

बांग्ला में चुन्नीलाल मित्र ने 'मिस्टरीज ऑफ लंडन' के तर्ज पर 'मिस्टरीज ऑफ केलकेट' (1869) की रचना की एवं हरिनारायण आपटे (1864-1919) ने न सिर्फ रेनाल्ड्स के उपन्यास मराठी में अनूदित किए बल्कि अपने एक उपन्यास की रचना रेनाल्ड्स के 'द सीमेस्ट्रेस' के तर्ज पर की। मुल्कराज आनंद को भी वर्षों यह भय सताता रहा कि रेनाल्ड्स के पढ़े हुए लंबे-लंबे उपन्यासों के लंबे-लंबे वाक्य कहीं उनकी रचनाओं को न प्रभावित कर लें।⁵⁶

हिंदी में रेनाल्ड्स को लाने वाले वही लेखक थे जिन्होंने इस भाषा में तिलिस्मी-ऐय्यारी उपन्यासों की नींव डाली यानी देवकीनंदन खत्री, हरिकृष्ण जौहर एवं गंगा प्रसाद गुप्त। हरिकृष्ण जौहर ने रेनाल्ड्स के 'फाउस्ट' का अनुवाद 'नरपिशाच' (1901) शीर्षक से, देवकीनंदन खत्री ने 'लैला' का 'प्रवीण प्रथिक' के नाम से तथा गंगा प्रसाद गुप्त ने 'द यंग फिसरमेन' का 'किले की रानी' (1915) तथा 'लव्ज ऑफ हरम' को 'रंगमहल' (1904) शीर्षक से अनूदित किया। कालांतर में रेनाल्ड्स के सभी उपन्यास अनूदित हुए।

रेनाल्ड्स हिंदी समाज में संभवतः इसलिए लोकप्रिय था क्योंकि हिंदी क्षेत्र रहस्य-रोमांच से भरपूर उर्दू की 'दास्तानों' से अतिपरिचित था। खड़ी बोली के आरंभिक सभी उपन्यासकार उर्दू जानते थे और पाठकों में जो उर्दू नहीं जानते थे उनके लिए अनुवाद उपलब्ध था। 1868 ई. में 'हातिमताई' का हिंदी रूपांतर प्रकाशित हुआ और 1870 में रतननाथ सरसार की 'आजाद कथा'। 1874 में 'अलिफ लैला' 'अमीर हमजा की दास्तान' का भी इसी के आस-पास प्रकाशन हुआ। इन सभी

‘दास्तानों’ में रहस्य-रोमांच का वही वातावरण है जिसकी बुनावट ने रेनाल्ड्स को इतनी लोकप्रियता दी थी।

डेफो, बुनियान और रेनाल्ड्स के बाद अंग्रेजी से इस दौर में कुछ और उपन्यासकारों को भी अनूदित किया गया। हेरिष्ट बीयर स्टो की अति प्रसिद्ध रचना ‘अंकल टाम्स केबिन’ को महावीर प्रसाद पोद्दार ने ‘टम काका की कुटिया अर्थात् गुलामी पर कुठार’ शीर्षक से अनूदित किया। यह मूल से अनुवाद न होकर चंडीशरण सेन के बांग्ला अनुवाद पर आधारित है। वाल्टर स्कॉट (1771-1832) का हिंदी में सर्वप्रथम अनुवाद श्री चंद्र लाल ने ‘द एबट’ (1820) का ‘रानी मेरी’ शीर्षक से किया। जोनाथन स्विफ्ट (1667-1745) की प्रख्यात रचना ‘गुलिवर्स ट्रेवल’ (1726) का ‘विचित्र विचरण’ शीर्षक से अनुवाद जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने प्रस्तुत किया। सेमुअल जॉनसन (1709-84) का विख्यात ‘ओरियंटल टेल रेसीलस’ (1759) का अनुवाद केशवराम भट्ट ने किया।

एक नयी साहित्यिक विधा से परिचय होने पर अपनी परंपरा में भी वैसी कृति की तलाश आरंभ हुई। गदाधर सिंह ने वाणभट्ट की संस्कृत कथा ‘कादंबरी’ का बांग्ला से हिंदी अनुवाद किया। इसका ‘हरिश्चंद्र मैगजीन’ में धारावाहिक प्रकाशन हुआ था जिसका प्रथमांश 1873 में छपा। संस्कृत ग्रंथ ‘भोज प्रबंध’ का हिंदी रूपांतर पंडित वंशीधर ने 1877 ई. में अंग्रेजी अनुवाद ‘टेल ऑफ किंग भोज’ के आधार पर प्रस्तुत किया। ‘हर्षचरित’ का हिंदी अनुवाद 1886 ई. में धर्मप्रकाश प्रेस बांकीपुर से प्रकाशित हुआ। 1890 ई. में पूर्वाचार्य की संस्कृत रचना ‘चतुर सखी’ का हिंदी में काशीनाथ शर्मा ने अनुवाद प्रस्तुत किया। ‘हितोपदेश’ का अनुवाद 1895 ई. में नारायण शर्मा ने प्रकाशित किया। ‘कथासरित्सागर’ का अनुवाद 1897 ई. में कालीचरण तथा क्षमापति वाजपेयी ने मिलकर प्रस्तुत किया। ‘पंचतंत्र’ का हिंदी अनुवाद 1898 ई. में वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त संस्कृत की कुछ पौराणिक कथाएं जैसे ‘दुष्यंत शकुंतला’, ‘नल-दमयंती’ ‘सावित्री सत्यवान’ ‘ध्रुव की तपस्या’ आदि भी अनूदित हुईं।

संस्कृत की अधिकांश कथाएं नैतिक आख्यान हैं जबकि पश्चिम में एक विधा के रूप में उपन्यास पर ‘अनैतिकता’ के आरंभ से ही आरोप लगते रहे। हिंदी के आरंभिक उपन्यासकारों ने पश्चिम की इस विधा का ‘रूप’ तो ग्रहण किया लेकिन ‘अंतर्वस्तु’ नवजागरण के अनुरूप नैतिकतावादी एवं उद्देश्यपरक रहीं। पंडित गौरीदत्त का ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ (1870), कल्याण राय का ‘वामा शिक्षक’ (लेखक 1872; प्रकाशन 1883), श्रद्धाराम फिल्लौरी का ‘भाग्यवती’ (लेखन 1877; प्रकाशन 1887), राधाकृष्ण दास का ‘निःसहाय हिंदू’ (लेखन 1882) जैसे हिंदी के आरंभिक उपन्यासों से यही संकेत मिलता है कि पश्चिम में भले ही उपन्यास का उदय व्यक्तिवाद के उदय के साथ ही हुआ हो भारत में उपन्यास का आरंभ नवजागरणकालीन ‘सामाजिकता’ को प्रतिष्ठित करने वाली विधा के रूप में हुआ।

‘द हरमिट’ के अनुवाद से काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली स्थापित :

भारतेंदु और उनके युग के अन्य काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली की उपयुक्तता को लेकर आश्वस्त नहीं थे। ‘भारत-मित्र’ में प्रकाशनार्थ अपनी खड़ी बोली की कविताओं को भेजते हुए भारतेंदु ने संपादक को लिखा, ‘प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी हैं। देखिएगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के आलंबन करने में इसमें काव्य सुंदर बन सकता है।... तीन भिन्न-भिन्न

छंदों में यह अनुभव करने के लिए ही कि किस छंद में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे संतुष्ट न हुआ। और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा का क्रियाओं में दीर्घ मात्रा में विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है।⁵⁷ संस्कृत, उर्दू के छंदों के अलावा हिंदी के कवित्त, सवैया एवं लोकप्रचलित कजरी, मुकरी, लावनी के ढंग को पूरी कुशलता से बरतने के बावजूद भारतेंदु हरिश्चंद्र को खड़ी बोली की दीर्घ मात्रा की क्रियाओं से क्योंकि असुविधा होने लगी, यह अनुमान का विषय है। बहरहाल श्रीधर पाठक ने ऑलिवर गोल्डस्मिथ की काव्य-कृति 'द हरमिट' (एकांतवासी योगी शीर्षक से) को लोकप्रचलित लय 'लावनी' में अनूदित कर काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली की अनुपयुक्तता के सभी आरोपों को निराधार सिद्ध किया।

गोल्डस्मिथ काव्य में भावना, विषण्णता, प्रकृति-प्रेम एवं निष्कपट जीवन की तरजीह देते थे और जाहिर है कि ऐसी कविता की अपील, जैसा कि लुई कजामियां ने लिखा है⁵⁸- 'ऐसे कृषिप्रधान देश में सर्वाधिक होगी जिसने अभी-अभी औद्योगिक समाज की विसंगतियों को महसूस करना आरंभ किया हो।' हिंदी में 'एकांतवासी योगी' की लोकप्रियता अभूतपूर्व थी। एक ओर अयोध्या प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली आंदोलन' में शामिल हुई तो दूसरी ओर युवतियां (जिसमें कुछ बंगालिने भी थीं) इसे अपने तकिए के नीचे रखकर सोती थीं।⁵⁹ इस लोकप्रियता का क्या कारण था? रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है : 'उसकी सीधी सादी खड़ी बोली और जनता के बीच प्रचलित लय ही ध्यान देने योग्य नहीं है, किंतु उसकी कथा की सार्वभौम मार्मिकता भी ध्यान देने योग्य है। किसी के प्रेम में योगी होना और प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी छाकर रहना एक ऐसी भावना है जो समान रूप से सब देशों के और सब श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों के मर्म का स्पर्श स्वभावतः करती आ रही हैं। सीधी सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिए ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बंधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।'⁶⁰

यह कृति लावनी जैसे लोकप्रचलित लय में तो रचा ही गया था साथ ही साथ इसमें अभिव्यंजना के नए ढंग भी विकसित किए गए जो तत्कालीन रूढ़िबद्ध परंपरापोषित अभिव्यंजना-प्रणाली के वातावरण में ताजे झोंकों की तरह था। आचार्य शुक्ल को इसकी पहचान थी। वे लिखते हैं: 'हरिश्चंद्र के सहयोगियों में काव्य-धारा को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढांचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन न हुए। इस प्रकार स्वच्छंदता का आभास पहले पहल पं. श्रीधर पाठक ने ही दिया।'⁶¹

गोल्डस्मिथ की एक अन्य महत्वपूर्ण काव्य-कृति 'ट्रेवलर' (1764) का श्रीधर पाठक ने 'श्रांत पथिक' शीर्षक से रोला छंद में अनुवाद किया। इन्होंने गोल्डस्मिथ की एक अन्य रचना 'क्लाउड मेमोरियल' का भी अनुवाद 1900 ई. में प्रकाशित किया था। गोल्डस्मिथ के अलावा इन्होंने थॉमस ग्रे (1716-71) की काव्य-कृति 'शेफर्ड एंड द फिलॉसफर' का 'गड़रिया और आलिम' शीर्षक से 1884 ई. में; अट्टारहवीं शताब्दी में बहुप्रशंसित थॉमस पार्नेल (1671-1749) की 'हरमिट' का 'योगी' नाम से 1895 ई. में तथा 'लांगफेलो' (1807-82) की काव्य-रचना 'इवेंजलाइन' का 'अंजलैना' शीर्षक से 1886 ई. में अनुवाद किया। 'अंजलैना' संभवतः हिंदी में अनूदित होने वाली

पहली अमरीकी काव्य-कृति है।

शेक्सपियर, काउपर, (1731-1800) बायरन (1788-1824) की कुछ काव्य-पंक्तियों के अनुवाद लाला श्रीनिवास दास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (1882) में मिलते हैं। थामस ग्रे की सर्वाधिक चर्चित रचना 'एन एलिजि रिटन इन अ कंट्री चर्चयार्ड', (1750) का अनुवाद 'ग्रामस्थ शवागार में लिखित 'शोकोक्ति' शीर्षक से 1897 ई. में विद्यारसिक ने प्रस्तुत किया। इसी कृति का एक और अनुवाद कामता प्रसाद गुरु ने 1908 ई. में 'ग्रामीण गीत' के नाम से किया था। रोमेंटिसिज्म का पूर्वाभास प्रस्तुत करने वाली ग्रे की इस बहुचर्चित कृति के अनुवाद से हिंदी में शोक-गीत लिखने की परंपरा का श्रीगणेश हुआ। श्रीधर पाठक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, कमलानंद सिंह एवं बालमुकुंद गुप्त के शोक-गीत ग्रे की प्रणाली पर ही आधारित हैं। कालांतर में थॉमस मैकाले (1800-1859), जॉन मिल्टन (1608-74), अल्फ्रेड टेनीसन (1809-92) की कतिपय रचनाएं भी इस दौर में अनूदित हुईं।

अंग्रेजी के अलावा संस्कृत से जयदेव रचित 'गीतगोविंद' का अनुवाद 1882 ई. में तथा भर्तृहरि की 'त्रिशतकम्' 1893 ई. में अनूदित हुई। बांग्ला से 'कृतिवास रामायण' को 1894 में अनूदित किया गया। आगे चलकर मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964) ने माइकेल मधुसूदन की काव्यकृति 'मेघनाद वध', 'विरहिनी ब्रजांगना' एवं 'वीरांगना' का अनुवाद किया था। इस दौर में नजीर अकबराबादी (1740-1830) की कविताओं के अनुवाद काफी लोकप्रिय हुए। उनकी 'चूहेनामा' 1884 ई. में 'नागलीला' 1889 ई. में तथा 'मजमूआ नजीर' 1892 ई. में अनूदित या लिप्यंतरित हुई।

नवजागरण, निबंध और अनुवाद :

भारत में गद्य का विकास नवजागरण के साथ-साथ हुआ और जिस विधा ने नवजागरण की सारी हलचलों, बेचैनियों को संवादधर्मी बनाया, वह निबंध है। यही वजह है कि नवजागरण के सभी साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों ने इस विधा को सर्वाधिक अपनाया। निबंध-विधा का सर्वाधिक विकास पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ और यह युग पत्र-पत्रिकाओं का था। आचार्य शुक्ल⁶³ ने भारतेंदु के जीवन-काल में सत्ताइस पत्रिकाओं के होने का उल्लेख किया है जिसमें प्रमुख थीं 'कवि वचन सुधा' (सं. भारतेंदु 1968), 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (सं. भारतेंदु 1973), 'बिहार बंधु' (सं. केशवराम भट्ट, 1872), सदादर्श' (सं. लाला श्रीनिवास दास, 1874), 'भारतबंधु' (सं. तोताराम, 1876), 'भारत-मित्र' (सं. रूद्रदत्त 1877), 'हिंदी प्रदीप' (सं. बालकृष्ण भट्ट, 1877), 'आनंद कार्दबिनी' (सं. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' 1881), 'ब्राह्मण' (सं. प्रताप नारायण मिश्र 1883), 'भारतेंदु' (सं. राधाचरण गोस्वामी, 1884)।

संस्कृत साहित्य में यूं तो 'प्रबंध', 'निबंध' जैसी रचनाएं मिलती हैं लेकिन नवजागरण-काल के लेखक 'निबंध' से आशय उस पाश्चात्य साहित्य विधा से ग्रहण करते थे जिसे फ्रांसीसी लेखक मांतेन (1853-92) ने प्रचलित किया था। हिंदी क्षेत्र में चार्ल्स वुड की शिक्षा नीति के तहत पठन-पाठन के लिए पश्चिमी निबंधों (सिसरो से स्टीवेंसन तक) को अनूदित किया गया। कुछ अनुवाद सीधे मूल अंग्रेजी से किए गए और कुछ 'देहली वर्नाकुलर सोसायटी' (1841) के उर्दू अनुवादों के आधार पर किए गए। भारतेंदु युग के लेखक जोसेफ एडीसन (1672-1719), सर रिचर्ड स्टील (1672-1729), विलियम हेक्लिट (1850-1894) के निबंधों से भली-भांति परिचित थे।

हिंदी के आरंभिक कई निबंध ऐसे हैं जो किसी ने किसी अंग्रेजी निबंध के छायानुवाद हैं। मदन मोहन मट्ट ने स्माइल्स के निबंधों के उर्दू अनुवाद पर 'परमपुरुषार्थ' की रचना 1885 में की। काशी नाथ खत्री ने 1887 ई. में जान स्टुअर्ट ब्लैकी का 'सेल्फ कल्चर' का अनुवाद 'नीत्युपदेश' शीर्षक से किया। इन्होंने ही उर्दू से 'गुलदस्ता-ए-तहजीब' का 'नीति पुष्पावली' नाम से हिंदी में 1889 ई. में अनुवाद किया। 1894 ई. में श्यामसुंदर दास ने अंग्रेजी से 'एड्स ऑफ कटेंटमेंट' का छायानुवाद 'संतोष' शीर्षक से प्रस्तुत किया। अंग्रेजी निबंधों के कुछ अनुवाद संपादित संग्रहों में भी देखे जा सकते हैं जिनमें वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा संपादित 'साहित्य संग्रह' (1886), साहिब प्रसाद सिंह का 'भाषा-सार' (32 भाग; 1877) एवं अबिका दत्त व्यास द्वारा संपादित 'साहित्य नवनीत' (1899) उल्लेखनीय हैं।

निबंधों के अनुवादों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'निबंध को रास्ता दिखाने वाले दो अनुवाद ग्रंथ'⁶⁴ हैं : विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूनकर के मराठी निबंधों का 1899 ई. में गंगा प्रसाद अग्निहोत्री द्वारा अनूदित 'निबंधमालादर्श' तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 1900 ई. में अनूदित फ्रांसीस बेकन के निबंधों का संकलन 'बेकन विचार-रत्नावली'। चिपलूनकर और बेकन के निबंधों का प्रकाशन आकस्मिक नहीं हुआ था बल्कि यह महावीर प्रसाद द्विवेदी के चिंतन का प्रतिफलन था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में इन दोनों को हिंदी में लाने का अर्थ बांग्ला नवजागरण के 'भावकुतावाद' की कमियों एवं बुद्धिवाद की सार्थकताओं को पहचानना था। यह बांग्ला निबंधों की उस शैली से भी उबरने का सार्थक प्रयास था, जिसे आचार्य शुक्ल 'प्रलाप शैली'⁶⁵ कहते थे।

व्यावहारिक आलोचना और अनुवाद :

खड़ी बोली में व्यावहारिक आलोचना की शुरुआत 'आनंद कादंबिनी' और 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओं से हुई। पर जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है- 'किसी ग्रंथकार के गुण अथवा दोष ही दिखलाने के लिए कोई पुस्तक भारतेंदु के समय में न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्तक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी कालिदास की आलोचना' थी।⁶⁵ इस पुस्तक में लाला सीताराम द्वारा अनूदित कालिदास की रचनाओं की विवेचना की गयी है। मुख्य रूप से अनुवाद के गुण-दोष दिखाए गए हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी का कहना सही है कि चूंकि 'यह युग संस्कृत के विशेषतः कालिदास के अनुवादों का था इसलिए इस समालोचना में इन अनुवादों की भाषा संबंधों भूलों पर ध्यान अधिक केंद्रित रहा, या फिर कहीं-कहीं उपयुक्त भाव ग्रहण की सराहना की गई।'⁶⁶

यदि आलोचना रचना की अनुवर्ती होती है तो खड़ी बोली की आलोचना के इतिहास को देखते हुए इस भाषा के आदिकाल को अनुवाद काल कहना गलत न होगा। इस युग की पत्र-पत्रिकाएं अनूदित साहित्य की समीक्षाओं से अटी पड़ी हैं।

उपनिवेशवाद, जीवन चरित और अनुवाद :

नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचना के बाद अगर खड़ी बोली के आदिकाल में लेखकों का ध्यान जीवन-चरितों की ओर गया तो यह नवजागरण की भावना के अनुकूल ही कहा जाएगा। आखिर एक घोषित 'कायर' एवं 'असभ्य समाज' इस प्रत्याख्यान अपने चरित-नायकों की वीरता को रेखांकित करके ही तो कर सकता है। उस दौर में किन-किन नायक-नायिकाओं के जीवन-चरित लिखे गए यह एक विज्ञापन से पता चलता है। 'वीर-चरितावली' शीर्षक यह विज्ञापन यूं शुरू होता है: 'मातृभूमि

भारतवर्ष के वीर-वीरांगनाओं के चरित्र पढ़ने की किसी इच्छा नहीं होती? इस पुस्तक में निम्नलिखित वीर-वीरांगनाओं की 14 वीर कहानियां सन्निवेशित की गई हैं-1. रानी दुर्गावती, 2. रानी लक्ष्मीबाई, 3. जवाहर बाई, 4. कर्मदेवी, 5. वीरधात्री पन्ना 6. वीर बालक और वीर नारी, 7. राजकुमार चंड, 8. महाराज पृथ्वीराज, 9. बादलचंद्र, 10. रायमल, 11. सिख वीर रणजीत सिंह 12. हमीर, 13. महाराणा प्रताप सिंह, 14. छत्रपति शिवाजी प्रभृति। पुस्तक में हाफटोन फोटो के सुंदर-सुंदर 5 चित्र भी दिए गए हैं। मूल्य केवल 11 आना।⁶⁷ लेकिन ऐसी वीर-चरितावलियां लोकप्रिय मांग पर लिखी जाती थीं; एक साहित्यिक विधा के रूप में इसकी शुरुआत भारतेंदु ने की।

1871 से 1884 ई. में बीच भारतेंदु ने विक्रमादित्य, कालिदास, रामानुजाचार्य, शंकराचार्य जयदेव, पुष्पदंताचार्य, बल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन तृतीय, जंगबहादुर द्वारिकानाथ मिश्र, राजाराम शास्त्री, लार्ड म्यो, महाराजधिराज जार तथा पंचरत्न के अंतर्गत मुहम्मद, बीबी, फातिमा, अली, इमाम हसन तथा इमाम हुसैन जैसे ऐतिहासिक नायकों के चरित्र लिखे। जीवन चरित्र के अनुवादों का सिलसिला काशी प्रसाद खत्री से आरंभ होता है। एलिजाबेथ स्टर्लिंग की रचना-‘यूरोपियन पतिव्रता’ और ‘धर्मशील स्त्रियों के जीवन चरित्र’ शीर्षक से उन्होंने 1884 ई. में अनुवाद प्रस्तुत किया। फिर राधाकृष्ण दास और हरिऔध ने बांग्ला से ‘आर्यचरितामृत’ एवं ‘चरितावली’ का क्रमशः 1884 ई. एवं 1889 ई. में हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया। सन् 1900 ई. में केशव प्रसाद सिंह ने लाला लाजपत राय की मूल उर्दू में लिखी ‘ग्विसेप मैजिनी का जीवन चरित्र’ को अनूदित किया। इसमें अनुवादक ने चरित्र नायक के विचारों का आलोचनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने बंकिम चंद्र चटर्जी की प्रख्यात ‘कृष्ण चरित्र’ का अनुवाद 1913 में प्रस्तुत किया। बांग्ला से बंकिमचंद्र लाहिड़ी के ‘सम्राट अकबर’ का अनुवाद गुलजारी लाल चतुर्वेदी द्वारा सन् 1919 ई. में तथा : ‘वीरेंद्र बाजीराव’ का अनुवाद वामनाचार्य गिरि द्वारा 1907 ई. में प्रस्तुत हुआ।

निष्कर्षतः खड़ी बोली के आरंभिक वर्षों के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी की हिंदी साहित्यिक ‘बहुप्रणाली’ में अनूदित साहित्य की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं केंद्रीय रही है और इसकी व्याख्या हिंदी नवजागरण के संदर्भ में ही संभव है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां :

1. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, बीसवां पुनर्मुद्रण 1983, पृ. 181
2. शिवदान सिंह चौहान, हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1961, पृ. 36
3. फ्रेंक इ. के, हिंदी साहित्य का इतिहास, अनु. सदानंद शाही, लोकायत, प्रकाशन, गोरखपुर, प्रथम हिंदी संस्करण 1998, पृ. 94
4. रामचंद्र शुक्ल, वही, पृ. 308
5. यतींद्रमोहन ठाकुर की यह नाट्य-कृति भारतचंद्र राय (1712-1760) की अतिप्रसिद्ध बांग्ला काव्य-कृति ‘विद्यासुंदर पर आधारित है जो स्वयं ही संस्कृत रचना ‘चौरपंचाशिका’ का छायाानुवाद है

6. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, छठा संस्करण 1990, पृ. 223
7. वही, पृ. 219
8. लक्ष्मीसागर वाष्णीय के अनुसार मराठी के इस उपन्यास का भारतेंदु के अलावा स्वरूपचंद्र जैन ने भी 'राम और माधव' (1899) नाम से अनुवाद किया था।
देखें विनयमोहन शर्मा (सं.) हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, अष्टम भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1972, पृ. 318 और 320
9. रामचंद्र शुक्ल, वही, पृ. 346
10. वही, पृ. 360
11. Even-Zohar, Itamar, Papers in Historical Poetics, the Porter Institute for Poetics and Semiotics, Tel Aviv University, Tel Aviv, 1978
12. Itamar Even-Zohar, The position of translated literature within the literary polysystem in Gideon Toury (ed.) Translation Across Cultures. Bahrei Publications Pvt. Ltd. New Delhi, First published, 1987, p, 114
13. Ibid, p. 109
14. Ibid, p. 108
15. Ibid, p. 110
16. रामस्वरूप चतुर्वेदी हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1986, पृ. 94
17. Emile Legouis, A History of English Literature, J.M. Dent & Sons Ltd. London, Reprinted 1947, p. 246
18. Sudhir Chandra, The Oppressive Present, Oxford University Press, First paperback edition 1994, p. 34
19. Harish Trivedi, Reading English, Writing Hindi in Swati Joshi (ed.) Rethinking English, Oxford University Press, paperback, 1994, p. 192
20. रामचंद्र शुक्ल, वही, पृ. 308
21. हेमंत शर्मा (सं.) भारतेंदु समग्र, हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्थान, 1989, पृ., 283
22. जी.एन. डेवी के अनुसार जोस ने 'शकुंतला' नाटक इसलिए चुना क्योंकि यह आधुनिक औपनिवेशिकीकरण का आदर्श निरूपण प्रस्तुत करता है। शिकार के दौरान नाटक का नाटक शकुंतला से मिलता है। और गुप्त रूप से उससे विवाह रचना है। दुष्यंत के दरबार में अपनी पहचान प्रमाणित न कर पाने की वजह से शकुंतला किसी भी विमर्श में शामिल नहीं हो सकती; वह अपनी पहचान चिह्न (अंगूठी) उसको अर्थ प्रदान करने वाला सांस्कृतिक संदर्भ (पिता का आश्रम) तथा किसी भी प्रकार के संबंध की संभावना को खो चुकी है। भारत और यूरोप के आरंभिक मुठभेड़ का औपनिवेशिक चरित्र, स्मृति लोप और

विमर्श नाटक के कुछ ऐसे तत्व हैं। जो आधुनिक विश्लेषण के लिए एक दिलचस्प पाठ प्रस्तुत करती हैं।

See, G.N. Devy, *Afrer Amnesia*, Orient Longman, India, Paperback edition 1995, pp., 26-27

23. Would'st thou the young yeens' blossoms and the fruits of its decline,
And all by which the Soul is charmed, enraphired, feasted, fed,
Would'st thou the Earth and Heaven itself in one sole name combine?
I name thee, O Sakuntala! and all at once is said. 'Goethe quoted in
Romila Thapar, *Sakuntala, Texts, Readings Histories*, Kali for Women,
Delhi, first edition, p. 207.
24. Ibid, p. 218
25. Gauri Viswanathan, *Masks of Conquest*, Columbia university Press, New
York, 1989.
26. Romila Thapar, Ibid, p. 33
27. विनय मोहन शर्मा (सं.), वही, पृ. 315
28. Romila Thapar, Ibid, p. 234
29. Kathryn Hansen, 'The birth of Hindi drama in Banaras' in Sandia B.
Freitage (ed.) *Culture and Power in Banaras: community, performance
& environment*, Oxford University Press, Delhi, 1989, p. 83.
30. Edward W. Said, *Orientalism*, Penguin Books,. Reprinted with a new
afterward 1995, p. 79
31. हेमंत शर्मा (सं.) वही पृ. 568
32. Susobhan Sarkar, *Bengal Renaissance and other essays*, PPH, New
Delhi, 2nd Print March 1981, p.6
33. राम विलास शर्मा, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1966,
पृ.-74
34. Itamar Even-Zohar, *The Position of Translated Literature within the Lit-
erary Polysystem*, Ibid, p. 109.
35. हेमंत शर्मा (सं.), वही, पृ. 300
36. देखें, आत्माराम सेठी, 'अनूदित हिंदी साहित्य', इंडियन डॉक्यूमेंटेशन सर्विस, गुड़गांव, प्रथम
संस्करण, 1981, पृ. 1-36
37. राम विलास शर्मा, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण'
38. चंचल चौहान के अनुसार, 'यह आकस्मिक नहीं है कि भारतेंदु ने शेक्सपियर के नाटकों
में से 'मर्चेट ऑफ वेनिस' को ही रूपांतर के लिए चुना। 'दुर्लभ बंधु' के रूप में भारतेंदु
का नाट्य-रूपांतर व्यापारी वर्ग की चिंता पर ही आधारित है। शायद भारत के व्यापारी-वर्ग

दशा से मेल खाती हुई स्थितियों ने ही भारतेंदु को शेक्सपियर के इस नाटक की ओर उन्मुख किया हो।’

शंभुनाथ, अशोक जोशी (सं.) ‘भारतेंदु और भारतीय नवजागरण’, आने वाला कल प्रकाशन, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 1983, पृ. 165

39. हेमंत शर्मा (सं.), वही, पृ. 576
40. Sujit Mukherjee, Towards a Literary History of India, Indian Institute of Advanced Study, Simla, 1975, quoted on p. 52.
41. हेमंत शर्मा (सं.) वही, पृ. 576
42. सुकुमार सेन, बांगला साहित्य का इतिहास, अनु. निर्मला जैन, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण जनवरी 1978, पृ. 184
43. Georges Lukacs, Studies in European Realism, The Merlin Press, London, Reprinted 1978, p. 245.
44. सुकुमार सेन, वही, पृ. 180
45. हजारी प्रसाद द्विवेदी, वही, पृ. 213
46. Ashish Nandi, The Illegitimacy of Nationalism, Oxford India, Paperback, Third impression 1994, p- 17
47. Fredic Jameson, Third World Literature in the Era of Multinational Capital, Social Text, Fall 1986, pp. 65-88
48. Aijaz Ahmed, In Theory, Oxford University Press, First Indian Impression 1994, p. 116
49. निर्मल वर्मा, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1991, पृ. 49-50
50. Sudhir Chandra, Ibid, p. 64
51. Meenakshi Mukherjee, Realism and Reality, Oxford University Press, India Paperback edition 1994, p. 44.
52. रामचंद्र शुक्ल का विचार था : ‘जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।’
53. हजारी प्रसाद द्विवेदी, वही, पृ. 221-22
54. अमृतराय, कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, नवीन संस्करण 1976, पृ. 25
55. See, Mulk Raj Anand, Conversations in Bloomsbury Arnold- Heinemann, New Delhi, First Published, 1981, p. 96
56. Ibid.

57. हेमंत शर्मा (सं.) वही, पृ. 74-75
58. Emile Legouis, Ibid, p. 841
59. "...Several girls (some of them Bengali) being known to have made it their constant companion with which they would not part even at bed time, but would fondly keep it near or under their pillows in order that they might read it the first on rising in the morning. This is no tale but an actual fact- and does it not speak volumes for the poem?"
- Preface to the fifth edition of "एकांतवासी योगी"
60. रामचंद्र शुक्ल, वही, पृ. 408
61. वही, पृ. 410
62. वही, पृ. 310-311
63. वही, पृ. 346
64. वही, पृ. 345
65. वही, पृ. 360
66. रामस्वरूप चतुर्वेदी, वही पृ. 119



दक्षिण भारत में हिंदी : दशा, दिशा एवं संभावनाएं

एस. तंकमणि अम्मा

अखिल भारतीय भाषा के रूप में तथा अखिल भारतीय जनजीवन के स्पंदनों की संवाहिका-भाषा के रूप में हिंदी को प्रतिष्ठापित करने की दिशा में दक्षिणी प्रांतों ने भी अहम् भूमिका निभाई है। दक्षिणी प्रांतों के अंतर्गत आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा केरल ये चार प्रांत आते हैं। तेलंगाना राज्य हाल ही में बना है। विविधता में एकता की सुंदर संकल्पना को संजोनेवाली भारतीय संस्कृति की विलक्षणता के ही कारण शायद होगा, 'आसेतुहिमाचल एक देश एक जनता' की परिकल्पना अतिप्राचीन काल से ही भारत में विद्यमान थी। विष्णुपुराण में कहा गया है-

*“उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं
वर्षं तत् भारभं नाम भारती यत्र संततिः॥”*

अर्थात् समुद्र के उत्तर तथा हिमाद्री के दक्षिण का जो देश है वह भारत है तथा भारतीय उसकी संतति हैं। सुदूर दक्षिणी छोर में स्थिति कन्याकुमारी की चिर कुमारी उस महादेश को पाने के लिए तपस्या कर रही है जो उत्तरी छोर में स्थित हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर समाधिस्थ है। गंगोत्री का जल रामेश्वरम् के शिवलिंग पर चढ़ाए जाने की प्रथा है। उत्तर और दक्षिण को आपस में जोड़नेवाली न जाने कितनी परिकल्पनाएं विद्यमान हैं। केरल के दिग्विजयी आचार्य शंकर ने भारत के चारों कोनों (बदरी, द्वारका, पुरी और शृंगेरी) में चार मठों की स्थापना करके भारत की एकता को सुदृढ़ करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रंथों ने भी भारतीय एकता को परिपुष्ट करने का उल्लेखनीय कार्य किया था। पहले समस्त भारतवर्ष को एक सूत्र में पिराने में संस्कृत भाषा जो भूमिका निभा रही थी, वही भूमिका आज के संदर्भ में हिंदी को निभानी है।

दक्षिण भारत में हिंदी का प्रवेश :

दक्षिणी प्रांतों का इतिहास साक्षी है कि यहां के प्रमुख तीर्थ स्थानों यथा, रामेश्वरम्, मदुरै, कन्याकुमारी, गुरुवायूर, गोकर्ण, तिरुपति, में सदियों पहले ही उत्तर भारत के तीर्थ यात्री और संत आते थे, तीर्थों के पास उनके आवास के लिए 'गोसाई-मठ' बने हुए थे, तथा वहां उनकी संपर्क भाषा हिंदी ही थी। उसी प्रकार दक्षिण के जो तीर्थयात्री काशी, गया, ऋषिकेश, हरिद्वार, बदरीनाथ जैसे तीर्थों में जाते थे, उनका संपर्क अधिकतया वहां के पंडों और गोसाइयों से होता था और वहां भी हिंदी उनकी संपर्क भाषा रहती थी। उस दौरान दक्षिण के लोग उत्तरवालों की दृष्टि में 'मद्रासी' थे तथा मद्रासी

लोग उत्तरवालों को 'गोसाई' पुकारते थे और उनकी भाषा को 'गोसाई भाषा'। यही गोसाई भाषा दक्षिण में प्रविष्ट हुई हिंदी का पूर्व रूप है।

दक्षिणी प्रांतों में हिंदी के प्रचार में व्यापारियों का भी बड़ा हाथ रहा है। आंध्र, तमिलनाडु तथा केरल के बंदरगाहों और व्यापार केंद्रों में मुंबई, गोवा, कोलकत्ता, दिल्ली, अहमदाबाद, सूरत आदि नगरों के व्यापारी आते थे और इनके बीच आदान-प्रदान की भाषा हिंदी थी।

मोहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में राजधानी का परिवर्तन हुआ तो सैकड़ों लोग दक्खिन में आकर बस गए थे। दक्खिन या हैदराबाद से कई परिवार तमिलनाडु और केरल में भी आकर बस गए थे जो 'दक्खिनी हिंदी' का प्रयोग करते थे। स्पष्ट है, इस प्रकार विविध रूपों में हिंदी सदियों पहले से ही दक्षिणी प्रांतों में यत्किंचित् मात्रा में ही सही व्यवहृत थी।

राष्ट्रभाषा प्रचार आंदोलन: दक्षिण में :

दक्षिणी प्रांतों में हिंदी भाषा का व्यापक प्रचार-प्रसार भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ही शुरू हुआ था। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, राष्ट्रीयता की लहरों के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिंदी की जो लहरें उत्तर से दक्षिण आईं दक्षिणी प्रांतों की जनता ने उनका मुक्त मन से स्वागत किया। राष्ट्रव्यापी नवजागरण-आंदोलन ने भारतीय जन मानस में 'एक राष्ट्र के लिए एक राष्ट्रभाषा' की अनिवार्यता की चेतना जगाई। भारतवर्ष की समूची जनता को परस्पर जोड़नेवाली एक भाषा के अभाव में ही भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम पराजय को प्राप्त कर गया था: बड़े-बड़े इतिहासकारों ने भी इस तथ्य से अपनी सहमति प्रकट की है। भारत के अधिकांश लोगों द्वारा बोली और समझी जानेवाली भाषा-हिंदी को स्वतंत्रता प्राप्ति का अमोघ शस्त्र पहचानकर, महात्मा गांधी ने अपने रचनात्मक कार्यों में हिंदी प्रचार को प्रमुख स्थान दिया। कथनी को करनी में ढालने के लिए उन्होंने दक्षिण में हिंदी का प्रचार शुरू करने के लिए अपने अठारह वर्षीय पुत्र देवदास गांधी को सन् 1918 में मद्रास भेजा। यह गांधी जी की दीर्घदर्शिता का परिचायक ही है कि दक्षिण के चारों प्रांतों में हिंदी प्रचार का मुख्य केंद्र स्थापित करने के लिए उन्होंने मद्रास को ही चुना। गांधीजी के हाथों दक्षिण में वस्तुतः एक वटवृक्ष का ही बीजवपन हुआ था, जो आगे चलकर अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर पूरे दक्षिण में हिंदी भाषा और साहित्य के सुफल देने लगा। देवदास गांधी ने दक्षिण के कई राष्ट्रभाषा प्रेमियों को हिंदी सीखने के लिए साहित्य सम्मेलन, प्रयाग भेजा। ये लोग हिंदी सीखकर आए और दक्षिण में हिंदी प्रचार का कार्य आगे बढ़ने लगा। सन् 1922 तक मद्रास के मुख्य केंद्र के अलावा अन्य प्रांतों में भी केंद्र खोलने की जरूरत महसूस हुई और 1922 में आंध्र के नेल्लूर में मोटूरि सत्यनारायण की सहायता से एक शाखा खुली जिसके संचालक थे श्रीराम भरोसे श्रीवास्तव। श्रीअवधनंदन के संचालन में तमिलनाडु की एक शाखा तिरुच्चिरप्पलिल में खुली। सन् 1935 में बैंगलूर में कर्नाटक शाखा का कार्यालय खुला। सन् 1932 में केरल की शाखा खुली जिसके संचालक पं. देवदूत विद्यार्थी थे।

सन् 1918 से 1927 तक हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की देखरेख में मद्रास की सभा का सारा कार्यभार चलता था। सन् 1927 में 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के नाम से यह एक स्वतंत्र संस्था बनी तथा गांधीजी इसके आजीवन अध्यक्ष चुने गए। दक्षिण के चारों प्रांतों की सभाओं की

तपोनिष्ठ एवं सेवानिष्ठ हिंदी प्रचारकों के अथक परिश्रम के परिणाम स्वरूप दक्षिण के शहरों और गांवों में हिंदी का प्रचार तीव्र गति से होने लगा। हिंदी सीखने-सिखाने में महिलाओं ने भी उत्सुकता दिखाई तो हिंदी की लोकप्रियता दक्षिण के चारों प्रांतों में बढ़ती गयी। राजगोपालाचारीजी ने सन् 1928 में तमिल जनता से यह अपील की थी- 'यदि दक्षिण भारतीय क्रियात्मक रूप से पूरे देश के साथ एक सूत्र में बंधकर रहना चाहते हैं और अखिल भारतीय मामलों से तथा तत्संबंधी निर्णयों के प्रभाव से अपने को दूर नहीं रखना चाहते हैं तो उन्हें हिंदी पढ़ना जरूरी है।... भारत की सांस्कृतिक एकता के लिए भी एक सर्वसामान्य भारतीय भाषा को ग्रहण करना पड़ेगा। दक्षिण भारतीयों को पूरे भारत में सरकारी तथा व्यावसायिक नौकरियां पाने के लिए भी हिंदी बोलने, समझने और लिखने का ज्ञान प्राप्त करना जरूरी होगा।' सूमूचे दक्षिण भारत पर राजाजी के कथन का असर पड़ा।

दक्षिण भारत की प्रमुख हिंदी प्रचार-संस्थाएं :

दक्षिण में हिंदी के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा देने में हिंदी प्रचार संस्थाओं का बड़ा योगदान रहा है। तन-मन-धन को राष्ट्र सेवा और हिंदी सेवा के लिए समर्पित हिंदी प्रचारकों के कारण दक्षिण के चारों प्रांतों में हिंदी प्रचार का विस्तार हुआ। सन् 1935 में 'हैदराबाद राज्य हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना हुई। कर्नाटक में कार्यरत हिंदी प्रचार संस्थाओं में 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' (धारवाड), कर्नाटक हिंदी प्रचार समिति (बेंगलूरु), कर्नाटक महिला हिंदी सेवा समिति (चामराजपेट, बेंगलूरु), मैसूर हिंदी प्रचार परिषद, (राजाजी नगर) आदि प्रमुख हैं। केरल में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की दो शाखाएं कार्यरत हैं एक शाखा एरणाकुलम में तथा दूसरी तिरुवनंतपुरम् में। 1934 में के श्रीवासुदेवन पिल्लै ने तिरुवनंतपुरम् में 'तिरुवितांकूर हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना की। 1961 में इसका नाम 'केरल हिंदी प्रचार सभा' कर दिया गया। इनके अलावा 'हिंदी विद्यापीठ' जैसी अन्य दर्जनों हिंदी प्रचार संस्थाएं केरल में कार्यरत हैं।

दक्षिण के स्कूलों और महाविद्यालयों में हिंदी :

आंध्र प्रदेश में 1934 में काकिनाडा, विजयवाड़ा, राजमहेन्द्री, गुंटूर जैसे कुछ शहरों में स्थित स्कूलों में पहले पहल हिंदी की पढ़ाई शुरू हुई। पांचवीं कक्षा से दसवीं कक्षा तक हिंदी का अध्ययन यहां के स्कूलों में अनिवार्य कर दिया गया। 1937 से आंध्र विश्वविद्यालय में बीकॉम आनर्स के पाठ्यक्रम में हिंदी को अनिवार्य विषय बनाया गया। मैसूर सरकार ने वैकल्पिक भाषा के तौर पर स्कूलों में हिंदी पढ़ाने का प्रावधान किया। 1936 से कर्नाटक के स्कूलों में हिंदी अध्यापन की व्यवस्था होने लगी और अन्य विषयों की तरह हिंदी के लिए भी पूर्णकालिक अध्यापकों की नियुक्ति होने लगी। 1938 से विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी हिंदी का प्रवेश हो गया। सन् 1937 में प्रांतों के शासन का अधिकार कांग्रेस को मिला तो मद्रास के मुख्यमंत्री राजगोपालाचारीजी ने मद्रास में हिंदी की पढ़ाई की शुरुआत कर दी। एकसाथ 125 स्कूलों में उन्होंने हिंदी को अनिवार्य विषय बना दिया। हिंदी प्रचारक स्कूलों के अध्यापक नियुक्त किए गए तो प्रचारकों में नया जोश जगा। सभा की परीक्षाओं में बैठनेवाले छात्रों की संख्या एक लाख के करीब हो गई।

केरल उन दिनों तीन भागों में विभक्त था- तिरुवितांकूर रियासत, कोचीन रियासत तथा मलबार। मलबार मद्रास प्रेसीडेंसी के अधीन था। भाषावार प्रांतों के गठन होने पर 1956 में इन तीनों

को मिलाकर केरल राज्य बनाया गया। सन् 1922 में मद्रास स्थित हिंदी प्रचार सभा ने सर्वप्रथम एक मलयालम भाषी युवक-दामोदरन उण्णी- को केरल में हिंदी प्रचार के लिए भेजा। सेवानिष्ठ हिंदी प्रचारक उण्णीजी के अथक प्रयत्न से केरल के कोने-कोने में हिंदी का प्रचार जोरों से होने लगा। हिंदी के साथ खादी का भी खूब प्रचार हुआ। इस दौरान केरल में गांधी, हिंदी, खादी तीनों राष्ट्रीयता के ही प्रतीक बने हुए थे। 1922 से 1932 तक केरल में हिंदी शिक्षण का कार्य हिंदी प्रचार सभाएं ही करती थीं। इसके बाद केरल के स्कूलों में नियमित रूप से हिंदी पढ़ाने का कार्यक्रम शुरू हुआ। 1928 से कोचिन के स्कूलों में, 1935 से तिरुवितांकूर के स्कूलों में तथा 1936 से मलबार के स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई शुरू हुई। मई 1929 में महामना मदन मोहन मालवीयजी केरल आए और यहां के हिंदी प्रचार की प्रगति देखकर उन्होंने अपनी राय यों प्रकट की- 'मलयालियों की मधुर भाषा मलयालम में संस्कृत शब्दों की भरमार है, अतएव वे आसानी से हिंदी सीख सकते हैं।' 1938-39 से केरल में विश्वविद्यालयी स्तर पर भी हिंदी का पठन-पाठन शुरू हुआ।

पत्रकारिता तथा अन्य संचार माध्यम :

हिंदी भाषा के प्रचार और हिंदी शिक्षण में आवश्यक सहायता पहुंचाने के उद्देश्य से दक्षिण भारत में हिंदी पत्रकारिता का श्रीगणेश हुआ था। सन् 1922 में प्रकाशित मासिक पत्रिका 'हिंदी प्रचारक' ही दक्षिण की प्रथम हिंदी पत्रिका है। यह पत्रिका अंग्रेजी और हिंदी में छपती थी। अंग्रेजी खंड में अंग्रेजी के माध्यम से हिंदी का समर्थन किया जाता था और शिक्षित लोगों को हिंदी के प्रति आकर्षित किया जाता था। 1938 में 'हिंदी प्रचारक' पत्रिका का प्रकाशन बंद किया गया और उसके स्थान पर दो पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हो गया- 'हिंदी प्रचार समाचार' तथा 'दक्षिण भारत'। एक साहित्यिक पत्रिका के रूप में 'दक्षिण भारत' ने दक्षिणी प्रांतों के लेखकों की मौलिक एवं अनूदित रचनाओं को प्रकाशित कर दक्षिण भारत को हिंदी से जोड़ने का सराहनीय प्रयास किया है। सन् 1941 में केरल की प्रथम हिंदी पत्रिका 'हिंदी मित्र' का प्रकाशन शुरू हुआ। त्रिशूर से प्रकाशित इस पत्रिका के संपादक श्री जी. नीलकंठन नायर थे। केवल एक साल तक ही यह पत्रिका चली थी।

दक्षिणी प्रांतों में हिंदी में साहित्य-सृजन का प्रारंभ :

यह सुखद आश्चर्य की ही बात है कि स्वतंत्रता आंदोलन तथा राष्ट्रभाषा प्रचार आंदोलन के पहले से ही दक्षिणी प्रांतों में हिंदी भाषा में साहित्य सृजन का आरंभ हो चुका था। 'आंध्र भोज' के नाम से प्रसिद्ध भोंसलवंशी शाहजी महाराज (सन् 1684-1712) ने हिंदी में 'यक्षगान' नामक कृति की रचना की थी। पंडित पुरोषत्तमजी के अनेक हिंदी नाटक उपलब्ध होते हैं जिनकी रचना स्वतंत्रता आंदोलन के पूर्व काल में ही हुई थी। इस दौरान कर्नाटक और आंध्र में विरचित कतिपय कृतियों का उल्लेख भी मिलता है। अठारहवीं शती के प्रसिद्ध केरलीय कवि कुंचन नंपियार ने अपने प्रख्यात 'तुल्लल' काव्य 'स्यमंतक' के अंतिम भाग में श्रीकृष्ण और सत्यभामा की शादी के उपरांत संपन्न प्रीतिभोज के प्रसंग में गोसाइयों के वार्तालाप का यों वर्णन किया है:

'जय जय राम राम, सीता राम राम!

जय जय राम राज, कोदण्ड राम राम!

तुम्हार मुलुक कौन मुलुक?

हमार मुलुक काशी मुलुक।

यद्यपि काव्य सौष्ठव की दृष्टि से इन पंक्तियों का विशेष महत्व नहीं है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व अवश्य है। किसी भी मलयालम भाषी साहित्यकार द्वारा रचित उपलब्ध सर्वप्रथम हिंदी पंक्तियां कुंचन नंपियार की ही हैं। यद्यपि ये मलयालम लिपि में लिखी गई हैं। तिरुवितांकूर रियासत के महाराजा स्वाति तिरुनाल् (स्वाति नक्षत्र में जन्म) रामवर्मा (1813-1849) ने हिंदी में करीब चालीस गीत रचे हैं। ये गीतकार वस्तुतः चालीस गीत रचे हैं। ये गीतकार वस्तुतः जयदेव, विद्यापति, सूर, मीरा आदि की परंपरा में आनेवाले हैं। उनके सभी गीतों के अंतिम चरण में 'श्रीपद्मनाभ' अथवा कोई पर्यायवाची शब्द जुड़ा हुआ है जो अपने कुलदेवता श्री पद्मनाभ के प्रति गीतकार की अटल भक्ति का परिचायक है। केरल विश्वविद्यालय के कार्यवट्टम् परिसर में स्थित प्राच्य विद्यामंदिर तथा हस्तलिखित ग्रंथालय में दो शती पूर्व विरचित तीन ताड़पत्रीय हिंदी ग्रंथ 'हिंदी पाठमाला' शीर्षक से उपलब्ध हैं। इसमें एक ताड़पत्रीय ग्रंथ मलयालम भाषियों को हिंदी सिखाने के उद्देश्य से विरचित है जो मलयालम की पुरानी लिपि में है।

दक्षिण में राष्ट्रभाषा प्रचार आंदोलन के दौरान पाठ्य पुस्तकों के रूप में भी कतिपय रचनाएं प्रकाश में आयीं। दक्षिण भारत के चारों प्रांतों के लेखकों की कविता, निबंध आदि 'हिंदी प्रचारक' पत्रिका में भी प्रकाशित हुए हैं।

दक्षिण में हिंदी की विकास-यात्रा : स्वातंत्र्योत्तर काल :

स्वातंत्र्योत्तर काल में दक्षिणी प्रांतों में हिंदी का अभूतपूर्व और बहुआयामी विकास हुआ। इस दौरान दक्षिण के चारों प्रांतों के विश्वविद्यालयों में हिंदी में स्नातकोत्तर उपाधि तथा शोधोपाधि के पाठ्यक्रम शुरू हुए। तब तक दक्षिण के स्नातक बनारस, अलीगढ़, सागर, लखनऊ, आगरा जैसे विश्वविद्यालयों में जाकर ही स्नातकोत्तर उपाधि तथा शोधोपाधि प्राप्त करते थे। हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय में 1949 में हिंदी विभाग शुरू हुआ तथा 1953 से हिंदी में शोध का कार्यक्रम भी चालू हुआ। 1956 में आंध्र विश्वविद्यालय, विशाखापट्टनम् में तथा 1959 में श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय तिरुपति में स्नातकोत्तर एवं अनुसंधान विभाग तिरुपति में स्नातकोत्तर एवं अनुसंधान विभाग खुले। वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रथम अध्यक्ष विजयपाल सिंह थे।

1978 में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के हैदराबाद केंद्र में भी हिंदी उच्च शिक्षा और शोध संस्थान की स्थापना हुई। केंद्रीय विश्वविद्यालय हैदराबाद में भी स्नातकोत्तर तथा शोध के पाठ्यक्रम चलते हैं।

1950 के अंतर काल में कर्नाटक में भी विविध विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर उपाधि तथा शोध के पाठ्यक्रम शुरू हुए। 1959 से मैसूर विश्वविद्यालय में, 1960 से कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड में तथा 1971 से बैंगलूर विश्वविद्यालय के हिंदी विभागों में स्नातकोत्तर तथा अनुसंधान के पाठ्यक्रमों की शुरुआत हुई। तदनंतर अन्य अनेक विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान की सुविधाएं शुरू की गईं।

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, (मद्रास) ऐसी संस्था है जिसने न केवल हिंदी प्रचार के क्षेत्र में काम किया है उच्च शिक्षा तथा शोध के क्षेत्र में भी उसकी महती भूमिका रही है। वस्तुतः दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा का इतिहास तमिलनाडु हिंदी प्रचार-प्रसार का इतिहास है। सन् 1964 में यह सभा 'राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था' घोषित की गई है। तमिलनाडु के विश्वविद्यालयों में मद्रास विश्वविद्यालय, अण्णामलै विश्वविद्यालय, अविनाशिलिंगम विश्वविद्यालय, एम. एस. यूनिवर्सिटी आदि में हिंदी में उच्च शिक्षा का प्रावधान है। कहीं-कहीं केवल 'अनुवाद' पर ही पाठ्यक्रम चलता है और छात्रों की संख्या फिलहाल कम है।

हिंदी में उच्च शिक्षा और शोध की दिशा में केरल बहुत ही आगे है। सन् 1957 से केरल विश्वविद्यालय के महाविद्यालयों में एम.ए. पाठ्यक्रम शुरू हुआ। संप्रति केरल विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में तथा चार महाविद्यालयों में हिंदी में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम तथा अनुसंधान कार्य चालू है। कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में भी एम.ए., एम.फिल, पी.एच.डी. पाठ्यक्रम चलते हैं। इनके अलावा महात्मा गांधी विश्वविद्यालय, कोट्टयम कालिकट विश्वविद्यालय, कण्णूर विश्वविद्यालय, तथा श्रीशंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय कालटी एवं उसके अन्य प्रादेशिक केंद्रों में भी हिंदी उच्च शिक्षा के विविध कार्यक्रम चलते हैं। केरल केंद्रीय विश्वविद्यालय, कासरागोड में भी 'तुलनात्मक साहित्य-हिंदी' में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू हो गया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के दूर शिक्षण संस्थानों की ओर से भी सैकड़ों विद्यार्थी हिंदी एम.ए. परीक्षा में बैठते हैं।

रोजगारोन्मुख हिंदी पाठ्यक्रम :

संविधान के अनुच्छेद 343 (1) के अनुसार देवनागरी में लिखित हिंदी संघ की राजभाषा बनी तो राजभाषा नीति के कार्यान्वयन में आश्यक मदद पहुंचाने के लिए प्रयोजनमूलक हिंदी को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान दिया गया। दक्षिण के विश्वविद्यालयों ने स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के परंपरागत पाठ्यक्रमों को भी प्रश्रय दिया। केरल विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में 1968 से 'अनुवाद और प्रशासनिक पत्र व्यवहार' में प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम शुरू हुआ। 1971 में कोचीन विश्वविद्यालय तथा कालिकट विश्वविद्यालय ने भी यह पाठ्यक्रम चलाया। रोजी-रोटी के आकर्षण में कई छात्र इन पाठ्यक्रमों में भर्ती हुए तथा रोजगार प्राप्त करने में वे सफल भी हुए। अब भी ये पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में चालू हैं।

दक्षिणी प्रांतों में हिंदी में साहित्य सृजन :

हिंदी में उच्च शिक्षा प्राप्त दक्षिणी प्रांतों के लेखकों ने हिंदी को भी अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया तो हिंदी साहित्य की विविध विधाओं में सृजन कार्य तेज गति से होने लगा। पहले विविध पत्र-पत्रिकाओं में दक्षिण के हिंदी लेखकों की कविता, कहानी, निबंध आदि प्रकाशित होकर आते थे। सन् साठ के बाद पुस्तक रूप में कई रचनाएं प्रकाश में आईं। इस दौरान हिंदी की विविध विधाओं में अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का प्रसार करनेवालों में आलूर वैरागी, सुब्बाराव, पांडुरंग राव, सूर्यनारायण मूर्ति, आदेश्वर राव, सरगु कृष्णमूर्ति, रमेश चौधरी 'अरिगपूडि', बालशौरि रेड्डी, डॉ. भीमसेन निर्मल, सुब्रमण्य विष्णुप्रिया, पी. के. बालसुब्रह्मण्य, डॉ. सुंदरम्,

शौरिराजन, डॉ. शेषन, पं. नारायण देव, पी. नारायण, डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर, डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, डॉ. गोविन्द शेनाय आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कहानी तथा उपन्यास लेखकों में अरिगपूडी और बालशौरि रेड्डी को विशेष ख्याति मिली है। नाटक-रचयिताओं में डॉ. एन. चंद्रशेखरन नायर खूब ख्यात हैं तो ललित निबंध लेखन में डॉ. एल.ई. विश्वनाथ अय्यर बहुचर्चित हैं। सन उन्नीस सौ सत्तर के बाद आलोचना के क्षेत्र में कई लेखक सक्रिय हुए। उनकी सैकड़ों किताबें प्रकाशित भी हैं। चारों दक्षिणी प्रांतों में इतनी विपुल मात्रा में साहित्य की विविध विधाओं में रचनाएं प्रकाशित हुई हैं कि एक लेख में उनका नामोल्लेख तक असंभव प्रतीत होता है।

अनुवाद :

अनुवाद द्वारा साहित्यिक आदान-प्रदान का सराहनीय कार्य भी दक्षिण में खूब चलता है। हिंदी से दक्षिणी भाषाओं में तथा दक्षिण की भाषाओं से हिंदी में कई उत्कृष्ट कृतियों का अनुवाद करके हिंदी तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं के समन्वय की दिशा में दक्षिणी लेखकों ने विशेष योगदान दिया है। उनके प्रयास से कबीर, सूर, तुलसी जैसे कवि, प्रेमचंद यशपाल जैसे कथाकार दक्षिण में सुपरिचित हो चुके हैं तो दक्षिण के प्रमुख साहित्यकारों का परिचय हिंदी जगत को देने का कार्य भी दक्षिण के अनुवादकों के द्वारा संपन्न हुआ है।

तुलनात्मक अध्ययन तथा तुलनात्मक शोध :

तुलनात्मक अध्ययन तथा तुलनात्मक शोध कार्य दक्षिण के हिंदी लेखकों का प्रिय विषय रहा है। इन तुलनात्मक अध्ययनों के द्वारा हिंदी तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं के भाषाई तथा साहित्यिक संबंधों को सुदृढ़ साबित करने के कई प्रयास हुए हैं। मैक्समूलर ने कहा है- 'all higher knowledge is gained by comparison and rests on comparison.' यानी सारे उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति तुलना से होती है और शेष तुलना पर आधारित है। इस कथन को सार्थक करते हुए तुलनात्मक अध्ययनों ने ज्ञान के क्षेत्र को असीम बना दिया है। दक्षिण में स्वतंत्र रूप में तथा विश्वविद्यालयों के एम.फिल. लघु शोध प्रबंध तथा पी-एच.डी. शोध प्रबंधों के रूप में तुलनात्मक अध्ययन के विविध आयाम खुले हैं। हिंदी और दक्षिण भारतीय भाषाओं में विशेषकर तेलुगू, कन्नड़, मलयालम के बीच तुलनात्मक अध्ययन का कार्य प्रभूत मात्रा में हुआ है और हो रहा है। भक्ति साहित्य, स्वतंत्रता आंदोलन, नवजागरण, स्वच्छंदतावाद, प्रगतिवाद, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श, आदिवासी-विमर्श, सूचना-प्रौद्योगिकी आदि ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर तुलनात्मक अध्ययन का ज्यादा काम हुआ है और हो भी रहा है। केरल के श्री भास्करन नायर ने 'हिंदी और मलयालम के मुख्य कृष्ण भक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कार्य करके सन् 1956 में लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि पाई। हिंदी में शोधोपाधि प्राप्त सर्वप्रथम दक्षिण भारतीय होने का श्रेय उनको प्राप्त है। इसके अनंतर दक्षिण के विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में हिंदी तथा तेलुगू, तमिल, कन्नड़, मलयालम जैसी द्रविड़ परिवार की भाषाओं के बीच के कई भाषाई और साहित्यिक तुलनात्मक शोधकार्य संपन्न हुए। कतिपय शोध कार्यों के शीर्षक उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं-

- तेलुगू और हिंदी के संज्ञा शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन।

- हिंदी और कन्नड़ की समान शब्दावली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन ।
- आधुनिक हिंदी तथा तमिल की समान शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन ।
- हिंदी तथा मलयालम की समान शब्दावली : एक भाषाशास्त्रीय अध्ययन ।
- हिंदी और तेलुगू वैष्णव भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन ।
- सूर और पोतन्ना की भक्ति भावना का तुलनात्मक अध्ययन ।
- हिंदी और कन्नड़ में कृष्ण भक्ति आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन ।
- हिंदी और तमिल के भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन ।
- हिंदी और मलयालम में कृष्ण भक्ति साहित्य ।
- आधुनिक हिंदी और मलयालम काव्य की मुख्य प्रवृत्तियां ।
- हिंदी और मलयालम के समस्या नाटक ।
- अज्ञेय और अय्यप्पन पणिकर की कविता आदि ।

इन तुलनात्मक अध्ययनों ने हिंदी और दक्षिण भारतीय भाषाओं के बीच भाषाई एवं साहित्यिक अंतर्संबंधों की परतों को खोलने का सार्थक प्रयास किया है किंतु खेद की बात है कि इनमें अधिकांश शोध प्रबंध अप्रकाशित हैं ।

पत्र-पत्रिकाएं, फिल्म तथा अन्य संचार माध्यम :

दक्षिण के चारों प्रांतों में हिंदी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार में स्वातंत्र्य पूर्व काल से ही पत्र-पत्रिकाएं बड़ी भूमिका निभा रही थीं । बीसवीं शती के तीसरे-चौथे दशक से आकाशवाणी ने दक्षिणी प्रांतों में हिंदी के कार्यक्रम शुरू किए । आकाशवाणी से प्रसारित 'हिंदी-पाठ' सुनने के लिए बड़ी संख्या में हिंदी प्रेमी और विद्यार्थीगण इकट्ठे होते थे और हिंदी सीख लेते थे । हिंदी फिल्मों और फिल्मी गीतों ने भी दक्षिण भारत के जन-मानस को खूब मोह लिया था । स्वातंत्र्योत्तर काल में संचार माध्यमों ने क्रांति ही मचाई और दूरदर्शन से संप्रेषित रामायण, महाभारत आदि पर बने धारावाहिकों का पूरे दक्षिण में हार्दिक स्वागत हुआ था । वर्तमान दौर में भी विविध चैनलों द्वारा संप्रेषित हिंदी कार्यक्रमों के दर्शक दक्षिण भारत में काफी मात्रा में मौजूद हैं ।

दक्षिण के तमिलनाडु, केरल तथा कर्नाटक से कोई दैनिक पत्र हिंदी में प्रकाशित नहीं होता है । केवल हैदराबाद से एक दैनिक पत्र निकलता है- 'डेली हिंदी 'मिलाप' । वर्ष 1948 में एक और हिंदी दैनिक 'स्वतंत्रवार्ता' शुरू हुआ है । मासिक, त्रैमासिक तथा त्रैमासिक पत्रिकाएं चारों प्रांतों से प्रकाशित होती हैं । केरल से नियमित रूप से प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाएं हैं, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की केरल शाखा की मासिक पत्रिका 'केरल भारती', केरल हिंदी प्रचार सभा की मासिक पत्रिका 'केरल ज्योति', हिंदी विद्यापीठ, तिरुवनंतपुरम की मासिक पत्रिका 'संग्रथन', तथा केरल हिंदी साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'केरल हिंदी साहित्य अकादमी शोध-पत्रिका, इनमें आर्थिक कठिनाई के कारण 'संग्रथन' का प्रकाशन मार्च 2015 अंक के साथ बंद हो गया है । कोचीन विश्वविद्यालय से 'अनुशीलन' तथा केरल विश्वविद्यालय से 'शोध दर्पण' जैसी अनियतकालीन शोध पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं ।

दक्षिण प्रांतों में राजभाषा हिंदी का कार्यान्वयन :

दक्षिण के चारों प्रांतों में केंद्र सरकार के कार्यालयों, निगमों, उपक्रमों, राष्ट्रीयकृत बैंकों आदि में राजभाषा का कार्यान्वयन सुचारू रूप से चलता है। यही कारण है कि संसदीय निरीक्षण समितियों की ओर से यहां के कार्यकलापों की भूरि-भूरि प्रशंसा होती है तथा यहां के कार्यालय राष्ट्रीय स्तर के सम्मान व पुरस्कार के अधिकारी होते हैं। इनमें से कतिपय कार्यालयों की ओर से हिंदी में गृह पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं। 'हिंदी दिवस', 'विश्व हिंदी दिवस' आदि मनाने के साथ हिंदी में अखिल भारतीय स्तर के सम्मेलन-समारोह भी यहां आयोजित होते हैं।

भविष्य की दिशाएं :

दक्षिण भारत के चारों प्रांतों में हिंदी के अतीत और वर्तमान का यह दिग्दर्शन इस बात का खुलासा करता है कि दक्षिण में अतीत ने हिंदी के लिए उचित पृष्ठभूमि तैयार की थी तथा वर्तमान दौर में प्रचार-प्रसार, शिक्षा, उच्च शिक्षा, शोध, पत्रकारिता आदि विविध आयामों में हिंदी ने बड़ी प्रगति हासिल की है। राजनीतिक कारणों से तमिलनाडु में शिक्षा उच्च शिक्षा आदि क्षेत्रों में यद्यपि हास दृष्टिगत होता है तो भी वहां दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की परीक्षाओं में तथा केंद्रीय हिंदी निदेशालय से संचालित पाठ्यक्रमों में हजारों की तादाद में छात्र हिस्सा लेते हैं। दक्षिण के चारों प्रांतों में मौलिक लेखन, अनुवाद तुलनात्मक अध्ययन आदि के द्वारा हिंदी साहित्य को संपुष्ट करने का काम खूब हो रहा है। हिंदी में भारतीय सामासिक संस्कृति की सच्ची अभिव्यक्ति तभी होगी जब उसमें भारत के अन्यान्य प्रांतों में लिखित साहित्य भी आदरपूर्वक समाहित होगा जिसमें क्षेत्रीय संस्कृतियों की महक बरकरार रहती है।

दक्षिणी प्रांतों में हिंदी की स्थिति को और बेहतर बनाने हित कतिपय दिशा-निर्देश यहां प्रस्तुत हैं -

1. दक्षिणी प्रांतों में पहली कक्षा से ही हिंदी को एक विषय के रूप में पढ़ाने का प्रावधान हो।
2. दक्षिण में 'बोलचाल की हिंदी' को बढ़ावा देने का प्रयास हो।
3. नए-नए रोजगारोन्मुखी पाठ्यक्रम हिंदी माध्यम से शुरू करने का प्रयास हो। यथा- विज्ञापन और हिंदी, पर्यटन क्षेत्र में हिंदी, सूचना-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र और हिंदी, संचार-माध्यम और हिंदी आदि।
4. अनुवाद और तुलनात्मक अध्ययन को बढ़ावा देने लायक बृहद् योजनाएं बनाएं।
5. हिंदी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन हो।
6. उत्तर और दक्षिण के विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों के बीच पारस्परिक अकादमिक संबंध स्थापित हो जाए।

संदर्भ :

1. केरल के हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास : डॉ. एन. चंद्रशेखरन नायर, केरल हिंदी साहित्य अकादमी, 1989 व 2012
2. केरल में हिंदी भाषा और साहित्य का विकास : डॉ. एन.ई. विश्वनाथ अय्यर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996

3. दक्षिण में हिंदी प्रचार आंदोलन का इतिहास : एन.वेंकटेश्वरन, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास, 1990
4. दक्षिण भारत के हिंदी प्रसार आंदोलन का समीक्षात्मक इतिहास : पी.के. केशवन नायर, हिंदी साहित्य भंडार, 1963
5. राष्ट्रभाषा प्रचार का इतिहास (सं.) गंगाशरण सिंह, अखिल भारतीय हिंदी संस्था संघ, नई दिल्ली, 1982
6. हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास (सं.) डॉ. नगेंद्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि. सं. 2036



हिंदी-मराठी अंतर्संबंध

दामोदर खड़से

हिंदी-मराठी के अंतर्संबंध और ऐतिहासिक संदर्भ तथा समकालीन परिप्रेक्ष्य बहुत व्यापक है। दोनों आर्य-परिवार की भाषाएं हैं। दोनों भाषाओं की लिपि देवनागरी है। व्याकरण कुछ अपवादों को छोड़कर एक ही है। वाक्य संरचना लगभग समान है। मराठी साहित्य और संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। आज के स्वतंत्र भारत के प्रदेश रूप में महाराष्ट्र राज्य की स्थापना 1 मई 1960 को हुई। मराठी का प्रदेश या जिसे महाराष्ट्र कहा जाता है, उसमें कोंकण, विदर्भ, मराठवाड़ा, खानदेश, दक्षिण महाराष्ट्र और पश्चिम महाराष्ट्र का समावेश होता है।

‘मरहट्ट’ मराठी का प्राचीन नाम है। मराठी में दसवीं सदी से साहित्य का उल्लेख मिलता है। ‘लीलाचरित्र’, ‘ज्ञानदेवी’ और ‘विवेकसिंधु’ प्रारंभिक ग्रंथ माने जाते हैं। महाराष्ट्र में तेरहवीं सदी से महानुभाव, वारकरी संप्रदाय मुख्य रूप से रहे, जो नाथ-संप्रदाय से आए। दत्त और समर्थ संप्रदाय भी रहे। साथ ही, शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, चैतन्य, आनंद, नागेश, बटेश्वर, पंथों का भी मराठी साहित्य पर प्रभाव रहा। तेरहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक नाथ संप्रदाय का प्रभाव देखा जा सकता है। मराठी को ‘धर्म-भाषा’ मानने वाले महानुभाव का, मराठी साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्व है। इस पंथ के संस्थापक श्री चक्रधर का जीवन-चरित्र अभिव्यक्त करने वाला ‘लीलाचरित्र’ (इ.स. 1278) मराठी का पहला ग्रंथ माना जाता है। यह यादवकालीन समाज को चित्रित करने वाला और मराठी भाषा का यथार्थ रूप व्यक्त करने वाला ग्रंथ है। म्हाइंभट इसके लेखक थे। इसके बारह वर्ष बाद, 1290 में, नेवास में ज्ञानदेव ने गीता के भाष्य के रूप में ‘ज्ञानेश्वरी’ की रचना की। 1296 में ज्ञानदेव समाधिस्थ हुए तब नामदेव 26 वर्ष के थे। संत नामदेव का साहित्य केवल मराठी तक सीमित न होकर वे अपनी यात्राओं में आनेवाले प्रदेशों की भाषाओं को अपनाते हुए रचनाएं रचते रहे। हिंदी प्रदेशों से गुजरते हुए उन्होंने पंजाब तक की यात्रा की। हिंदी में भी उनकी रचनाएं हैं। पंजाबी में भी इतनी महत्वपूर्ण रचनाएं उन्होंने कीं कि गुरुग्रंथ साहिब में उनका समावेश हुआ। नामदेव के वंशज सदानंद मोरे वर्ष 2015 में मराठी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने और इस सम्मेलन का आयोजन पंजाब के घुमान में हुआ जहां नामदेव जीवन पर्यंत रहे। यह कहा जा सकता है कि नामदेव ने मराठी से होते हुए भारतीय भाषाओं में अपनी सृजनशील अभिव्यक्ति की शुरुआत

की। 1350 में नामदेव समाधिस्थ हुए।

बाद में, 1532 में एकनाथ का जन्म हुआ। उस समय बहुजन की भाषा मराठी, विद्वानों की भाषा संस्कृत और राजभाषा फारसी थी। एकनाथ और दासोपंत ने मराठी में कविताएं रचीं। बाद में वामन पंडित (1607-1695) तुकाराम (1608-1650) रामदास (1608-1682) रघुनाथ पंडित (1660-1721) मोरोपंत (1729-1794) आदि रचनाकारों ने मराठी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

गद्यात्मक लेखन का प्रारंभ 15वीं सदी में 'बखर' से हुआ। 'बखर' यानी विशिष्ट विषय का गद्य में वर्णन। जीवनी, स्थितियों का वर्णन, खानदान का वर्णन, संप्रदाय की स्थिति आदि। ऐतिहासिक, पौराणिक, जीवनीपरक साहित्य का स्वरूप गद्यात्मक ही रहा। 1818 में, पेशवाओं की बखर, 1821 में, 'श्रीमद्भागवत बखर' और 1824 में, 'नलोपाख्यान' बखर उपलब्ध है। शिवाजी के कालखंड में मराठी साहित्य का विकास बहुत तेजी से हुआ। लगभग इसी कालखंड में हिंदी और मराठी का अंतर्संबंध बहुत गहराई तक सुदृढ़ हुआ। कवि भूषण जो स्वयं हिंदी-भाषी थे, उन्होंने शिवाजी को अपने शब्दों में कुछ इस तरह पिरोया कि शिवाजी की मराठी की सारी सीमाओं को पार करते हुए चारों ओर उनकी ख्याति फैलने लगी। अकेले शिवाजी पर नौ 'बखर' लिखे गए।

शिवाजी के काल में रामदास महत्वपूर्ण कवि हुए। उन्होंने सांप्रदायिक सद्भावना के लिए कई रचनाएं कीं जिनमें एक है-

*‘अल्ला निरंजन दोउ नाही रे
समजन-समजन हारो
भाई काहे कू लड़ते
लड़ते सो पड़ते आई।’*

रामदास ने दखिनी हिंदी में लगभग 66 रचनाएं लिखीं। तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई ने हिंदी में भी रचनाएं कीं। शिवाजी के दरबार में भूषण के अलावा कई हिंदी कवि थे, जिनमें, गोविंद, मंगेश, दत्तकवि, सोनकवि, कविराज, सुखदेव, अज्ञातदास, पालाकवि, गणेशकवि, गौतम आदि प्रमुख थे। प्रख्यात कवि मतिराम भी थे। शाहू महाराज के दरबार में निरंजन माधव, काकुरसी जैसे कवि थे। उधर नागपुर के राजा राधोजी भोसले के दरबार में हिंदी कवि हरदेव और लोकमणि मिश्र थे। इस तरह मराठी भाषी कवियों द्वारा हिंदी में तो रचनाएं होती रहीं, साथ ही हिंदी मराठी का यह ऐतिहासिक अंतर्संबंध बाद में, समकालीन परिप्रेक्ष्य में भी सहजता से देखा जा सकता है।

1815 में स्थापित नेटिव स्कूल बुक एंड स्कूल सोसाइटी ने मुद्रण के लिए देवनागरी लिपि स्वीकार करने का निर्णय लिया। 18 जून 1857 को मुंबई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। 1864 से विश्वविद्यालय से पर्याप्त ग्रंथों के अभाव में प्रादेशिक भाषा हटा दी गई। 1901 से महादेव गोविंद रानाडे के प्रयासों से एम.ए. में प्रादेशिक भाषा आई और 1920 में बी.ए. में भी मराठी आई। उधर हिंदी भाषी क्षेत्र में मराठी भाषी लेखक माधवराव सप्रे ने हिंदी की पहली कहानी का सृजन किया- 1901 में, जिसका शीर्षक था- 'एक टोकरीभर मिट्टी'। यह कहानी बिलासपुर के 'छत्तीसगढ़ मित्र' में प्रकाशित हुई। माधवराव सप्रे ने तिलक के 'गीता रहस्य' रामदास के 'दास बोध' का हिंदी में

अनुवाद किया। इस तरह हिंदी और मराठी के बीच अनुवाद के माध्यम से पुल की बुनियाद रखी गई।

बनारस में 'आज' के रूप में हिंदी पत्रकारिता की बुनियाद बाबूराव विष्णु पराड़कर ने रखी। इस परंपरा को आगे बढ़ाया इंदौर के 'नई दुनिया' अखबार के संपादक के रूप में राहुल बारपुते ने। अनंत गोपाल शेवड़े मराठी पत्र 'नागपुर पत्रिका' और अंग्रेजी अखबार 'नागपुर टाइम्स' के संपादक रहे साथ ही, वे हिंदी के लोकप्रिय उपन्यासकार भी रहे। उन्होंने अपना संपूर्ण सृजनात्मक लेखन हिंदी में किया। 10 जनवरी 1975 को श्री शेवड़े के नेतृत्व में पहले विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन हुआ। अब तक दुनिया के विभिन्न स्थानों पर नौ विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन हो चुका है। अब 10 जनवरी विश्व हिंदी दिवस के रूप में मनाया जाता है।

राजभाषा आयोग के अध्यक्ष महाराष्ट्र के बी.जे. खेर थे और गो.प. नेने इस आयोग के सदस्य रहे। आयोग के सुझावों के आधार पर राजभाषा हिंदी का मार्ग प्रशस्त हुआ। गो.प. नेने और श्रीपाद जोशी के अथक योगदान से 'मराठी-हिंदी' और 'हिंदी-मराठी' शब्दकोश का निर्माण हुआ। यह शब्दकोश प्रामाणिक और अत्यंत उपयोगी माना जाता है। महाराष्ट्र में अखिल भारतीय स्तर की पांच हिंदी प्रचार की संस्थाएं हैं। 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' और 'राष्ट्रभाषा प्रचार सभा' देश की शीर्षस्थ संस्थाएं हैं।

डॉ. प्रभाकर माचवे की हिंदी-मराठी के संबंध को अधिक गहनता और व्यापकता देने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। वे साहित्य अकादेमी के सचिव, भारतीय भाषा परिषद के निदेशक, 'वागर्थ' के संपादक और आकाशवाणी से संबद्ध रहे। इन विभिन्न भूमिकाओं में उन्होंने दोनों भाषाओं के संबंधों को दृढ़तर बनाने में अपना विशिष्ट योगदान दिया। वे दोनों भाषाओं में सृजनात्मक लेखन भी करते रहे। चंद्रकांत बांदिवडेकर ने समीक्षात्मक लेखन व अनुवाद के माध्यम से दोनों भाषाओं के बीच समन्वय के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। दोनों भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की पहल भी डॉ. बांदिवडेकर ने की है।

वैसे तो मराठी भाषी पाठक सीधे हिंदी पढ़ सकता है। शब्द, लिपि और संस्कृत के साम्य के कारण रुकावट नहीं होती। फिर भी हिंदी से मराठी में काफी अनुवाद हर वर्ष आता रहता है। प्रेमचंद, निर्मल वर्मा, जैनेंद्र कुमार, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, उदय प्रकाश, राजेश जोशी आदि का साहित्य विपुल मात्रा में मराठी में देखा जा सकता है। इधर बलराम, गोविंद मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, दामोदर खड़से का साहित्य भी मराठी में अनूदित होकर आ रहा है। चंद्रकांत भोंजाल, आसावरी काकड़े, विलास गिते, गजानन चव्हाण, ऋता ठाकुर, रंगनाथ तिवारी, पद्माकर जोशी, जेऊरकर जैसे कितने ही अनुवादक हैं, जिन्होंने अनुवाद के माध्यम से मराठी साहित्य को समृद्ध किया है। साथ ही, कई मराठी भाषी ऐसे हिंदी लेखक हैं, जिन्होंने अपने कृतित्व से हिंदी साहित्य में अपनी जगह बना ली है। इनमें डॉ. चंद्रकांत पाटिल, डॉ. सुनील देवधर, भगवान वैद्य प्रखर, दामोदर खड़से, उमाकांत खुबालकर, पद्मजा घोरपड़े, स्वार्ंगी साने, आसावरी काकड़े, स्मिता दाते, भारती गोरे, पद्मा पाटिल, राम पंडित जैसे कितने ही रचनाकार हैं। साथ ही, महाराष्ट्र में कुछ हिंदी भाषी ऐसे भी लेखक हैं, जिन्होंने मूल रूप से मराठी में लेखन कर मराठी साहित्य को समृद्ध

किया है। इसमें रंगनाथ तिवारी अंबरीश मिश्र, के.ज. पुरोहित (शांताराम) रमेश मंत्री, शंकर सारड़ा आदि का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। यू.म. पठाण ज्ञानेश्वरी के यशस्वी भाष्यकार माने जाते हैं और वे मराठी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी रहे। मराठी में उनके कीर्तन पर काफी भीड़ देखी जा सकती है।

मराठी में हर वर्ष अन्य भाषाओं से अनूदित ग्रंथों की बड़ी संख्या तो होती ही है। साथ ही, मराठी से हिंदी में भी बड़ी मात्रा में अनुवाद होता है। परिणामस्वरूप, विजय तेंडुलकर, दिलीप चित्रे, शिवाजी सावंत, भालचंद्र नेमाडे, गंगाधर गाडगिल, भारत सासणे, अनिल गांधी, दया पवार, नामदेव ढसाल, जयवंत दलवी, कुसुमाग्रज, नारायण सुर्वे, अभिराम भड़कमकर, हमो मराठे, विंदा करंदीकर, शरणकुमार लिंबाले जैसे लेखक हिंदी में भी उतने ही लोकप्रिय हैं। अनुवादकों में प्रकाश भातंब्रेकर, चंद्रकांत पाटिल, निशिकांत ठकार, गजानन चव्हाण, केशव प्रथमवीर, सुनील देवधर, स्मिता दाते, सूर्यनारायण रणसुभे, आनंद प्रकाश दीक्षित, रामजी तिवारी, दामोदर खड़से आदि का विशिष्ट योगदान है। शिवाजी सावंत का 'मृत्युंजय', गंगाधर गाडगिल का 'दुर्दम्य' अनुवाद के माध्यम से अखिल भारतीय साहित्य में समाविष्ट हो सका। ज्ञानपीठ से सम्मानित उपन्यासकार भालचंद्र नेमाडे का 'हिंदू', हिंदुस्तान में गूज रहा है, इसका श्रेय अनुवादक गोरक्ष थोरात को भी जाता है। चंद्रकांत खोत के 'बिंब प्रतिबिंब' का अनुवाद रमेश यादव ने किया है। गजानन माधव मुक्तिबोध ने अपना सारा लेखन हिंदी में किया और उनके सगे भाई शरदचंद्र मुक्तिबोध ने अपना संपूर्ण लेखन मराठी में किया।

महाराष्ट्र उत्तर और दक्षिण को जोड़ने का काम करता है। विदर्भ जैसे इलाके में घर में मराठी और बाहर हिंदी का चलन है। मराठी में दीपावली के अवसर पर लगभग 400 विशेषांकों का प्रकाशन होता है, जिसमें हिंदी सहित कई भाषाओं का साहित्य अनूदित होकर आता है। महाराष्ट्र से हिंदी की कई पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं, जिनमें 'नवनीत', 'कथाबिंब', 'चिंतन दिशा', 'काव्या', 'शब्द दृष्टि', 'विवेक', 'संचारिका', 'समिति संवाद', 'राष्ट्र भाषा', 'राष्ट्रवाणी', 'प्रक्षेप', 'जनभाषा', 'सृजन-संदर्भ', 'संयोग साहित्य' आदि प्रमुख हैं। इन पत्रिकाओं के माध्यम से भी आदान-प्रदान का कार्य बड़ी मात्रा में होता है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय भी महाराष्ट्र के वर्धा में स्थित है, जहां अनुवाद संबंधी विचार-विमर्श नियमित रूप से होता है एवं 'बहुवचन' एवं 'पुस्तक वार्ता' जैसी उल्लेखनीय पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं।

मराठी और हिंदी का साहचर्य इतना गहरा है कि इन्हें जुड़वा बहनें कहा जा सकता है। दया पवार ने जब अपनी आत्मकथा मराठी में लिखी तो उसका हिंदी अनुवाद हुआ और बाद में हिंदी के माध्यम से वह सात भारतीय भाषाओं में पहुंची। साहित्य, संस्कृति और सरोकारों के आदान-प्रदान के लिए अनुवाद एक विशिष्ट समन्वय की भूमिका निभाता है। मराठी और हिंदी भौगोलिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक धरातल पर बहुत निकट है।



गांधीजी की अनुवाद-साधना

हरीश कुमार सेठी

‘अहिंसा’ को अचूक शस्त्र बनाकर भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को एक दिशा देने वाले महान राष्ट्र निर्माता राष्ट्रपिता मोहनदास करमचंद गांधीजी का भारतीय समाज और संस्कृति को अतुलनीय योगदान रहा है। उनके विचार लिखित रूप में और उनके कृत्यों का अनगिनत रचनाओं में उल्लेख, विवेचन-विश्लेषण के रूप में उपलब्ध है। गांधीजी स्वयं साहित्यकार तो नहीं थे, किंतु साहित्यकार के रूप में उनका योगदान किसी भी रूप में कम उल्लेखनीय नहीं है। उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी, यात्रा संबंधी अनेक वृत्तांत और संस्मरण लिखे। उनके यात्रा वृत्तांत तो ललित निबंधों की श्रेणी में गिने जाते हैं। गांधीजी मुख्य रूप से अंग्रेजी और गुजराती के बहुत अच्छे लेखक थे। इसके अलावा, उन्होंने थोड़ा-बहुत हिंदी में भी लिखा। गांधीजी के समस्त लिखित और वाचिक साहित्य के प्रकाशन का अधिकार-प्राप्त नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद ने उनके हिंदी में लिखित लेखों और टिप्पणियों को ‘बापू की कलम से’ पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है।

गांधीजी बहुभाषा-भाषी भी थे। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और उनकी शिक्षा अंग्रेजी भाषा में हुई थी। इंग्लैंड में बैरिस्टरी की शिक्षा के साथ-साथ उनके दैनिक जीवन-व्यवहार में भी अंग्रेजी ही माध्यम भाषा बनी थी। दक्षिण अफ्रीका में वकालत एवं संघर्ष भी उन्होंने अंग्रेजी में ही चलाया। उन्होंने उर्दू, तमिल और बांग्ला भाषाएं भी सीखीं थीं। इसके अलावा, उन्हें फ्रांसीसी भाषा का भी पर्याप्त ज्ञान था।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन-काल में साहित्य रचना के साथ-साथ अनुवाद साधना भी की है और अनुवाद चिंतन भी। उनका यह चिंतन उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र अनुवाद संबंधी विचारों के रूप में और उनकी रचनाओं के अनुवादों की भूमिकाओं आदि के माध्यम से प्राप्त होती है। इसके अलावा, गांधीजी ने अपने जीवन में ‘भाषांतरकार’ और अनूदित सामग्री को जांचने-परखने वाले अर्थात् ‘पुनरीक्षक’ की भूमिका भी निभाई और कोश-निर्माण कार्य भी किया। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व-कृतित्व और उसके विवेचन-विश्लेषण एवं महत्व-प्रतिष्ठा-आलोचना पर अनगिनत अध्ययन कार्य हुए हैं और अभी भी हो रहे हैं। किंतु इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि गांधीजी के पक्ष लगभग अनालोचित ही बने हुए हैं। वैसे, इस संदर्भ में किए गए कतिपय प्रयासों में कमल किशोर गोयनका और प्रो. हेमचंद्र पांडे के नाम विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में ‘अनुवादक, पुनरीक्षक, भाषांतरकार और कोशकार गांधी’ से परिचित कराने के साथ ‘अनुवाद सैद्धांतिकी के निर्माण और समृद्धि में

गांधीजी के योगदान' के आलोक में गांधीजी की अनुवाद साधना को रेखांकित किया गया है।

(1) 'अनुवादक, पुनरीक्षक और भाषांतरकार गांधी' :

गांधीजी ने अनुवाद कर्म के जरिए साहित्य-समृद्धि में अपना योगदान दिया है। उन्होंने मुख्य रूप से अंग्रेजी से गुजराती में अनुवाद किए। उल्लेखनीय यह भी है कि गांधी जी ने अपनी रचनाओं के स्वयं अनुवाद भी किए हैं। जैसे, उन्होंने गुजराती में लिखी अपनी 'हिंद स्वराज' का अंग्रेजी अनुवाद स्वयं किया था। गांधीजी ने मूल 'हिंद स्वराज' को इंग्लैंड से लौटते समय 'क्लिडोनन कैसिल' नामक जहाज पर लिखा, जो उनके दक्षिण अफ्रीका पहुंचने पर 'इंडियन ओपिनियन' में प्रकाशित हुई थी और फिर जनवरी 1910 में पुस्तकाकार रूप में। भारत में बंबई सरकार ने 24 मार्च, 1910 को उसके प्रचार पर प्रतिबंध लगा दिया था। अपने यूरोपीय मित्र कैलेनबैक से हुई चर्चा के बाद गांधीजी ने इसका मौखिक अंग्रेजी अनुवाद किया और कैलेनबैक ने इसे लिपिबद्ध किया था। 'हिंद स्वराज' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में गांधीजी ने स्वीकार किया है कि 'It is not a literal translation but it is a faithful rendering of the original.' (यह कोई शब्दशः अनुवाद नहीं है। परंतु इसमें मूल के भाव पूरे-पूरे आ गए हैं।)¹ स्पष्ट है कि गांधीजी 'शाब्दिक अनुवाद' के स्थान पर 'भावानुवाद' को प्रश्रय देते थे।

'हिंद स्वराज' के अंग्रेजी अनुवाद के अलावा, गांधी जी ने अन्य लोगों की रचनाओं का अंग्रेजी से गुजराती में भी अनुवाद किया है। उन्होंने रस्किन की पुस्तक 'Unto This Last' का 'सर्वोदय' नाम से गुजराती अनुवाद किया। उन्हें यह पुस्तक उनके मित्र मिस्टर पोलक ने उस समय भेंट की थी जब वे रेल से नाटाल के लिए रवाना हो रहे थे। जोहांसबर्ग से डर्वन तक की अपनी चौबीस घंटे की रेल-यात्रा के दौरान उन्होंने यह पुस्तक पढ़ कर पूरी कर ली।²

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपने मुकदमे में अपनी सफाई में एक भाषण दिया था। गांधीजी ने उस भाषण का 'एक सत्यवीर की कथा' अथवा 'सुकरात की सफाई' के नाम से अनुवाद भी किया था। इस अनुवाद की भी यह विशेषता रही कि इसे उन्होंने 'सार' रूप में अनूदित किया था। इसी प्रकार, गांधीजी ने लियो तॉलस्टॉय की कहानी का 'मूरखराज' नाम से अनुवाद भी किया था। इस अनुवाद का उल्लेख करते हुए विष्णु प्रभाकर ने लिखा है कि 'इस कहानी का शब्दार्थ अनुवाद नहीं किया है बल्कि उसका रहस्य ठीक-ठीक समझ में आ जाए और अपनी भाषा में ठीक लगे इस प्रकार लिखने का प्रयत्न किया है। नाम ठाम भी बदल दिए हैं।'³

गांधीजी ने गुजराती-भाषी मुसलमान पाठकों के लाभ के निमित्त प्रसिद्ध न्यायाधीश अमीर अली की अंग्रेजी पुस्तक 'स्पिरिट ऑफ इस्लाम' का भी गुजराती में अनुवाद किया। इस अनुवाद को उन्होंने 5 जनवरी, 1907 के 'इंडियन ओपिनियन' के गुजराती स्तंभ में प्रकाशित किया।⁴ इसके अलावा, गांधीजी ने अमेरिकी नैतिकतावादी विद्वान विलियम मैकिंटायर सोल्टर की अंग्रेजी पुस्तक 'एथिकल रिलीजन' का गुजराती में अनुवाद किया। उन्होंने 1907 में इसका सारांश 'इंडियन ओपिनियन' के गुजराती स्तंभ में आठ लेखों में प्रकाशित किया। गांधीजी चाहते थे कि पाठक नीति-वचनों का पालन करें।⁵ इसके संदर्भ में श्री विष्णु प्रभाकर ने लिखा है कि 'एक और पुस्तक है - नीतिधर्म। मि.साल्टर (सोल्टर) नाम के एक अमरीकी विद्वान की पुस्तक के आधार पर उन्होंने इसकी रचना की है। वे धर्म और नीति अलग नहीं मानते थे। धर्म ही नीति है। नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए... नीति और

सच्ची सफलता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में मिलती है - यही इस पुस्तक का सार है।⁶

गांधीजी ने 'भगवद्गीता' का भी अनुवाद किया। उन्होंने यह अनुवाद गुजराती में किया था, जो 12 मार्च, 1930 को प्रकाशित हुआ था। यह वह ऐतिहासिक दिन था जब गांधीजी ने साबरमती आश्रम से दांडी यात्रा शुरू की थी। इस अनुवाद को पढ़ कर जब एक आश्रमवासी ने गांधीजी से यह शिकायत की कि उनका अनुवाद समझने में बहुत कठिन है तो उन्होंने इस पाठकीय प्रतिक्रिया को ध्यान में रखते हुए नमक कानून तोड़ने के जुर्म में यरवदा जेल के बंदीगृह में रहते हुए ही गीता के प्रत्येक अध्याय पर एक-एक पत्र लिखा था।⁷ गांधीजी पर श्रीमद्भगवद्गीता का बहुत अधिक प्रभाव था। इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि उन्होंने 'गीतापदार्थकोष' भी बनाया और 'अनासक्तियोग' नाम से गीता की व्याख्या भी लिखी। इस प्रकार की व्याख्या को 'अनुवाद सैद्धांतिकी' में अनुवाद का ही एक प्रकार माना जाता है और इसे 'व्याख्या अनुवाद' कहा जाता है।

अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान गांधीजी ने वहां से 'इंडियन ओपिनियन' समाचार-पत्र निकाला था। यह मुख्य रूप से अंग्रेजी में निकलता था और उसमें भारतीय भाषाओं में से गुजराती, हिंदी तथा तमिल के स्तंभ भी जोड़े गए थे किंतु उचित सहयोगी नहीं मिलने के कारण दो वर्ष के बाद इसके हिंदी और तमिल स्तंभ बंद कर दिए गए। कमल किशोर गोयनका ने लिखा है कि 'इंडियन ओपिनियन' में भारतीय भाषाओं में समाचार एवं लेख देने के कारण उन्हें अंग्रेजी से अनुवाद करना अनिवार्य था। गांधी के उस समय लिखे गए पत्रों, लेखों आदि में कुछ ऐसे विवरण मिलते हैं जिनसे यह जानकारी मिलती है कि गांधी स्वयं ही अंग्रेजी से गुजराती आदि भाषाओं में अनुवाद करते थे, स्वयं ही दूसरों के द्वारा किए गए अनुवाद देखते थे तथा विभिन्न अंग्रेजी अखबारों से महत्वपूर्ण समाचारों की कतरनें, अनुवाद के लिए एकत्र करते थे और उनका अनुवाद करके गुजराती, हिंदी तथा तमिल भाषा के स्तंभों में नियोजित करते थे।⁸ इस संदर्भ में डॉ. गोयनका ने कुछ और भी उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं, जोकि इस प्रकार हैं :

1. तमिल की सामग्री भेजी है, परंतु मैं देखता हूं कि उसमें कठिनाई होगी। जिस व्यक्ति ने अनुवाद किया है उसका ज्ञान अल्प ही है, ऐसा मैंने अनुभव किया।... मैं यहां से जो अंग्रेजी भेजूंगा उसका सिर्फ तर्जुमा ही करना पड़ेगा। (पत्र : छगनलाल गांधी को 6 नवंबर, 1905)⁹

2. गांधी अपने गुजराती भाषी मुसलमान पाठकों के लाभार्थ प्रसिद्ध न्यायाधीश अमीर अली की अंग्रेजी पुस्तक 'स्पिरिट ऑफ इस्लाम' का गुजराती में अनुवाद करके 'इंडियन ओपिनियन' में प्रकाशित करने का निर्णय करते हैं। ('इंडियन ओपिनियन, गुजराती, 5 जनवरी, 1907')¹⁰

3. गांधी अमेरिकन नैतिकतावादी विद्वान विलियम मैकिंटायर सोल्टर की अंग्रेजी पुस्तक 'एथिकल रिलीजन' का गुजराती में सारांश आठ लेखों में प्रकाशित करते हैं और चाहते हैं कि पाठक नीति-वचनों का पालन करें। ('इंडियन ओपिनियन, गुजराती, 1907')¹¹

4. गांधी हमीदिया अंजुमान की पुस्तक को गुजराती और अंग्रेजी अनुवाद के साथ छापने के लिए छगनलाल गांधी को भेजते हैं। (पत्र : छगनलाल गांधी को 26 फरवरी, 1907)¹²

5. गांधी अंग्रेजी समाचार पत्र 'टाइम्स ऑफ इंडिया' से महामहिम अमीर हबीबुल्ला के भाषण का गुजराती अनुवाद करके 'इंडियन ओपिनियन' (गुजराती) में प्रकाशित करते हैं। ('इंडियन ओपिनियन', गुजराती, 2 मार्च, 1907)¹³

6. गांधी ब्लूमफॉन्टीन के अंग्रेजी अखबार 'फ्रेंड' से एक लेख का गुजराती में अनुवाद करके 'इंडियन ओपिनियन' (गुजराती) में प्रकाशित करते हैं और चाहते हैं कि पाठक इस अंग्रेज के भारत-प्रेम को समझें। ('इंडियन ओपिनियन', गुजराती, 24 अगस्त, 1907)¹⁴

7. गांधी अपने मुस्लिम पाठकों के लिए हजरत मुहम्मद की वॉशिंगटन इरविंग की अंग्रेजी जीवनी 'लाइफ ऑफ द प्रॉफेट' के गुजराती में अनुवाद को 'इंडियन ओपिनियन' में प्रकाशित करते हैं, किंतु इसके पांचवें प्रकरण में मुहम्मद साहब की शादी का विवरण पढ़कर मुस्लिम पाठक नाराज हो जाते हैं और उनके दबाव में गांधी को उसका प्रकाशन बंद करना पड़ता है। गांधी को इसका अफसोस है कि अनुवाद में की गई मेहनत व्यर्थ हो गई। ('इंडियन ओपिनियन', गुजराती, 31 अगस्त, 1907)¹⁵

गोयनका द्वारा उद्धृत इन कतिपय प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधीजी ने 'इंडियन ओपिनियन' के गुजराती, हिंदी तथा तमिल स्तंभों के प्रकाशन के लिए स्वयं सैकड़ों-हजारों पृष्ठों का अंग्रेजी भाषा से अनुवाद किया होगा।

पुनरीक्षक गांधी : गांधीजी ने अनूदित सामग्री को जांचने का कार्य भी किया। अनुवाद सैद्धांतिकी में इस प्रकार के कार्य को 'पुनरीक्षण' (vetting) कहा जाता है। किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किए गए अनुवाद को जांचना 'पुनरीक्षण' कहलाता है। इस कार्य में विशेष बात यह होती है कि अनुवादक और पुनरीक्षक, दोनों अलग-अलग व्यक्ति होते हैं। गुजराती लेखक और फ्रांसीसी पुस्तकों का गुजराती में अनुवाद करने वाले अनुवादक नारायण हेमचंद्र ने अपने अनुवाद गांधीजी को उनके विदेश प्रवास के दौरान जांचने के लिए दिए थे। अनुवाद जांचने पर गांधीजी ने पाया कि नारायण हेमचंद्र ने अनुवाद नहीं बल्कि भावार्थ प्रस्तुत किया है।¹⁶

पुनरीक्षण कार्य का एक और प्रमाण हमें गांधीजी द्वारा यरवदा जेल से आश्रमवासियों को हर सप्ताह गुजराती में लिखे पत्रों के अंग्रेजी अनुवाद के संदर्भ में भी मिलता है। गांधीजी के इन पत्रों का अंग्रेजी अनुवाद वालजी गोविंदजी देसाई ने किया था। गांधीजी इन अंग्रेजी अनुवादों का पुनरीक्षण भी करते थे। उन्होंने जेल में रहते हुए यह लिखा है कि- 'श्री वालजी देसाई ने अंग्रेजी में पूरा अनुवाद प्रस्तुत किया है। परंतु जब उन्हें पता चला कि जेल में मुझे कुछ फुर्सत रहती है तो उन्होंने अपने किए अनुवाद को मेरे पास संशोधन के लिए भिजवा दिया। मैंने उनका किया अनुवाद ध्यान से देख लिया है और उसमें यत्र-तत्र संशोधन भी कर दिया है जिससे कि मेरे आशय की अभिव्यक्ति हो सके।'¹⁷ प्रो. हेमचंद्र पांडे ने गांधीजी के इस प्रकार के प्रयास को अनुवादक और लेखक के बीच संपर्क के संदर्भ में देखा है और यह स्वीकार किया है कि इससे 'अनुवाद में सुधार लाया जा सकता है।'¹⁸ जबकि प्रो. अवधेश कुमार सिंह ने इस प्रकार के प्रयास को 'सहयोगात्मक कार्य' कहा है।¹⁹

गांधीजी गुजराती में लिखी आत्मकथा 'सत्य ना प्रयोगों' का अंग्रेजी अनुवाद महादेव हरिभाई देसाई ने किया था। महादेवभाई द्वारा किया गया अनुवाद 'सहयोगात्मक कार्य' का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस संदर्भ में प्रो. अवधेश कुमार सिंह की विस्तृत टिप्पणी ध्यान देने योग्य है कि - 'महादेवभाई द्वारा किया गया अनुवाद इस तथ्य का भी प्रमाण है कि अनुवाद एक सहयोगात्मक कार्य है। महादेवभाई देसाई के 'एडिटर्स इंट्रोडक्शन' (संपादकीय प्रस्तावना) में यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम खंड 1927 में आया और दूसरा 1929 में। यह 'यंग इंडिया' में शृंखलाबद्ध रूप में प्रकाशित होता रहा। इसके

अलावा, इस 'इंट्रोडक्शन' से यह भी पता चलता है कि अनुवादक महादेवभाई को 'दि बेनिफिट ऑफ गांधीज रिविजन' (गांधीजी द्वारा संशोधित करने का लाभ) भी मिला। साथ ही, यह 'केयरफुली रिवाइज्ड बाय ए रेवरेड फ्रेंड' (श्रद्धेय बंधु द्वारा ध्यानपूर्वक संशोधित किया गया) था, जो महादेवभाई के अनुसार अंग्रेजी भाषा के प्रतिष्ठित विद्वान थे। लेकिन, उन बंधु ने इस कार्य को करने से पूर्व यह शर्त रखी थी कि उनके नाम का उल्लेख नहीं किया जाएगा। खंड-V के अध्याय-XXIV-XLIII के अनुवाद प्यारेलाल ने किए। यह वह समय था जब महादेवभाई 1928-29 के दौरान स्वाधीनता आंदोलन में भी शामिल थे। गांधीजी के जीवन की कथा को महादेव देसाई जैसी कई शक्तियों और स्रोतों ने रूपाकार प्रदान किया। ऐसा लगता है मानो गांधीजी के जीवन की तरह उनकी आत्मकथा को कई जाने-अनजाने लोगों ने बुना था। उनकी आत्मकथा अथवा उनके जीवन की कहानी गुजराती, अंग्रेजी, हिंदी और कई अन्य भाषाओं में साथ-साथ उपलब्ध हैं, जो गांधीजी की आत्मा के कई अवतारों की तरह है।²⁰

'इंडियन ओपिनियन' में भारतीय भाषाओं में समाचार एवं लेख शामिल करने की जरूरत को पूरा करने के लिए अंग्रेजी से अनुवाद किया-कराया जाता था। 'इंडियन ओपिनियन' के गुजराती, हिंदी तथा तमिल स्तंभों के प्रकाशन के लिए स्वाभाविक है कि जहां स्वयं गांधीजी ने सैकड़ों-हजारों पृष्ठों का अंग्रेजी भाषा से अनुवाद किया होगा, वहीं अन्य लोगों के द्वारा किए गए अनुवादों का पुनरीक्षण कार्य भी किया होगा।

भाषांतरकार गांधी : गांधीजी ने भाषांतरण कार्य भी किया है। 'भाषांतरकार' 'Interpreter' होता है। अनुवाद सिद्धांत चिंतन में इसके लिए 'भाषांतरकार' के अलावा 'दुभाषिया' अथवा 'आशु अनुवादक' शब्द भी प्रयुक्त किया जाता है। भाषांतरकार मौखिक अनुवाद करता है।

गोखलेजी की दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के समय गांधीजी द्वारा भाषांतरकार की भूमिका निभाने का विशेष तौर पर उल्लेख किया जा सकता है। रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'गांधी, आंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं'²¹ शीर्षक अपनी पुस्तक में 'जातीय भाषा और राष्ट्रभाषा' विषय पर विवेचन करते हुए लिखा है कि जब गोखले दक्षिण अफ्रीका गए तब गांधीजी ने प्रयत्न किया कि वह अंग्रेजी के बदले हिंदुस्तानियों की सभा में भारतीय भाषाओं का व्यवहार करें।... गोखले की मातृभाषा मराठी थी। वहां कोंकण के बहुत से लोग थे। वे विशेष रूप से चाहते थे कि गोखले मराठी में बोलें।... गांधीजी ने लिखा : 'मैंने उनसे पूछा, आप मराठी में बोलेंगे तो इन लोगों को खुशी होगी और आप मराठी में बोलें तो मैं उसका हिंदुस्तानी में अनुवाद करूंगा। इससे वे बड़े जोर से हँस पड़े। आपका हिंदुस्तानी का ज्ञान तो मुझे अच्छी तरह मालूम है। वह हिंदुस्तानी आपको मुबारक रहे। किंतु अब आप मराठी से अनुवाद करेंगे? मुझे आप यह तो बताइए कि आपने इतनी मराठी कहाँ से सीखी। मैंने कहा : जो बात आपने मेरी हिंदुस्तानी के बारे में कही, वही मेरी मराठी के संबंध में भी समझें। मैं मराठी का एक शब्द भी नहीं बोल सकता किंतु मुझे जिस विषय का ज्ञान है यदि आप उस विषय में मराठी में बोलेंगे तो उसका आशय मैं अवश्य समझ जाऊंगा।' आखिर गोखले मराठी में बोलने को राजी हो गए। 'उन्होंने मुझे यह कहकर खुश कर दिया कि आप अपनी जिद जरूर पूरी करेंगे। यहां तो मैं आपके पल्ले पड़ा हूँ, इसलिए छूट नहीं सकता। इसके बाद उन्होंने ठेठ जंजीबार तक मराठी में ही भाषण दिए और मैं उनका विशेष रूप से नियुक्त भाषांतरकार रहा। हमें यथासंभव

मातृभाषा में और व्याकरण शुद्ध अंग्रेजी की अपेक्षा व्याकरण की भूलों से भरी टूटी-फूटी हिंदी में ही बोलना चाहिए, मैं यह बात उनके मन में बैठा सका या नहीं, यह मैं नहीं जानता। किंतु इतना जानता हूँ कि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में मुझे खुश रखने के लिए ही मराठी में भाषण दिए।²²

(2) कोशकार गांधी :

गांधीजी की अनुवाद-साधना का ही विस्तार हमें 'कोश कार्य' के रूप में भी नजर आता है। कोश निर्माण को भी अनुवाद सैद्धांतिकी की परिधि में ही शामिल किया जाता है। गांधीजी ने इस कार्य में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने गुजराती की वर्तनी में एकरूपता स्थापित करने की दृष्टि से गुजराती वर्तनी कोश पर भी काम किया और 1929 में 'सार्थ जोड़नी कोश' तैयार किया। इस कोश में गुजराती की मानक वर्तनी के साथ-साथ कोश में शामिल शब्दों के अर्थ भी दिए हुए थे। कोश में अर्थ का समावेश कोश के नामकरण अर्थात् 'सार्थ' की सार्थकता प्रमाणित करता है। उनके इस कोश को व्यापक मान्यता प्राप्त हुई और उसमें दी गई वर्तनी की प्रामाणिकता को स्वीकृति मिलने लगी। 'सन 1940 में तत्कालीन बंबई प्रांत ने एक अधिसूचना जारी की जिसमें यह कहा गया था कि गुजराती में लिखी केवल उन्हीं पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन के लिए राजकीय अनुदान मिल सकेगा जिनमें गांधीजी के 'सार्थ जोड़नी कोश' में दी गई वर्तनी का पालन किया जाएगा।²³

(3) गांधीजी का अनुवाद सैद्धांतिकी-समृद्धि में योगदान :

घोषित रूप में गांधीजी कोई अनुवाद-चिंतक नहीं थे, किंतु उन्होंने अपनी अनुवाद साधना और अपने लेखन में अनुवाद संबंधी विचारों को स्थान देकर अनुवाद सैद्धांतिकी निर्माण और उसकी समृद्धि में उल्लेखनीय योगदान दिया है। वैसे भी, देखा जाए तो अनुवाद एक व्यावहारिक भाषिक गतिविधि है, जो मुख्यतः दो भाषाओं के बीच घटित होने वाली प्रक्रिया है। इस व्यावहारिक गतिविधि के गर्भ से ही अनुवाद सिद्धांत का जन्म होता है। लेकिन, विशेष बात यह है कि अनुवाद का व्यवहारपरक पक्ष विविधता लिए हुए होता है। प्रत्येक अनुवादक की अपनी-अपनी क्षमता के संदर्भ में अनुवाद की विविधता के कारण 'अनुवाद सैद्धांतिकी' में भी विविधता आ जाती है। किंतु अनुवाद सैद्धांतिकी में कुछ ऐसे सामान्य नियमों की चर्चा की जाती है जिन पर किसी भी अनुवादक/अनुवाद-चिंतक की अनुवाद सैद्धांतिकी को कसा जा सकता है। गांधीजी द्वारा अनुवाद सैद्धांतिकी निर्माण और उसकी समृद्धि में दिए गए योगदान को इनमें से कुछ बिंदुओं के आलोक में देखा जा सकता है, जो कि इस प्रकार हैं :

(i) 'विचारों का अनुवाद' और गांधीजी : वैसे तो यह माना जाता है कि व्यक्ति जब भी कोई विचार व्यक्त करता है तो वह अनुवाद ही होता है - 'विचारों का अनुवाद'। मूल बात यह है कि विचार व्यक्ति के अपने तो होते ही हैं, किंतु अन्यो से अनुप्राणित भी होते हैं। इसकी पुष्टि गांधीजी स्वयं भी करते हैं। उन्होंने 'हिंद स्वराज' की 'प्रस्तावना' में यह स्वीकार किया है कि 'These views are mine, and yet not mine. They are mine because I hope to act according to them. They are almost a part of my being. But, yet, they are not mine, because I lay no claim to originality. They have been formed after reading several books. That which I dimly felt received support from these books.' (जो विचार यहां रखे गए हैं, वे मेरे हैं और मेरे नहीं भी हैं। वे मेरे हैं, क्योंकि उनके मुताबिक बरतने की मैं उम्मीद रखता हूँ;

वे मेरी आत्मा में गढ़े-जड़े हुए जैसे हैं। वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि सिर्फ मैंने ही उन्हें सोचा हो सो बात नहीं। कुछ किताबें पढ़ने के बाद वे बने हैं। दिल में भीतर ही भीतर मैं जो महसूस करता था, उसका इन किताबों ने समर्थन किया।¹²⁴

(ii) पत्रकारिता में अनुवाद का महत्व : गांधीजी 'विचारों' के प्रचार-प्रसार के प्रति कटिबद्ध थे और इस कार्य को संपन्न करने में समाचार-पत्रों की भूमिका को स्वीकार करते थे। यही कारण है कि वे समाचार-पत्रों को 'विचार-पत्र' भी कहते थे। वे इस तथ्य से भी परिचित थे कि देश की जनता तक पहुंचने के लिए समाचार-पत्र भारतीय भाषाओं में होने चाहिए। इसलिए वे पत्रकारिता में अनुवाद के महत्व को भी स्वीकार करते थे। दक्षिण अफ्रीका में 'इंडियन ओपिनियन' में अंग्रेजी के साथ-साथ गुजराती, हिंदी तथा तमिल के भी स्तंभ निकालने में अनुवाद का भी सहारा लिया। इस कार्य को पूरा करने के लिए उन्होंने स्वयं मुख्य रूप से अंग्रेजी-गुजराती अनुवाद कार्य भी किया। इसी तरह उन्होंने 'जब अंग्रेजी में 'यंग इंडिया' निकाला तो गुजराती में 'नवजीवन' भी प्रकाशित किया, क्योंकि 'यंग इंडिया' की अंग्रेजी को गुजराती में अनूदित करके गुजराती भाषा में 'नवजीवन' निकालना उनके लिए सहज संभव था।¹²⁵

(iii) अनुवाद की महत्ता : गांधीजी की दृष्टि में अनुवाद करना अधिक महत्वपूर्ण है, लेकिन साथ ही वे अपनी भाषा में मौलिक चिंतन पर भी जोर देते हैं और संपर्क भाषा के महत्व को स्वीकार करते हैं। अनुवाद करने के प्रयासों के क्रम में वे अनूदित भाषा की अशुद्धियां और व्याकरण की दुर्बलताओं तक को भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उनके अनुवादक-मन ने भाषा की अशुद्धियों तथा व्याकरण की दुर्बलताओं की ओर ध्यान नहीं दिया, जबकि कतिपय विद्वान गांधीजी के अंग्रेजी तथा गुजराती भाषा-ज्ञान पर प्रश्न भी उठाते रहे हैं। 'उन्होंने अपने पाठकों से कहा भी था कि वे उनके विचारों को महत्व दें, उनकी भाषा को नहीं।'¹²⁶ इसका मूल कारण यह था कि 'वे अच्छी तरह समझते थे कि अपने विचार अनुवाद के माध्यम से सशक्त ढंग से कभी भी व्यक्त नहीं किए जा सकते, इसीलिए वे सदैव अपनी-अपनी भाषा में मौलिक चिंतन पर जोर देते थे और पूरे देश में आपसी संपर्क के लिए एक सर्वमान्य भाषा का महत्व समझते हुए हिंदी के प्रचार एवं प्रसार पर बल देते थे।'¹²⁷

(iv) राष्ट्रीय एकता में अनुवाद की भूमिका : गांधीजी ने राष्ट्रीय एकता की स्थापना में अनुवाद की विशिष्ट स्थिति और भूमिका को महसूस किया। राष्ट्रीय एकता की स्थापना में धर्म और नीति की विशिष्ट स्थिति है और गांधीजी इन दोनों को अलग नहीं मानते थे - धर्म ही नीति है और नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए। इसी कारण उन्होंने अपने गुजराती भाषी मुसलमान पाठकों के लाभ के लिए प्रसिद्ध न्यायाधीश अमीर अली की अंग्रेजी पुस्तक 'स्पिरिट ऑफ इस्लाम' का गुजराती में अनुवाद करके 'इंडियन ओपिनियन' में प्रकाशित किया। इसी प्रकार, नैतिकता को ध्यान में रखते हुए ही गांधीजी ने अमेरिकी नैतिकतावादी विद्वान विलियम मैकिंटायर सोल्टर की अंग्रेजी में लिखी पुस्तक 'एथिकल रिलीजन' का गुजराती में सारांश 'इंडियन ओपिनियन' में आठ लेखों में प्रकाशित किया ताकि पाठक नीति-वचनों का पालन करें। लोगों में देश-प्रेम जाग्रत करने और राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने के लिए ही उन्होंने ब्लूमफॉन्टीन के भारत-प्रेम से संबंधित उस लेख का गुजराती में अनुवाद करके 'इंडियन ओपिनियन' (गुजराती) में प्रकाशित किया जो अंग्रेजी के अखबार 'फ्रेंड'

में छपा था।

(v) **अन्य भाषाओं में रचित ज्ञान-भंडार से अपनी भाषा को समृद्ध करना** : अन्य भाषाओं में रचित ज्ञान-भंडार और उत्तम विचारों को अपनी भाषा में लाने की दृष्टि से अनुवाद की विशेष प्रासंगिकता है। गांधीजी अनुवाद के इस परिप्रेक्ष्य को महसूस करते थे और इसीलिए उन्होंने भारत के लोगों तक पहुंचने के लिए देशी भाषाओं में अखबारों की आवश्यकता महसूस की। यही कारण है कि 'नवजीवन' (गुजराती) और 'नवजीवन' (हिंदी) अंग्रेजी के 'यंग इंडिया' के चुने हुए लेखों-समाचारों आदि के अनुवाद का ही आधार लिए हुए होता था। गांधीजी ने लिखा भी है कि 'हिंदी नवजीवन' में इन दोनों समाचार-पत्रों से चुने हुए लेखों का अधिकृत तथा स्वतंत्र अनुवाद किया गया है।²⁸ वे चाहते हैं कि अंग्रेजी जानने वाले भारतीय जनसाधारण के लाभ के लिए अंग्रेजी के उत्तम विचारों को देशी भाषाओं में अनूदित करें। इसीलिए उन्होंने नीति-वचन आदि का अनुवाद किया।

(vi) **अनुवादक की लक्ष्य भाषा क्या हो?** : गांधीजी अनुवादक के लिए मातृभाषा में अनुवाद करना अधिक बेहतर मानते हैं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, 'इंडियन ओपिनियन' के लिए गांधीजी ने अंग्रेजी समाचारों, लेखों, भाषणों, पुस्तकों आदि का अनुवाद किया। विशेष बात यह रही है कि यह अनुवाद मुख्य रूप से अंग्रेजी भाषा से गुजराती में किए। यह तो सर्वविदित ही है कि गुजराती भाषा गांधीजी की मातृभाषा थी। अनुवादक के लिए यह माना जाता है कि उसे दो भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए और उनमें से उसे उस भाषा में अनुवाद करना चाहिए जिसपर उसका ज्यादा अधिकार हो, पकड़ हो। स्वाभाविक है कि व्यक्ति की अपनी मातृभाषा पर पकड़ सर्वाधिक होती है इसलिए अनुवाद कार्य में आम तौर पर लक्ष्य भाषा मातृभाषा ही होती है। इससे अनुवादक को सुविधा भी रहती है। गांधीजी द्वारा अंग्रेजी से गुजराती अनुवाद इसी तथ्य को प्रमाणित करता है कि अनुवादक मातृभाषा में अनुवाद अधिक सहजता से कर पाता है। यही कारण है कि जब गांधीजी ने अंग्रेजी में 'हरिजन' निकाला तो उसके हिंदी, गुजराती, तमिल, मराठी, बांग्ला आदि अनेक भाषाओं के संस्करणों में से गुजराती संस्करण के साथ उनका अधिक मोह था क्योंकि वह उनकी मातृभाषा में था और गुजराती में मूल रूप से लिखना उन्हें प्रिय था। इसलिए उनकी इच्छा थी कि 'हरिजन' (गुजराती) के लिए वे लिखें और बाकी सब संस्करण अनुवाद होकर ही छपें।²⁹

(vii) **'शब्दानुवाद' के स्थान पर 'भावानुवाद' बेहतर विकल्प** : गांधीजी 'शब्दानुवाद' के स्थान पर 'भावानुवाद' को अनुवाद का बेहतर प्रकार मानते हैं। उदाहरण के लिए, 'हिंद स्वराज' के अंग्रेजी अनुवाद का उल्लेख किया जा सकता है, जिसकी भूमिका में गांधीजी ने स्वीकार किया है कि 'It is not a literal translation but it is a faithful rendering of the original.' (यह कोई शब्दशः अनुवाद नहीं है। परंतु इसमें मूल के भाव पूरे-पूरे आ गए हैं।)³⁰ इस अनुवाद की यह विशेषता कही जा सकती है कि गांधीजी 'शाब्दिक अनुवाद' के स्थान पर 'भावानुवाद' को प्रथम देते थे बल्कि उससे भी बढ़कर कहा जाए तो कृति को आत्मसात करने के पश्चात अपने परिवेश में और 'सार रूप में स्वतंत्र अनुवाद' करने के पक्षधर थे। इस संदर्भ में विचार करते हुए विष्णु प्रभाकर ने लिखा है कि 'अनुवाद भी उन्होंने किए परंतु जो अर्थ हम अनुवाद का समझते हैं वैसे अनुवाद नहीं। सार रूप में स्वतंत्र रूप में अपनी परिवेश की पृष्ठभूमि पर ही आधारित करके उन्होंने जो उन्हें अच्छा लगा उसे स्वीकार किया।'³¹ शब्दानुवाद के स्थान पर भाव या आशय का आधार लेने की स्थिति मूल पाठ के

संदर्भ में तो थी ही, साथ ही शब्द निर्माण के स्तर पर भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, 'civil disobedience', 'passive resistance' आदि शब्दों के लिए गुजराती समतुल्य की खोज के प्रयास की परिणति 'सत्याग्रह' शब्द में हुई। गांधीजी को 'सदाग्रह' शब्द पसंद आया था जो मगनलाल गांधी का सुझाया हुआ था, परंतु गांधीजी ने इस शब्द को संशोधित करके 'सत्याग्रह' बना दिया।³²

(viii) अनुवाद की प्रामाणिकता को महत्व : गांधीजी का अनुवाद सैद्धांतिकी में इस दृष्टि से भी योगदान उल्लेखनीय है कि उन्होंने अनुवाद की प्रामाणिकता को महत्व प्रदान किया। अनूदित पाठ की प्रामाणिकता तभी सिद्ध हो पाती है जब मूल लेखक स्वयं अनूदित पाठ को देख ले या फिर उसका गंभीर पुनरीक्षण-मूल्यांकन हो। इस संदर्भ में गांधीजी की गुजराती पुस्तक 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' के अंग्रेजी अनुवाद का उल्लेख किया जा सकता है, जिसे वालजी गोविंदजी देसाई ने अनूदित किया था। इस अनुवाद के विषय में गांधी ने लिखा है- 'श्री वालजी देसाई के अनुवाद में मैंने कुछ संशोधन किया है और मैं पाठकों को आश्वस्त कर सकता हूँ कि अनुवादक ने मूल गुजराती की भावना की रक्षा की है। मूल पुस्तक के सारे अध्याय मैंने अपनी याददाश्त के आधार पर लिखे थे। इनका कुछ अंश यरवदा जेल में लिखा गया था और कुछ अंश समय से पूर्व जेल से छोड़ दिए जाने के बाद लिखा गया था। अनुवादक को इस बात की जानकारी थी और इसलिए उन्होंने 'इंडियन ओपिनियन' की फाइल का बारीकी से अध्ययन किया और जहां भी मेरी स्मृति में संदेह हुआ उन्होंने आवश्यक सुधार करने में कोई संकोच नहीं किया। पुस्तक के पाठकों को इस बात की प्रसन्नता होनी चाहिए कि अब इसमें तथ्य अथवा सामग्री की कोई भी महत्वपूर्ण त्रुटि नहीं रह गई है।'³³ अनुवाद की विश्वसनीयता बढ़ाने की दृष्टि से गांधीजी के उक्त विचार विशेष तौर पर प्रासंगिक कहे जा सकते हैं। प्रो. हेमचंद्र पांडे के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'महात्मा गांधी का उक्त कथन व्यावहारिक अनुवादकों के लिए दिशा-निर्देश का काम कर सकता है। यदि अनुवादक को मूल पाठ में दिए गए किसी तथ्य के बारे में संदेह हो रहा हो तो उसे चाहिए कि आवश्यक स्रोत से तथ्य की जांच कर लें और अपने अनुवाद में आवश्यक टिप्पणी जोड़ दें।'³⁴

अनूदित पाठ की प्रामाणिकता को बनाए रखने के लिए गांधीजी मूल लेखक से संपर्क तक को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने मित्र के द्वारा लियो टॉलस्टॉय के 'एक हिंदू के नाम पत्र' के अनुवाद की प्रामाणिकता को पुष्ट करने के लिए टॉलस्टॉय को पत्र लिखा कि 'हम इस पत्र (अनूदित) को तभी छापना चाहेंगे जब हम इसकी सही-सही जांच कर लें और आश्वस्त हो जाएं कि यह आपका ही पत्र है। जो प्रति हमें प्राप्त हुई उसकी एक नकल आपको भेज रहा हूँ और आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप हमें सूचित कर सकें कि यह आपका ही पत्र है, कि यह प्रति सही है और आप इस रूप में इसके प्रकाशन का अनुमोदन करते हैं।'³⁵ प्रो. हेमचंद्र पांडे ने गांधीजी के इस प्रयास को अनुवादक में धैर्य के गुण से जोड़कर देखा है। उन्होंने लिखा है कि 'इससे यह भी पता चलता है कि अनुवादक में धैर्य का गुण भी होना चाहिए क्योंकि उस जमाने में दक्षिण अफ्रीका से भेजे पत्र को रूस तक पहुंचने में काफी अधिक समय लगा होगा। त्वरित संप्रेषण के वर्तमान युग में प्रत्येक अनुवादक इतना अधिक धैर्य शायद ही रखता हो।'³⁶ इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अनूदित पाठ की प्रामाणिकता एक महत्वपूर्ण निकष है और इस पर खरा उतरने के लिए अनुवादक में धैर्य का गुण होना चाहिए।

(ix) **नई भाषा सीखकर अनुवाद में योगदान** : गांधीजी इस तथ्य से भली-भांति वाकिफ थे कि नई भाषा सीखने से व्यक्ति दूसरी भाषा की शब्दावली और विशिष्ट अभिव्यक्तियों से लाभावित होता है। सीखी गई नई भाषा से व्यक्ति को अनुवाद करने की प्रेरणा मिलती है, उसे जांचने-परखने में मदद मिलती है। गांधीजी का तमिल भाषा ज्ञान इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसकी वजह से वे 'इंडियन ओपिनियन' के तमिल स्तंभ में शामिल की जाने वाली सामग्री का निरीक्षण-मूल्यांकन कर पाते थे। 6 नवंबर 1905 को छगनलाल गांधी को लिखे गांधीजी के पत्र की यह पंक्ति विशेष तौर पर ध्यान देने की है कि 'जिस व्यक्ति ने अनुवाद किया है उसका ज्ञान अल्प ही है, ऐसा मैंने अनुभव किया।'³⁷

(x) **नव शब्द निर्माण और अनुवादक** : अनुवादक लक्ष्य भाषा में विभिन्न स्रोतों से आए शब्दों का प्रयोग करते हुए अनुवाद करता है। लेकिन, कभी-कभी जब नया और मौलिक विचार या अवधारणा आदि जन्म लेती है तो उसके लिए अनुवादक को नया शब्द तक गढ़ना पड़ जाता है। गांधीजी ने नव शब्द निर्माण में भी अपना योगदान दिया है। उनके द्वारा गढ़ा गया 'सत्याग्रह' शब्द इसका प्रमाण है। गांधीजी ने अपनी विचार-प्रस्तुति में 'हरिजन', 'ग्राम स्वराज' और 'सर्वोदय' जैसे शब्दों को व्यवहृत करके हमारी भाषाओं को कुछ विशिष्ट शब्द प्रदान किए। इनसे भाषायी शब्द भंडार में तो वृद्धि हुई ही, साथ ही ज्ञान की नई अवधारणाएं भी सामने आईं। आज स्थिति यह हो चुकी है कि राजनीति विज्ञान, ग्रामीण विकास आदि जैसे अनेकानेक क्षेत्रों में ये पारिभाषिक शब्दों के रूप में व्यवहृत हो रहे हैं।

(xi) **'अनुवाद की राजनीति' और गांधीजी** : अनुवाद सैद्धांतिकी में आजकल 'अनुवाद की राजनीति' की अकसर चर्चा की जाती है। 'अनुवाद की राजनीति' का शाब्दिक अर्थ है - अनुवाद करने में राजनीति। यह सही है कि अनुवाद करते समय अनुवादक स्रोत भाषा के कथ्य को लक्ष्य भाषा में अभिव्यक्त करता है। लक्ष्य भाषा में अंतरण का यह कार्य अनुवादक, दोनों भाषाओं और उनकी संस्कृतियों के अपने ज्ञान-विवेक तथा विषय-बोध के आधार पर अर्थ और संदर्भ को आत्मसात करके करता है। लेकिन यह कार्य सहज नहीं है। जाने-अनजाने यह अंतरण किसी न किसी रूप में हो ही जाता है, किसी न किसी मात्रा में चूक हो जाती है या कर दी जाती है। इस तरह की कमी या चूक के मूल में निहित राज या नीति को समझना ही अनुवाद की राजनीति है। अनुवाद (अनूदित पाठ) का गलत इस्तेमाल करना या अनूदित पाठ को अपने नजरिए, अपनी विचारधारा की चाशनी में लपेटकर प्रस्तुत करना 'अनुवाद की राजनीति' है।

गांधीजी को अनुवाद की इस राजनीति का प्रत्यक्ष बोध था क्योंकि उनका काल-खंड ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल का था। इस कालखंड में भारत अंग्रेजों की गुलामी के विरुद्ध आजादी की लड़ाई लड़ रहा था। अंग्रेजों का दमन-शोषण चक्र जारी था। इस दमन-शोषण की प्रक्रिया में ही गांधीजी के द्वारा 1910 में दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित 'हिन्द स्वराज' के प्रचार पर भारत में बंबई सरकार ने 24 मार्च 1910 को प्रतिबंध लगा दिया था। किंतु गांधीजी इस राजनीति के समक्ष नहीं झुके और फिर उन्होंने गुजराती संस्करण के स्वयं किए गए अंग्रेजी अनुवाद को प्रकाशित करने का निर्णय लिया। प्रकाशित अनूदित संस्करण की 'भूमिका' में उन्होंने निर्भीकता से यह लिखा भी है कि 'I do not know why Hind Swaraj has been seized in India. To me, the seizure constitutes further condemnation of the civilization represented by the British

Government. There is in the book not a trace of approval of violence in any shape or form. The methods of the British Government are, undoubtedly, severely condemned. To do otherwise would be for me to be a traitor to Truth, to India, and to the Empire to which I owe allegiance. My notion of loyalty does not involve acceptance of current rule or government, irrespective of its righteousness or otherwise. Such notion is based upon the belief not in its present justice or morality but— in a future acceptance by Government of that standard of morality in practice which it at present vaguely and hypocritically believes in, in theory. But I must frankly confess that I am not so much concerned about the stability of the Empire as I am about that of the ancient civilization of India which, in my opinion, represents the best that the world has ever seen.' (मुझे पता नहीं कि 'हिंद स्वराज' पुस्तक भारत में जब्त क्यों कर ली गई? मेरी दृष्टि में तो यह जब्ती ब्रिटिश सरकार जिस सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती है उसके निंद्य होने का अतिरिक्त प्रमाण है। इस पुस्तक में हिंसा का तनिक-सा भी समर्थन कहीं किसी रूप में नहीं है। हां, उसमें ब्रिटिश सरकार के तौर-तरीकों की जरूरत कड़ी निंदा की गई है। अगर मैं यह न करता तो मैं सत्य का, भारत का और जिस साम्राज्य के प्रति वफादार हूं उसका द्रोही बनता। वफादारी की मेरी कल्पना में वर्तमान शासन अथवा सरकार को, उसकी न्यायशीलता या उसके अन्याय की ओर से आंखें मूंदकर चुपचाप स्वीकार कर लेना नहीं आता। न्याय और नीति के नाम पर वह आज जो कर रही है उसे मैं नहीं मानता बल्कि मेरी वफादारी की यह कल्पना इस आशा और विश्वास पर आधारित है कि नीति के जिस मानदंड को सरकार आज अस्पष्ट और पाखंडपूर्ण ढंग पर सिद्धांत रूप में स्वीकार करती है उसे वह भविष्य में कभी व्यवहार में भी स्वीकार करेगी। मुझे साफ तौर से मान लेना चाहिए कि मुझे ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व से इतना सरोकार नहीं है जितना भारत की प्राचीन सभ्यता के स्थायित्व से है; क्योंकि मेरी मान्यता है कि वह संसार की सर्वोत्तम सभ्यता है।)³⁸

वैसे, गांधीजी के संदर्भ में ही 'अनुवाद की राजनीति' का एक अन्य पक्ष उस समय भी नजर आता है जब वे 'इंडियन ओपिनियन' के मुस्लिम पाठकों के लिए हजरत मुहम्मद की वॉशिंगटन इरविंग की अंग्रेजी जीवनी 'लाइफ ऑफ द प्रॉफेट' का गुजराती में अनुवाद प्रकाशित करते हैं। इसके पांचवें प्रकरण में मुहम्मद साहब की शादी का विवरण पढ़कर मुस्लिम पाठक नाराज हो जाते हैं और उनके दबाव में गांधीजी को उसका प्रकाशन बंद करना पड़ता है। गांधीजी को इसका अफसोस है कि अनुवाद में की गई मेहनत व्यर्थ हो गई। ('इंडियन ओपिनियन', गुजराती, 31 अगस्त 1907)³⁹ स्पष्ट है कि यह गांधीजी का अनुवाद की राजनीति संबंधी बोध ही था जो बाहरी दमनकारी ताकत के खिलाफ तो कड़े से कड़े शब्दों का प्रयोग करने और अनुवाद करके प्रकाशित कराने के दृढ़ निश्चय को उभारने का आधार बना, वहीं किसी संप्रदाय-विशेष की धार्मिक भावनाएं आहत न हों इसलिए वे वॉशिंगटन इरविंग की अंग्रेजी जीवनी का अनुवाद न करने तक का निर्णय ले लेते हैं। इसे 'अनुवाद की राजनीति' में गांधीजी का महत्वपूर्ण योगदान ही कहा जाएगा कि कहां इस राजनीति को दरकिनार करना है और कहां नहीं।

निष्कर्ष :

राजनीति, समाज-सुधार, आर्थिक नव-विकल्प एवं व्यवस्थात्मक परिवर्तन पर अमूल्य चिंतन करने वाले महान राष्ट्रनिर्माता महात्मा गांधी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व नए-नए अर्थ-संदर्भों एवं स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आज भी गहन अध्ययन-विवेचन की अपेक्षा रखता है। उनके विचार वर्तमान समाज में भी प्रासंगिक सिद्ध हो रहे हैं- भले ही वे मानवाधिकारवादी दर्शन के निकष पर परखे जाएं या फिर स्त्री विमर्श, जल संकट, पर्यावरण, सतत विकास या फिर उदारवादी भूमंडलीकरण के रचनात्मक विकल्प के रूप में स्वदेशी के संदर्भ में। ऐसी परिस्थिति में बहुभाषा-भाषी गांधीजी की अनुवाद-साधना, उनके अनुवादक रूप पर चर्चा भी उसी क्रम में एक प्रयास है जो यह सिद्ध करता है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में अनुवाद को एक जरिया बनाकर उन्होंने स्वयं अनुवाद-साधना भी की और अपनी रचनाओं के 'अनुवादों की भूमिकाओं' आदि में अनुवाद संबंधी विचार भी व्यक्त किए। इसके अलावा, उन्होंने अपने जीवन में 'भाषांतरकार' और अनूदित सामग्री को जांचने-परखने वाले अर्थात् 'पुनरीक्षक' की भूमिका निभाने और कोश निर्माण कार्य करने के साथ-साथ अनुवाद संबंधी व्यावहारिक नियम प्रस्तुत किए। ये नियम आज के और भावी अनुवादकों के लिए महत्वपूर्ण हैं, प्रासंगिक हैं। सार रूप में यही कहा जा सकता है कि अनुवाद व्यवहार के व्यापक आयामों के आलोक में अनुवाद सैद्धांतिकी निर्माण और समृद्धि में गांधीजी का अवदान अतुलनीय है।

संदर्भ :

1. 'हिंद स्वराज' ('Preface to 'INDIAN HOME RULE' और 'हिंद स्वराज' के अनुवाद की भूमिका), Appendix-2 और परिशिष्ट-2, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2009, पृ.286-297
2. 'सत्य के प्रयोग' अथवा आत्मकथा, अनुवादक-काशीनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1957/2005, चौथा भाग, अध्याय 18, पृ.271
3. 'गांधी : समय, समाज और संस्कृति', विष्णु प्रभाकर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ.123
4. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 6, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 286
5. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 6, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 289
6. 'गांधी : समय, समाज और संस्कृति', विष्णु प्रभाकर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ.123
7. 'दि सेलेक्टिड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', भाग 4, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1997, पृ. 262
8. 'गांधी : पत्रकारिता के प्रतिमान', कमल किशोर गोयनका, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 281
9. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 5, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 262

10. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 6, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 286
11. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 6, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 289
12. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 6, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 364
13. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 6, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 369
14. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 7, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 193
15. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड 7, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 205
16. 'सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा', अनुवादक-काशीनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1957/2005, पहला भाग, अध्याय 22, पृ.70
17. 'दि सेलेक्टड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', भाग 4, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1997, पृ. 211
18. 'अनुवादशास्त्र : व्यवहार से सिद्धांत की ओर', प्रो. हेमचंद्र पांडे, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2008, पृ.128
19. 'अनुवाद' पत्रिका ('अनूदित पाठों का शिक्षण : कुछ विषय-अध्ययन, प्रो. अवधेश कुमार सिंह, अनुवादक- डॉ. हरीश कुमार सेठी), भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, अंक-158, जनवरी-मार्च 2014, पृ. 57
20. 'अनुवाद' पत्रिका ('अनूदित पाठों का शिक्षण : कुछ विषय-अध्ययन, प्रो. अवधेश कुमार सिंह, अनुवादक- डॉ. हरीश कुमार सेठी), भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, अंक-158, जनवरी-मार्च 2014, पृ. 57
21. 'गांधी, आम्बेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं', डॉ.रामविलास शर्मा (जातीय भाषा और राष्ट्रभाषा), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 405-406
22. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-29, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 200-201
23. 'इंडियन एक्सप्रेस', 15 अगस्त 2004 (अनुवादशास्त्र : व्यवहार से सिद्धांत की ओर, प्रो. हेमचंद्र पांडे), तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2008, पृ.124
24. 'हिंद स्वराज' ('Preface to 'INDIAN HOME RULE' और 'हिंद स्वराज' के अनुवाद की भूमिका), Appendix-2 और परिशिष्ट 2, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2009, पृ.xii-xiii
25. 'गांधी : पत्रकारिता के प्रतिमान', कमल किशोर गोयनका, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 282

26. 'गांधी : पत्रकारिता के प्रतिमान', कमल किशोर गोयनका, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 284
27. 'स्मारिका' (23 सितंबर, 1994 को संपन्न नातालि एवं द्विवागीश सम्मान-अर्पण के अवसर पर प्रकाशित), संपा. डॉ. गार्गी गुप्त, भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, पृ. 53
28. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-20, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 539
29. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-83, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 133
30. 'हिंद स्वराज' ('Preface to 'INDIAN HOME RULE' और 'हिंद स्वराज' के अनुवाद की भूमिका), Appendix-2 और परिशिष्ट 2, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2009, पृ.286-297
31. 'गांधी : समय, समाज और संस्कृति', विष्णु प्रभाकर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ.123
32. 'सत्य के प्रयोग' अथवा 'आत्मकथा', अनुवादक- काशीनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1957/2005, चौथा भाग, अध्याय 26, पृ. 291
33. 'दि सेलेक्टिड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', भाग-3, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1997, पृ. viii
34. 'अनुवादशास्त्र : व्यवहार से सिद्धांत की ओर', प्रो. हेमचंद्र पांडे, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2008, पृ.126
35. 'दि सेलेक्टिड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', भाग-5, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1997, पृ. 12-13
36. 'अनुवादशास्त्र : व्यवहार से सिद्धांत की ओर', प्रो. हेमचंद्र पांडे, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2008, पृ.127
37. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-5, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 262
38. 'हिंद स्वराज' ('Preface to 'INDIAN HOME RULE' और 'हिंद स्वराज' के अनुवाद की भूमिका), Appendix-2 और परिशिष्ट 2, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2009, पृ.286-287 एवं 297-298
39. 'संपूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-7, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली तथा नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 205



सोशल मीडिया का द्वार और हिंदी का ज्वार

प्रभात रंजन

पिछले एक साल के दौरान सोशल मीडिया के ऊपर हिंदी दो उल्लेखनीय पुस्तकें दो उल्लेखनीय प्रकाशकों के यहां से प्रकाशित हुई हैं। 2014 में हार्पर कालिन्स पब्लिशर्स इंडिया से पुस्तक आई है 'सोशल मीडिया : संपर्क क्रांति का कल, आज और कल'। जिसके लेखक हैं स्वर्ण सुमन। दूसरी पुस्तक 'नया मीडिया : अध्ययन और अभ्यास' है। पुस्तक 2015 में आई है प्रकाशक पेंगुइन बुक्स और शालिनी जोशी एवं शिवप्रसाद जोशी इस पुस्तक के लेखकद्वय हैं। एक बात और उल्लेखनीय है वह यह कि दोनों पुस्तकें मूल रूप से हिंदी में लिखी गई है। ईमेल से शुरू होकर ब्लॉगिंग, फेसबुक आदि के माध्यम से सोशल मीडिया ने जितने कम समय में व्यवहार से सिद्धांत की यह यात्रा तय की है वह बहुत महत्वपूर्ण है। सबसे नई जानकारी यह है कि दिल्ली विश्वविद्यालय में सीबीसीएस के अंतर्गत हिंदी विभाग द्वारा जो पाठ्यक्रम तैयार किया गया है उसमें सोशल मीडिया का एक अलग से पत्र है और मीडिया से जुड़े अन्य पत्रों में भी उसे पर्याप्त महत्व दिया गया है।

आमतौर पर हिंदी और हिंदी वालों की छवि यह रही है कि तकनीकी को अपनाने में उन्होंने हमेशा सुस्ती दिखाई है। पहले जी भर उसका विरोध किया है, फिर तब जाकर उसे अपनाया है जब उसे अपनाना अपरिहार्य जैसा लगने लगा हो। यह तथ्य है कि हिंदी वालों ने कंप्यूटर को अपनाने में भले बहुत देरी की हो, इंटरनेट पर उपयुक्त फॉन्ट को लेकर शोध और प्रयोग में सुस्ती दिखाई हो लेकिन एक बार गूगल ट्रांसलिट्रेशन ने जब शब्दों के उच्चारण को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों के माध्यम से हिंदी शब्द टाइप करने विधि सफलतापूर्वक ईजाद की तो जैसे कंप्यूटर से लेकर एंड्रायड फोन एवं अन्य उपकरणों में जैसे हिंदी प्रयोग को लेकर जैसे क्रांति आ गई।

2006 के बाद इस क्रांति का पहला प्रस्फुटन ब्लॉगिंग के रूप में दिखाई दिया। हिंदी में उस दौरान करीब 50 ब्लॉग्स सक्रियतापूर्वक सक्रिय थे। 'मोहल्ला', 'कस्बा', 'हुंकार', 'चवन्नी चैप', 'कबाड़खाना', 'अजदक', 'चोखेर बाली' जैसे कुछ ब्लॉग आज भी याद आते हैं- अपने विषयवस्तु के कारण और अपने सार्थक हस्तक्षेप के कारण। इन्होंने हिंदी में नए संचार माध्यम के इस विकल्प का इस्तेमाल करते हुए दो-एक सालों के बीच ऐसा माहौल तैयार कर दिया कि हिंदी का सामंती साहित्यिक ढांचा पहली बार दरकता दिखाई देने लगा। पहली बार यह अहसास हुआ कि हिंदी के नए लेखकों की ऐसी पौध आई है जिसने एक दुनिया समानांतर तैयार कर दिया है। 'दैनिक

हिंदुस्तान' और 'जनसत्ता' जैसे प्रमुख राष्ट्रीय समाचारपत्रों में ब्लॉगिंग। ब्लॉग्स को लेकर नियमित स्तंभ प्रकाशित होने लगे। जिसकी वजह से जो लोग सीधे तौर पर ब्लॉग देख-पढ़ नहीं पा रहे थे उन तक ब्लॉग्स के माध्यम से हो रही इस नई क्रांति की खबर पहुंचने लगी। छह-सात साल पहले तब बहस यह होने लगी थी कि हिंदी में दो तरह के लेखक हैं, एक जो साहित्य लिखते हैं और दूसरे वे जो ब्लॉग लिखते हैं। सोशल मीडिया के माध्यम से हिंदी की दुनिया में बदलाव लाने के प्रयास के इस पहले दौर की ऐतिहासिकता को जरूर रेखांकित किया जाना चाहिए।

ऊपर बताई गई दोनों ही पुस्तकों को पढ़ते हुए यह बात समझ में आती है कि तकनीक का कोई भी दौर स्थिर नहीं होता। उसके रूप तेजी से परिवर्तित, परिवर्धित होते रहते हैं। ब्लॉगिंग के दौर में ऑरकुट के माध्यम से सोशल मीडिया का एक मंच विकसित हो रहा था था लेकिन गूगल हिंदी इनपुट के सहज सुलभ होते जाने, उसके प्रयोगकर्ताओं के बढ़ते जाने, एंड्रायड फोन पर गूगल हिंदी इनपुट की उपलब्धता के कारण फेसबुक पर हिंदी प्रयोगकर्ता बढ़ने लगे। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि हिंदी में ब्लॉगिंग धीरे धीरे अप्रासंगिक होती चली गई। इसका कारण बहुत साफ था। अपने विचारों को खुलकर अभिव्यक्त करने, जो ब्लॉगिंग का आधार था, के लिए फेसबुक जैसा अधिक सक्रिय मंच मिल गया। उसके बाद वही ब्लॉग बचे जो विषय विशिष्ट रहे।

यह रूपांतरण, यह बदलाव क्यों बड़ा है इस बात को समझने के लिए उस पृष्ठभूमि को समझने की जरूरत है जिसको सोशल मीडिया ने सकारात्मक रूप से बदला। हिंदी में 1990 के दशक को मुख्य रूप से याद किया जाता है टीवी के विस्तार के लिए, इसी दौर में हिंदी में 24 घंटे प्रसारित होने वाले टीवी चैनलों का आगमन हुआ। इसी दौर में दशकों पुरानी पारिवारिक पत्रिकाएं जैसे 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'धर्मयुग' आदि बंद होने लगीं। हिंदी में पठन-पाठन वाल भद्र समाज सिमटने लगा। 90 के इस दशक को टीवी क्रांति, आर्थिक उदारीकरण के लिए याद किया जाता हो, मगर हिंदी साहित्य में इस दौर को संकट के काल के रूप में याद किया जाता है। बाजारवाद को लेकर अगर हिंदी साहित्य में विरोध का मुहावरा अगर व्यापक स्तर पर बना तो उसके पीछे के इस संकट को समझे जाने की जरूरत है। अकारण नहीं है कि हिंदी कविताओं में, कहानियों में, उपन्यासों में बाजारवाद को, भूमंडलीकरण को बड़े शत्रु के रूप में देखा गया। असल में अचानक हुए इस बदलाव को हिंदी के लेखक जब तक समझ पाते तब तक उनकी जमीन खिसक चुकी थी।

ऐसा नहीं है कि आर्थिक उदारीकरण के इस आरंभिक दौर में हिंदी की साहित्यिक दुनिया में कुछ सकारात्मक न हुआ हो। इसी दौर में स्त्री लेखन, दलित विमर्श साहित्य के केंद्र में आया। मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी, विनोद कुमार शुक्ल जैसे लेखकों ने जैसे हिंदी उपन्यास की विधा का पुनराविष्कार किया, उसे पुनर्नवा बना दिया लेकिन इसी दौर में हिंदी सबसे बड़े स्तर पर लघु पत्रिकाओं में सिमटती जा रही थी, विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में निपटती जा रही थी। हिंदी साहित्य का यह युग लेखक प्रधान नहीं बल्कि आलोचक प्रधान बन गया।

90 का दशक समाप्त होते होते 24 घंटे के टीवी चैनलों का दौर आया जो देखते देखते हिंदी मीडिया का मुख्य चेहरा बनने लगा और उसके दबाव में प्रिंट मीडिया पर पहला असर इस रूप में दिखाई देने लगा कि उसमें से साहित्य का स्पेस धीरे धीरे गायब होने लगा या कह सकते हैं सिमटने लगा। यह बहुत बड़ा बदलाव है कि 90 के दशक तक जिस बौद्धिकता को प्रिंट पत्रकारिता का

मानक माना जाता था अगले दस सालों में वह समाचार पत्रों की बाधा के रूप में देखा जाने लगा। 'जनसत्ता' अखबार का उदाहरण दिया जा सकता है। उसकी सबसे बड़ी आलोचना ही यह कहकर की जाती है कि उसमें समाचार से अधिक विचार को महत्व दिया जाता है।

बहरहाल, लोकप्रियता पैमाना बनने लगा और साहित्य इस दौर में पिछड़ने लगा। साहित्य अचानक से लघु पत्रिकाओं के आंदोलन का हिस्सा बन गई। यह माना जाने लगा कि हिंदी के पाठक खत्म हो गए, हिंदी में पुस्तकें पुस्तकालयों के अलावा कहीं नहीं बिकती हैं, वगैरह, वगैरह। बीच में कुछ सकारात्मक झोंके आते थे, जैसे 1996 में 'कलिकथा वाया बाईपास' के रूप में आया, जिसने निर्णायक रूप से यह दिखा दिया कि हिंदी में पाठकों की कमी नहीं है। अगर कटेंट उसके मतलब का हो, लेखन में ताजगी हो तो वह आगे बढ़कर किताबों को अपनाने में हिचकने वाला नहीं है।

हिंदी का बाजार बढ़ता जा रहा था लेकिन साहित्यिक हिंदी सिमटती जा रही थी। पहले के दौर में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य का प्रचार-प्रसार पाठकों तक हो जाता था लेकिन 'फूड एंड फैशन' दौर की पत्रकारिता में जबकि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का विस्तार हो रहा था लेकिन उसमें साहित्य का स्थान न के बराबर होता जा रहा था। साहित्यिक पुस्तकों का, पत्र-पत्रिकाओं का अपना कोई नेटवर्क विकसित नहीं हो पाया था या कह सकते हैं कि जो विकसित नेटवर्क था वह सिमट चुका था। वह संकट का काल था।

ऐसा नहीं है कि अब संकट का वह दौर पूरी तरह से बीत चुका है, लेकिन एक बड़ा संकट जो था वह था ऐसे मंच का अभाव जो व्यापक स्तर पर हिंदी समाज में सूचनाओं का संचरण करे, बड़े पैमाने पर हिंदी समाज को जोड़े, बड़े पैमाने पर उनके बीच संवाद को संभव बनाए- ब्लॉगिंग, वेबसाइट्स के बाद फेसबुक जैसे माध्यम ने इसको संभव बना दिया है। यह सही है कि आरंभ में ये माध्यम भड़ास निकालने के माध्यम के रूप में सामने आए। यानी इसके माध्यम से आपसी दुश्मनी निकाली जाने लगी, हिंदी के तथाकथित सामंती मठाधीशों की हवा निकाली जाने लगी लेकिन यह हर माध्यम के साथ शायद होता है। आरंभ में उसका उपयोग निरुद्देश्य होता है, अराजक होता है। बाद में उसका स्थित संयत चेहरा सामने आने लगता है। इंटरनेट और उससे जुड़े सभी अनुप्रयोगों के बारे में यही कहा जा सकता है कि पहले उसे आश्चर्यलोक के रूप में देखा गया, उन्मुक्तता के साथ उसका प्रयोग किया गया बाद में हिंदी वालों ने उसका सबसे बेहतरीन उपयोग किया।

बहरहाल, सोशल मीडिया का हिंदी में विस्तृत पैमाने पर अनुप्रयोग शुरू हुए अभी ठीक से पांच साल भी नहीं हुए हैं लेकिन इसके सकारात्मक संकेत दिखाई देने लगे हैं। इसने सबसे बड़ा मिथ यह तोड़ा है कि हिंदी में पाठक नहीं हैं। आज कम से कम पांच ऐसे साहित्यिक वेबसाइटें/ब्लॉग हैं जिनकी पाठक संख्या लाखों में है। वह भी बिना किसी सनसनी के, बिना अश्लीलता परोसे जबकि यह आम धारणा रही है कि जो मूल्यहीन साहित्य होता है, जो लोकप्रियता के मानदंडों के ऊपर आधारित होता है उसका ही बड़ा पाठक वर्ग होता है। उदाहरण के रूप में जासूसी, रूमानी साहित्य की धारा का जिक्र किया जाता रहा है लेकिन सोशल मीडिया ने यह दिखा दिया है कि अच्छे और बुरे साहित्य के सांचे अकादमिक ही हैं। फेसबुक जैसे माध्यम हों या ब्लॉग्स, वेबसाइट्स तथाकथित गंभीर समझे जाने वाले, वैचारिक कहे जाने वाले साहित्य के लिए पाठक कम नहीं हैं बल्कि बढ़े ही हैं। यह बात कही जा सकती है कि टीवी क्रांति के दौर में जो पाठक हिंदी से जुदा हो गया था सोशल

मीडिया ने उसकी वापसी करवा दी है।

लेखकों के बीच आपसी संवाद न के बराबर रह गया था, पत्र-पत्रिकाओं के बारे में जानकारी मुहैया करवाने का कोई जरिया नहीं रह गया था। आज हिंदी के अधिकतर सक्रिय लेखक सोशल मीडिया पर सक्रिय हैं। वे सचमुच में अपने पाठकों से संवाद कर पा रहे हैं। अगर हम उदार होकर देखें तो हिंदी की बड़ी वैचारिक साहित्यिक बहसें सोशल मीडिया के माध्यम से बड़े स्तर पर चली। कई बहसों में देश भर के लोगों ने हिस्सा लिया। वास्तविक समाज के बड़े और जरूरी विकल्प के रूप में सोशल मीडिया दिखाई देने लगा है।

कुछ समय पहले तक पुस्तकों के प्रचार का एकमात्र सुगम माध्यम पत्रिकाओं में समीक्षा प्रकाशित करवाना होता था। लघु पत्रिकाओं के पाठक सीमित होते हैं, बड़ी पत्र पत्रिकाएं हिंदी में न के बराबर रह गई हैं। ऐसे में जिन पुस्तकों की समीक्षाएं छप जाती थीं उनके बारे में तो पाठकों को पता चल जाता था लेकिन अनेक अच्छी पुस्तकें भी समीक्षाओं के प्रकाशन न होने के कारण गुमनाम रह जाती थीं। पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा के लिए चयन का आधार अक्सर जनतांत्रिक नहीं होता है जिसकी वजह से जरूरी नहीं है कि गुणवत्ता के आधार पर ही समीक्षा के लिए पुस्तकों का चयन किया जाए लेकिन आज सोशल मीडिया के कारण अचानक से पत्रिकाओं में की जाने वाली समीक्षाओं की वह तानाशाही जाती रही। आज सोशल मीडिया पर किसी पुस्तक की खूब चर्चा हो जाए तो वह अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

अब लेखकों-प्रकाशकों दोनों ने इस बात को समझ लिया है। वाणी, राजकमल, पेंगुइन इंडिया, हार्पर कॉलिंग्स जैसे सभी प्रमुख प्रकाशकों के न केवल फेसबुक पेज हैं बल्कि उसके माध्यम से वे वहां पुस्तक प्रचार की सुविधा का लाभ भी जमकर उठाते हैं। सोशल मीडिया के कारण हिंदी लेखकों का खोया हुआ ग्लैमर वापस आने लगा है, भले ही सीमित तौर पर। उसके खोए हुए प्रशंसक-पाठक उसे वापस मिलने लगे हैं।

इसके साथ-साथ ऑनलाइन पुस्तक बाजार में हिंदी की मौजूदगी ने भी इस माहौल को बदलना शुरू किया है। पहले ऑनलाइन पुस्तक खरीद के विकल्प कम थे। **फ्लिपकार्ट.कॉम** उनमें सबसे बड़ा था जिसकी पहुंच आम तौर पर ऐसे शहरों में ही थी जहां पुस्तकें पहुंचाना अधिक सुविधाजनक हो। आज बहुराष्ट्रीय कंपनी **अमेजन** के भारत में आने के कारण हिंदी किताबें अब छोटे शहरों में भी घर बैठे प्राप्त होने लगी हैं। हिंदी पट्टी का सबसे बड़ा संकट था ऐसी किताब की दुकानों का अभाव जहां नियमित रूप से हिंदी पुस्तकें उपलब्ध हो सकें। बुक स्टोर चैन से पहले के दौर में भी इसका अभाव था, उसके बाद के दौर में भी यह कमी पूरी नहीं हो पाई है।

ऑनलाइन पुस्तकों के बाजार ने हिंदी के नए प्रकाशकों को जोखिम उठाने के लिए प्रोत्साहित किया है। यहां हिंद युग्म प्रकाशन का उदाहरण जरूर दिया जाना चाहिए। पहले यह वेबसाइट था। धीरे धीरे यह प्रकाशक बन गए और आज हिंदी से अलग पृष्ठभूमि के लेखकों के बड़े प्रकाशन मंच के रूप में हिंद युग्म को देखा जाता है। प्रमुख रूप से ऑनलाइन विक्री के माध्यम से हिंद युग्म ने न केवल नई तरह के लेखक पैदा किए हैं बल्कि हिंदी में नए तरह के पाठक भी पैदा किए हैं। इस प्रकाशन ने पिछले साल अनजान सी लेखिका अनु सिंह चौधरी के कहानी संग्रह 'नीला स्कार्फ' को महज ऑनलाइन सेल द्वारा हजारों में बेचकर इस बात का मजबूती से अहसास करवाया था कि

हिंदी में रूढ़ि से हटकर लिखने वाले लेखकों के लिए एक अच्छा पाठक वर्ग तैयार हो गया है।

इसी तरह दखल प्रकाशन ने भी वैकल्पिक प्रकाशन की दिशा में अच्छी संभावना जगाई है। पाठकों को ध्यान में रखकर किताबों के प्रकाशन के माध्यम से इसमें महज दो साल से भी कम अवधि में अपनी अच्छी पहचान बनाई है। यह बड़ा बदलाव है जो सोशल मीडिया और ऑनलाइन बिक्री के माध्यम से संभव होता दिख रहा है। यह जरूर है कि यह बिक्री अभी बहुत अधिक नहीं है मगर आने वाले समय में इसमें जरूर बढ़त होगी। एक तो हिंदी पट्टी में परचेजिंग पावर में पहले से बढ़ोतरी हुई है, साक्षरता दर में वृद्धि हुई है। जिसकी वजह से आने वाले समय में इस बाजार के बढ़ते जाने की संभावना है। कस्बों में पहले हिंदी पुस्तकों की उपलब्धता का न होना उसकी कम बिक्री का बड़ा कारण था। अब ऑनलाइन बाजार इस कमी को दूर कर रहा है। हालांकि यह अभी इस नए बाजार की शैशवावस्था है लेकिन इसका विस्तार आने वाले कुछ सालों में ही बहुत तेजी से होगा।

एक और तकनीकी क्रांति है जिससे हिंदी को जोड़ने की कवायद बड़ी तेजी से चल रही है- ईबुक क्रांति। ईबुक ने अमेरिका, यूरोप में किताबों की दुनिया को किताबों को पढ़ने के तौर-तरीकों को और किताबों के बाजार को पूरी तरह से बदलकर रख दिया है। पुस्तक की दुकानें एक-एक कर बंद होती जा रही हैं जबकि *किंडल ईबुक रीडर* जैसे उपकरणों के माध्यम से पुस्तकें कम कीमत में पाठकों की जेबों में पहुंचती जा रही हैं।

भारत में भी पिछले दो साल के दौरान अमेजन *किंडल ईबुक* का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है। आने वाले समय में भारत में अधिकतर मध्यवर्गीय युवाओं के पास, किशोरों के पास यह उपकरण मोबाइल की तरह उनकी जीवन शैली से जुड़ जाएगा। अंग्रेजी का पुस्तक बाजार इसके लिए पूरी तरह से तैयार है लेकिन हिंदी इसमें बहुत पीछे है।

फिलहाल हिंदी में सबसे लोकप्रिय *न्यूजहंट* नामक वह ऐप है जो एंड्रायड फोन के प्लेटफॉर्म पर उपलब्ध है। इसके ऊपर हर तरह की हिंदी पुस्तकें उपलब्ध हैं और पाठकों में इसकी लोकप्रियता भी बढ़ रही है लेकिन असली चुनौती *अमेजन किंडल* के माध्यम से हिंदी में ईबुक की मौजूदगी बढ़ाने की है। इसकी पहुंच और पढ़ने के अद्वितीय अनुभव के कारण इसकी स्वीकृति भारत में बहुत तेजी से बढ़ रही है। संभावना यह जताई जा रही है कि इस साल के अंत तक करीब एक करोड़ की संख्या में *अमेजन किंडल* की बिक्री हो जाएगी।

सोशल मीडिया पर पुस्तकों के प्रचार-प्रसार का एक नया दौर आएगा जो बेहद प्रतिस्पर्धी होगा, जिसमें किताबों को सभी संभव रूपों में बेचने की होड़ मचेगी। इसका अंतिम फायदा लेखक को ही होगा। उसका ब्रांड बढ़ेगा। हो सकता है कि यह बात साहित्य के मूल्कों के परस्पर विरोधी लगे मगर हिंदी कि धमक बढ़ाने में यह बड़ी भूमिका निभाएगा। अगले चरण की तैयारी शुरू हो चुकी है। तब सही अर्थों में जिम मैकनमारा के शब्दों में कहें तो हिंदी में 'सेकेंड मीडिया एज' की शुरुआत होगी।



हिंदी के तकनीकी विकास का स्वर्णकाल

बालेन्दु दाधीच

तकनीकी क्षेत्र में हिंदी की शक्ति उसकी सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि और तकनीकी विकास में निहित है। हिंदी बोलने-समझने वालों की बड़ी संख्या और मोबाइल फोन, कंप्यूटर, इंटरनेट जैसे सूचना तथा दूरसंचार माध्यमों के साथ उनका बढ़ता जुड़ाव तकनीकी क्षेत्र में हिंदी के विकास की आदर्श पृष्ठभूमि तैयार कर रहा है। यूनिकोड नामक टेक्स्ट एनकोडिंग के आगमन और लोकप्रियता ने तकनीकी माध्यमों में अधिकांश भाषाओं के प्रयोग से जुड़ी बुनियादी समस्याओं का समाधान कर दिया है। हिंदी भी इससे लाभान्वित हुई है। इस बीच, नए तकनीकी माध्यम, विशेषकर इंटरनेट और स्मार्टफोन, ऐसे लोगों को भी हिंदी के निकट ला रहे हैं, जिनके औपचारिक कामकाज में तो हिंदी की कोई भूमिका थी ही नहीं, समुचित तकनीकी साधनों के अभाव में अनौपचारिक कामकाज में भी उसके प्रति उदासीन थे।

सन 2000 के बाद से हिंदी के तकनीकी विकास ने गति पकड़ी है। तकनीक की दुनिया में उसकी लोकप्रियता और दर्जा भी बेहतर हुआ है। सबसे बड़ा परिवर्तन यह है कि अब तकनीकी माध्यमों पर हिंदी का निर्बाध प्रयोग करना संभव है, विशेषकर उन सभी प्लेटफॉर्मों पर, जहां यूनिकोड-समर्थन मौजूद है। आज जबकि कंपनियों को नए बाजारों की तलाश है और भौगोलिक दूरियां खत्म होती जा रही हैं, तब तकनीकी उत्पादों को वैश्विक जरूरतों के लिहाज से विकसित किया जा रहा है। यूनिकोड को समर्थन देने से तकनीकी प्लेटफॉर्मों में बहुभाषीय, बहुलिपीय क्षमता स्वतः आ जाती है। ऐसे में उसका प्रयोग न सिर्फ उपभोक्ताओं की जरूरतों के लिहाज से बल्कि कारोबारी आधार पर भी जरूरी हो गया है। इससे लाभ हिंदी जैसी भाषाओं का हो रहा है।

विंडोज, मैक और लिनक्स के साथ-साथ एंड्रोइड, आईओएस, विंडोज 8/10 मोबाइल और ब्लैकबेरी जैसे ऑपरेटिंग सिस्टमों में यूनिकोड हिंदी का समर्थन मौजूद होने का अर्थ है, हर आमो-खास तक हिंदी की तकनीकी सक्षमता का पहुंच जाना। उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ने पर मांग उठती है और कंपनियों के लिए आकर्षक बाजार उभरता है। ऑफिस सुइट्स से लेकर प्रकाशन-ग्राफिक्स स्टूडियो, इंटरनेट खोज से लेकर ईमेल सेवाओं तक, डेटाबेस से लेकर क्लाउड कंप्यूटिंग, एप्लीकेशंस से लेकर इंटरफेस (सॉफ्टवेयरों का चेहरा-मोहरा), ब्लॉग से लेकर सोशल नेटवर्किंग, समाचार वेबसाइटों से लेकर साहित्यिक कोशों तक हिंदी का विकास और प्रसार जारी है। ऑनलाइन शब्दकोश, ईबुक, विश्वकोश, ऑनलाइन पुस्तकें मौजूद हैं। छोटे-छोटे शहरों से ई-पत्रिकाओं की बाढ़ आई हुई

है। लगभग सभी अच्छे अखबार और टेलीविजन चैनल इंटरनेट पर मौजूद हैं- समाचार पोर्टलों के रूप में या यू-ट्यूब चैनलों के रूप में। मोबाइल गैजेट्स पर उनके एप्स भी लोकप्रिय हो रहे हैं।

विकास के और भी कई आयाम हैं। ध्वनि से पाठ, मशीन अनुवाद, ऑप्टिकल कैरेक्टर रिकॉग्निशन (ओसीआर), हस्तलिपि पहचान जैसे आधुनिक अनुप्रयोग आ गए हैं। कुछ सफल हैं तो कुछ विकास के दौर में। हिंदी में टेक्स्ट इनपुट के लिए अनेक किस्मों के कीबोर्ड तथा आईएमई उपलब्ध हैं। मोबाइल गैजेट्स पर भी हिंदी में लिखना-पढ़ना आसान हो गया है। निष्कर्ष यह कि तकनीकी दृष्टि से हिंदी के प्रयोग और विकास के संदर्भ में विशेष बाधा शेष नहीं है।

अब इन सुविधाओं और तकनीकी सक्षमताओं के प्रयोग का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। कंप्यूटर, स्मार्टफोन और इंटरनेट पर हिंदी का प्रयोग बढ़ा है, क्योंकि सुविधा उपलब्ध हो जाने पर लोग उनका थोड़ा-बहुत प्रयोग करने लगते हैं। बहुत से लोग अंग्रेजी का प्रयोग इसलिए करते हैं क्योंकि हिंदी में खुद को अभिव्यक्त करने की सुविधा नहीं थी या फिर वे खुद इसमें तकनीकी लिहाज से सक्षम नहीं थे। यह बाधा हट जाने के सकारात्मक परिणाम दिख रहे हैं। हिंदी में एसएमएस, ईमेल, सोशल नेटवर्किंग, इंटरनेट खोज, समाचार वेबसाइटों, यू-ट्यूब के हिंदी वीडियो, ब्लॉगों आदि का इस्तेमाल हो रहा है। हिंदी में काम करने के लिए खास किस्म के सॉफ्टवेयर खरीदने की अनिवार्यता खत्म हो जाने से दफ्तरों के कामकाज में भी हिंदी की स्थिति सुधरी है। जिनके लिए अंग्रेजी में काम करने की अनिवार्यता है, उनके बीच भी तकनीकी युक्तियों पर हिंदी के प्रति जिज्ञासा पैदा हुई है। यदि वे खुद टाइप नहीं कर सकते तो कॉपी-पेस्ट कर यदा-कदा हिंदी में संदेश भेजने लगे हैं। तकनीक ने हिंदी का प्रचलन और प्रयोग बढ़ाने में योगदान दिया है, खासकर ब्लॉगिंग, सोशल नेटवर्किंग और सोशल मैसेजिंग प्लेटफॉर्मों ने, क्योंकि मित्रों और रिश्तेदारों के साथ अपनी भाषा में बात करने का आनंद ही कुछ और रहता है।

तकनीकी विश्व में हिंदी की बहार दिखाई देती है- सोशल नेटवर्किंग और ब्लॉगिंग में। इनमें से पहला माध्यम चढ़ाव पर तो दूसरे में ठहराव है। जिस अंदाज में हिंदी विश्व ने फेसबुक को अपनाया है, वह अद्भुत है। दिल्ली और मुंबई जैसे महानगरों को भूल जाइए, लखनऊ, पटना और जयपुर जैसी राजधानियों को भी भूल जाइए, छोटे-छोटे गांवों और कस्बों तक के युवा, बुजुर्ग, बच्चे फेसबुक पर आ जमे हैं और खूब सारी बातें कर रहे हैं- हिंदी में। व्हाट्सएप ने पिछले एक-डेढ़ साल में तेजी से लोकप्रियता हासिल की है। सुखद है कि वहां भी हिंदी को लेकर कोई बाधा नहीं है।

सोशल नेटवर्कों की हिंदी भी अपने आप में विलक्षण है- हिंदी, अंग्रेजी, देशज, तकनीकी, चित्रात्मक और अनौपचारिक शब्दावली से भरी हुई लेकिन है बहुत दिलचस्प। आप चाहें तो इस हिंदी का छिद्रान्वेषण कर उसकी भाषायी सीमाओं, त्रुटियों और विसंगतियों पर थीसिस लिख सकते हैं लेकिन यदि आप हिंदी के प्रसार में दिलचस्पी रखते हैं तो यह तथ्य अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह है तो हिंदी ही। शायद हिंदी की एक अलग खुशबू। कौन जाने आगे चलकर सोशल नेटवर्किंग और ब्लॉगिंग से उपजी शब्दावली, वाक्य-विन्यास और भाषिक प्रवृत्तियां मुख्यधारा की हिंदी पर भी कोई न कोई असर डालें।

पिछले चार-पांच साल में यदि तकनीकी दुनिया में हिंदी से जुड़ी कोई क्रांति दिखाई देती है तो वह है सोशल नेटवर्किंग की क्रांति। चूंकि संदेशों का आदान-प्रदान नेटवर्किंग की मूलभूत

अनिवार्यता और पहचान है, इसलिए वह एक से दो, दो से चार लोगों को आपस में संपर्क करने के लिए प्रेरित कर रही है। और संदेश जब तक अपनी भाषा में न हों, अपने आसपास के परिवेश से जुड़े हुए न हों तब तक न तो बात कहने वाले को तसल्ली देते हैं और न ही उसे सुनने वाले को। अंग्रेजी में संदेश भेजकर देखिए। अगर आपकी मातृभाषा हिंदी है तो आपको एक कसक सी महसूस होगी। लगेगा कि अभिव्यक्ति में वह बात नहीं आई लेकिन उसी को हिंदी, बांग्ला, गुजराती या तमिल में भेजकर देखिए तो सुकून महसूस होगा। अपनी मातृभाषा मां के समान है, जिसके साथ कोई संकोच, कोई परदा, कोई औपचारिकता और कोई आडंबर करने की जरूरत नहीं है। जैसा सोचते हैं, वैसा लिख सकते हैं।

हजारों लोग जो हिंदी में टाइपिंग करना नहीं जानते थे, वे सिर्फ इसलिए टाइपिंग के टूल्स की तलाश में लगे हैं ताकि वे हिंदी में संदेश भेज सकें। दूसरे हजारों लोग ऐसा सफलतापूर्वक कर भी चुके हैं। बहुतों ने खास तौर पर इसीलिए हिंदी में टाइपिंग सीखी है। उनकी छोटी-छोटी टिप्पणियां हिंदी की समन्वित शक्ति में इजाफा कर रही हैं। अच्छी बात यह है कि अब मोबाइल पर हिंदी में बोलकर लिखना भी संभव हो गया है। खासकर एंड्रोइड आधारित मोबाइल फोन में, जहां गूगल वॉयस इनपुट में हिंदी को सक्रिय करना आसान है।

बात सोशल नेटवर्किंग की चल रही थी। क्या वह हमारी भाषा को विकृत भी कर रही है? हां, यकीनन। क्योंकि जिस अंदाज में वह हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा बनती जा रही है, उसमें प्रयुक्त भाषा का बहाव दैनिक जीवन तक भी होना स्वाभाविक है। बहुत से लोग धीरे-धीरे उन शब्दों को अपना लेंगे जिनकी रचना फेसबुक की उर्वर भूमि पर हुई है। किंतु यह भाषा पर है कि वह किस समझदारी के साथ अपने आपको विकृतियों से मुक्त रखते हुए नए शब्दों को अपनाती है।

ब्लॉगिंग पर इन दिनों नए पाठकों तो आकर्षित करने, अपने कंटेंट की ताजगी बनाए रखने और मोटीवेशन बनाए रखने का दबाव है। सोशल नेटवर्किंग के लोकप्रिय होने का प्रभाव ब्लॉगिंग पर पड़ा है और उसमें जिस तेजी के साथ विस्तार आ रहा था, वह गति मंद पड़ी है। कारण, सोशल नेटवर्किंग अपने दोस्तों के साथ जुड़े रहते हुए अपनी बात कहने का मौका देता है और अपेक्षाकृत अधिक सुलभ तथा आसान है। वहां आप जो टिप्पणी कर रहे हैं, वह छोटी सी, अनौपचारिक भी हो सकती है और दूसरों की टिप्पणियां भी इस्तेमाल और शेयर की जा सकती हैं इसलिए अच्छा लिखने का दबाव नहीं है। इस वजह से हर कोई सोशल नेटवर्किंग में कुछ न कुछ कह देता है। ब्लॉगिंग के साथ ऐसा नहीं है। वह अधिक गंभीर और अधिक रचनात्मक माध्यम है। दूसरे, जो लोग सोशल नेटवर्किंग पर सक्रिय हैं, उनके लिए फिर ब्लॉगिंग पर भी सक्रिय बने रहना ज्यादा समयसाध्य हो जाता है जिससे ब्लॉगिंग की विकास दर के साथ-साथ ब्लॉगों के अपडेशन की स्थिति प्रभावित हो रही है।

हालांकि कुछ हद तक इसका अप्रत्यक्ष लाभ हिंदी से ही जुड़े कुछ दूसरे क्षेत्रों को हुआ है, जैसे ई-पत्रिकाओं या वेबसाइटों को। ब्लॉगिंग की दुनिया में मजबूत जगह बना चुके चेहरों को अब यह माध्यम थोड़ा छोटा लगने लगा है और वे अपनी वेब-मौजूदगी को अपग्रेड करने में जुटे हैं। नतीजा है, हिंदी में नई-नई, ताजगी से भरी वेबसाइटों का आगमन। इनमें मोहल्ला, भड़ास4 मीडिया, विस्फोट, तरकश, नुक्कड़, मीडिया खबर, देशकाल, जनादेश, डेटलाइन इंडिया, परिकल्पना, हस्तक्षेप, प्रवक्ता, हिंदी होमपेज, सामयिकी, हिंद युग्म, मीडिया दरबार, चौराहा, मीडिया सरकार, चौराहा, शब्दांकन

फुरसतिया, सृजनगाथा, युगजमाना, जनता जनार्दन, अर्थ काम, साहित्य कुंज, साहित्य शिल्पी, तकनीक.ऑर्ग वगैरह शामिल हैं। हिंदी में स्तरीय साहित्यिक सामग्री के लिए महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की वेबसाइट हिंदीसमयडॉटकॉम खासी लोकप्रिय है। देखते ही देखते ब्लॉगिंग समुदाय की बढ़ती हिंदी में विविधताओं से भरी सामग्री की धारा बह निकली है जो बहुत सजीव, जीवंत और हिंदी की विशुद्ध खुशबू लिए हुए है। हिंदी जगत में जिस किस्म के विवाद, धमाल, उठापटक, हंगामे और बहसों यहां पर भी हैं और शायद इसीलिए इन सबको पढ़ना खांटी हिंदी पाठक के लिए अधिक रुचिकर भी है। अगर किसी घटना को कई कोणों से देखना पढ़ना और समझना चाहते हैं तो हिंदी के युवाओं के उल्लास, उल्लास और रचनाकर्म से भरी इन वेबसाइटों पर एक नजर जरूर डालिए।

इसके बावजूद सब कुछ सुखद, सकारात्मक और आदर्श नहीं है। हिंदी में यूनिकोड एनकोडिंग और इनस्क्रिप्ट के जरिए टेक्स्ट इनपुट, भंडारण आदि के क्षेत्र में मानकीकरण सुनिश्चित हो जाना चाहिए था, जो नहीं हो सका। विभिन्न ऑपरेटिंग सिस्टमों में यूनिकोड में अंकित हिंदी शब्दों, विशेषकर संयुक्ताक्षर आधारित शब्दों में पूर्ण एकरूपता नहीं है। आईएमई की बाढ़ लगी है जिससे टाइपिंग के बहुत सारे तरीके प्रचलित हो गए हैं, खासकर रोमन में टाइप कर हिंदी में परिणाम प्राप्त करने की दर्जनों पद्धतियां मौजूद हैं। कीबोर्ड हार्डवेयर पर देवनागरी के चिह्न आज भी अंकित नहीं होते, और दस्तावेजों में फॉन्ट कनवर्जन की जरूरत अब तक खत्म नहीं हुई है। यह विविधता हिंदी की विशेषता या शक्ति नहीं, बल्कि एक समस्या है। इसका बड़ा कारण मानकीकरण के प्रति आम लोगों के बीच जागरूकता का अभाव है, जिसे बढ़ाने के लिए सरकारों तथा तकनीकी कंपनियों को पहल करने की जरूरत है।

हिंदी में वेबसाइटों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है, लेकिन अंग्रेजी वेबसाइटों की तुलना में उनकी संख्या बमुश्किल एक प्रतिशत होगी। अनेक कंपनियों ने द्विभाषीय (अंग्रेजी-हिंदी) वेबसाइटें और एप्लीकेशन विकसित किए हैं। ई-कॉमर्स वेबसाइटें इसमें बढ़त बनाए हुए हैं। सामान्य व्यवसायों को अभी हिंदीकरण की आवश्यकता महसूस नहीं हो रही, भले ही वे ऐसे उत्पाद और सेवाएं मुहैया कराती हैं जिनका प्रयोग आम, हिंदी-भाषी लोग करते हैं। भविष्य के लिहाज से सोशल नेटवर्किंग, सोशल मैसेजिंग और मोबाइल गैजेट्स की क्रांति से काफी उम्मीदें हैं। अब अपने गैजेट्स में हिंदी टेक्स्ट को देखना असहज नहीं लगता। यह दिखाता है कि एक बड़ी दीवार जरूर टूटी है। यह सिलसिला बढ़ेगा ही, ऐसा लगता है। किंतु यह सोचकर तसल्ली कर लेना घातक होगा कि अनुकूल परिस्थितियों के चलते हिंदी की यह धारा स्वयं गति पकड़ लेगी।

सन 2010 के बाद हिंदी कंटेंट और सुविधाओं के विकास की वृद्धि दर में ठहराव के संकेत हैं। हिंदी को बाहरी उत्प्रेरकों और समर्थन की जरूरत है। हिंदी में तकनीकी शिक्षा, विविध क्षेत्रों में सस्ते तथा मुफ्त सॉफ्टवेयरों और 'आकाश' जैसे सस्ते हार्डवेयरों के विकास, मानकीकरण सुनिश्चित करने, तकनीकी लेखन को बढ़ावा देने, विविधतापूर्ण कंटेंट तथा देसी तकनीकों के विकास और कारोबारी क्षेत्र के कामकाज में हिंदी को प्रोत्साहन देने की जरूरत है। स्थिति दस साल पहले की तुलना में बेहतर हुई है। अनुकूल कदम उठाए जाने पर वह और भी बेहतर हो सकती है।

हिंदी भाषा और लिपि : वर्तमान परिदृश्य

परमानन्द पांचाल

हिंदी भाषा का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना है। शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश से उपजी यह भाषा विभिन्न स्रोतों से शब्द, मुहावरे और प्रयुक्तियां ग्रहण करती हुई विकास की वर्तमान स्थिति तक पहुंची है। कहना, न होगा कि उत्तर में जन्मी इस भाषा का साहित्यिक विकास 'दक्खिनी हिंदी' के रूप में दक्षिण के बहमनी, आदिलशाही, और कुतुबशाही, आदि राज्यों के सुल्तानों के संरक्षण में हुआ था। उन्होंने ही इसे 'हिंदवी', हिंदी तथा 'दक्खिनी' आदि कहा। दक्षिण से यही भाषा विकसित होती हुई पुनः उत्तर लौटी थी। डॉ. उदय नारायण तिवारी के शब्दों में 'दक्खिनी हिंदी, दक्षिण में ले जाई गई दिल्ली की बोली है, जो बाद में अपने साहित्यिक रूप में दिल्ली आकर फिर प्रतिष्ठित हो गई।' इस भाषा की इस यात्रा से स्पष्ट हो जाता है कि इस भाषा पर उत्तर और दक्षिण का व्यापक प्रभाव रहा है।

हिंदी की इस विकास यात्रा से इसकी लिपि भी समय-समय पर प्रभावित हुई है। बाहर से आने वाले मुस्लिम शासकों ने इसे फारसी लिपि में लिखने का प्रयास किया। अमीर खुसरो (1253-1315) अपनी मसनवी नूह-सिपहर के तीसरे सिपहर (अध्याय) में इसे 'हिंदवी' कहते हुए, इस भाषा को प्राचीन काल से चली आ रही भाषा कहते हैं:-

'हिंदवी बूद अस्त दर अय्यामे कुहन।'

अर्थात् हिंदवी प्राचीन काल से प्रचलित रही है।

मुगलकाल में फारसी राजभाषा रही। अकबर ने इस संबंध में एक फरमान जारी किया, किंतु आम जनता की भाषा तो 'हिंदी' ही रही। इतना अवश्य हुआ कि हिंदी को फारसी में भी लिखा जाने लगा और इसी के फलस्वरूप 'उर्दू' का जन्म हुआ। उर्दू के आरंभिक कवियों ने भी अपनी भाषा को अक्सर हिंदी ही कहा। मिर्जा गालिब ने अपनी एक रचना का नाम 'ऊदे हिंदी' ही रखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह भाषा देवनागरी लिपि के साथ-साथ 'फारसी' लिपि में भी लिखी जा रही थी। कहना न होगा कि 1900 ई. में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना भी हिंदी की लिपि को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही की गई थी। यही नहीं एक ऐसा वर्ग भी था जो हिंदी को रोमन लिपि में अपनाने के पक्ष में था।

इसीलिए स्वतंत्र भारत के प्रबुद्ध संविधान निर्माताओं ने संविधान के अनुच्छेद 343(!) में देवनागरी लिपि को हिंदी की अधिकृत लिपि के रूप में मान्यता देकर इस विवाद को सदा के लिए

समाप्त कर दिया। किंतु दुर्भाग्य से आज भी कतिपय लोग हिंदी को रोमन लिपि अपनाने की सलाह देते नजर आते हैं। हिंदी और राष्ट्र के व्यापक हित में हिंदी की आधिकारिक लिपि देवनागरी की विशेषताओं के संबंध में कुछ तथ्यों पर विचार किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

सभी जानते हैं कि भारत की सभी प्रमुख भाषाओं की लिपियों की उत्पत्ति भारत की प्राचीन लिपि 'ब्राह्मी' से हुई है। प्रायः 9वीं शती में नागरी के प्राचीन रूप का विकास हुआ और कालांतर में इसके पश्चिमी रूप से ही 'देवनागरी' या 'नागरी' लिपि का विकास हुआ है। इस प्रकार ब्राह्मी के आरंभिक अक्षर बदलते-बदलते आज की देवनागरी के रूप में सामने आए।

विशेष बात यह है कि देवनागरी में अपनी आवश्यकता के अनुरूप नए-नए वर्ण विकसित हुए हैं, जो ब्राह्मी में नहीं थे। ब्राह्मी में 'शून्य' (0) का अंक नहीं था, इसलिए वहां सैकड़ा, हजार आदि के लिए अलग-अलग लिपि चिह्न थे। देवनागरी में 'शून्य' का विकास कर विचारधारा में ही परिवर्तन नहीं ला दिया बल्कि लेखन व्यवस्था की बहुत बड़ी समस्या भी सुलझा दी इसी प्रकार हिंदी में विकसित ध्वनियां ड, ढ के लिए लिपि चिह्न भी देवनागरी में ही विकसित हुए। ब्राह्मी में इनकी व्यवस्था नहीं थी। शिरोरेखा का विकास भी देवनागरी में हुआ। इस प्रकार ब्राह्मी लिपि के चिह्न ही घिसते-बदलते हुए देवनागरी की वर्तमान आकृति तक पहुंचे हैं।

देवनागरी लिपि के राष्ट्रीय महत्व को देखते हुए समय-समय पर इसमें आवश्यक संशोधन और सुधार भी किए गए हैं। नागरी लिपि के लिए यह राष्ट्रीय महत्व की बात है कि आधुनिक काल में इसके प्रयोग पर बल देने वाले हिंदी प्रदेशों के नहीं, अपितु अहिंदी प्रदेशों के समाज सुधारक और विद्वान ही थे। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती, गुजरात के थे जिन्होंने 1874 ई. में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिंदी-देवनागरी में ही लिखा। केशव वामन पेटे, राजा राममोहन राय, बकिम चंद्र चटर्जी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, जस्टिस शारदा चरण मित्र, (1848 ई. 1916) सभी हिंदीतर भाषा-भाषी क्षेत्रों के थे। शारदा चरण मित्र ने नागरी लिपि को 'राष्ट्रलिपि' बताया है और अगस्त 1905 ई. में 'एक लिपि विस्तार परिषद्' की स्थापना की। उन्होंने 1907 में 'देवनागर' नाम से एक पत्रिका का भी प्रकाशन किया, जिसमें भारतीय भाषाओं की रचनाएं नागरी लिपि में प्रकाशित की जाती थी। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने देश की एकता के लिए देवनागरी के महत्व पर बल दिया। दक्षिण के कृष्ण स्वामी अय्यर तथा आनंत शयनम आयंगर और मोहम्मद करीम भाई छागला, देवनागरी के पक्षधर थे।

भारत की राजभाषा हिंदी की आधिकारिक लिपि देवनागरी बन जाने से नागरी लिपि का राष्ट्रीय महत्व बढ़ गया और इसमें आवश्यक सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया गया। इसके मानकीकरण पर बल दिया गया क्योंकि टाइपिंग और प्रिंटिंग के लिए एकरूपता की आवश्यकता थी। 1853 ई. में उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा लखनऊ में आयोजित एक सम्मेलन में देवनागरी लिपि में कुछ सुधारों का सुझाव दिया गया। जनवरी 1953 में भारत सरकार ने लखनऊ सम्मेलन की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया किंतु 1953 से 1957 के बीच उत्तर-प्रदेश सरकार को इन्हें लागू करने में व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके फलस्वरूप 1957 में दूसरा सम्मेलन बुलाया गया, और कुछ संशोधनों के बाद इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया। केंद्र सरकार

के शिक्षा मंत्रालय ने इन पर विचार करने के लिए 1959 में देश के शिक्षा मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया और भारत सरकार ने इन्हें अंतिम रूप से स्वीकार कर लिया।

तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में 10 से 12 अगस्त 1961 तक आयोजित मुख्यमंत्री सम्मेलन में सर्वसम्मति से संकल्प पारित किया गया कि राष्ट्रीय एकता के लिए देश में एक लिपि का होना आवश्यक है और वह लिपि देवनागरी ही हो सकती है। सभी राज्यों को इसके लिए काम करना चाहिए। 1966 ई. में भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने मानक वर्णमाला प्रकाशित की। इसके अनुसार जो वर्ण एक से अधिक रूपों में लिखे जाते थे, उनके स्थान पर प्रत्येक वर्ण का एक ही मानक रूप निर्धारित किया गया। 1983 में भारत सरकार के केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा 'देवनागरी लिपि तथा वर्तनी का मानकीकरण' नामक पुस्तिका प्रकाशित की गई।

वर्णमाला निम्न प्रकार है:- हिंदी वर्णमाला

स्वर-	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ
व्यंजन-	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ड़, ढ़,

जो 11 स्वर तथा 35 व्यंजन हैं। समस्या यह है कि देवनागरी लिपि के मानकीकरण और उसकी एकरूपता को लेकर आज भी निरंतर प्रश्न उठते रहे हैं। स्थिति यह है कि सभी हिंदी भाषी राज्यों ने इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है। स्वयं मानव संसाधन विकास मंत्रालय, के अधीन आने वाले विश्वविद्यालय, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, एन.सी.ई.आर.टी., केंद्रीय हिंदी संस्थान, नेशनल बुक ट्रस्ट आदि भी इसका पालन नहीं कर रहे हैं। हमें दूरदर्शन, प्रिंट मीडिया तथा सभी दृश्य-श्रव्य साधनों और विज्ञापन एजेंसियों को इससे जोड़ना होगा तभी देवनागरी लिपि और हिंदी की वर्तनी में एकरूपता लाई जा सकेगी। सरकार को चाहिए कि वह सभी हिंदी राज्यों के शिक्षा मंत्रियों की एक उच्च स्तरीय बैठक बुलाकर देवनागरी लिपि और वर्तनी के संबंध में अंतिम निर्णय लें, ताकि पूरे देश में कड़ाई के साथ उसका पालन किया जा सके। यह दुःख की बात है कि एक ओर हम हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की एक आधिकारिक भाषा के रूप में स्वीकार किए जाने की बात करते हैं, वहीं उसकी लेखन प्रणाली में एकरूपता नहीं ला सकते।

आज हम हिंदी के विभिन्न राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर यह कहते नहीं थकते कि हिंदी विश्व में चीनी भाषा 'मंदारिन' के बाद दूसरे नंबर पर बोली जाने वाली सबसे बड़ी भाषा है और अगर डॉ. जयंती प्रसाद नौटियाल की मानें तो यह शायद विश्व में बोली जाने वाली सबसे बड़ी भाषा है, किंतु आज हिंदी के सामने सबसे बड़ा संकट यह है कि हिंदी बोली तो खूब जा रही है, लेकिन लिखी

नहीं जा रही। नवयुवक हिंदी बोल रहे हैं। सिनेमा के सारे संवाद हिंदी में होते हैं, किंतु जब लिखने की बात आती है तो रोमन में लिखने लगते हैं। यह भी सच है कि सिनेमा के अधिकतर संवाद रोमन में ही लिखे जाते हैं। गांवों तक में शादी विवाहों के निमंत्रण पत्र अंग्रेजी में छापे जाते हैं, जबकि गांवों में अधिकांश लोग उन्हें पढ़ भी नहीं पाते। प्रश्न उठता है कि क्या हम हिंदी को रोमनीकरण की ओर नहीं धकेल रहे हैं? यह विडंबना ही है कि हमारे पास देवनागरी लिपि जैसी विश्व की सबसे अधिक वैज्ञानिक और ध्वन्यात्मक लिपि होते हुए भी हम रोमन जैसी अपूर्ण और अवैज्ञानिक लिपि के माया-जाल में फंसते जा रहे हैं।

आज सूचना और प्रौद्योगिकी का युग है। इस क्षेत्र में देवनागरी लिपि ने अपनी श्रेष्ठता और वैज्ञानिकता विश्व के सामने सिद्ध कर दी है और इस लिपि को ही कंप्यूटर के लिए सबसे उपयुक्त माना है। 'नासा' के प्रसिद्ध वैज्ञानिक रिक ब्रिग्स ने तो 1985 के अपने लेख में यह घोषित ही कर दिया है कि संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि कंप्यूटर की तकनीकी की दृष्टि से आदर्श लिपि है। *The phonetic accuracy of Devanagari Compares well with that of modern phonetic transcription*, अर्थात् देवनागरी विशुद्ध रूप से आधुनिक ध्वन्यात्मक लिप्यंतरण के अनुकूल है। विश्व के अनेक भाषा वैज्ञानिकों और लिपि विशेषज्ञों ने देवनागरी लिपि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और इसे विश्व की श्रेष्ठतम लिपि बताया है। व्यूलर, हार्नले, हुक्स, मैक्डानल, थॉमस तथा आइजेक टेलर जैसे विश्व के अनेक विद्वानों ने नागरी लिपि की वैज्ञानिकता की दिल खोलकर प्रशंसा की है। स्वर विज्ञान (फोनोग्राफी) के अनुसंधानकर्ता आइजेक पिटमेन लिखते हैं कि 'संसार में यदि कोई पूर्ण अक्षर है तो देवनागरी के हैं। प्रो. मोनियर विलियम्स ने कहा था देवनागरी अक्षरों से बढ़कर पूर्ण और उत्तम अक्षर दूसरे नहीं हैं। जॉन क्राइस्ट तो यहां तक कहते हैं कि मानव मस्तिष्क से निकली हुई वर्णमाला नागरी सबसे पूर्ण वर्णमाला है। सर विलियम जोन्स जो मूलतः रोमन लिपि के पक्षधर थे, नागरी को रोमन की अपेक्षा श्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं 'हमारी भाषा अंग्रेजी की वर्णमाला तथा वर्तनी अवैज्ञानिक तथा किसी रूप में हास्यास्पद भी है।'

डॉ. आर्थर मैक्डॉनल ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखा है कि 400 ई. पूर्व में पाणिनी के समय भारत ने लिपि को वैज्ञानिकता से समृद्ध कर विकास के उच्चतम सोपान पर प्रतिष्ठित किया, जबकि हम यूरोपियन लोग इस वैज्ञानिक युग में 2500 वर्ष बाद भी उस वर्णमाला को गले लगाए हुए हैं, जिसे ग्रीक लोगों ने पुराने सेमेटिक लोगों से अपनाया था, जो हमारी भाषाओं के समस्त ध्वनि-समुच्चय का प्रकाशन करने में असमर्थ है तथा 3 हजार साल पुराने अवैज्ञानिक स्वर-व्यंजन मिश्रण का बोझ अब भी हम पीठ पर लादे हुए हैं।'

पिछले दिनों 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि ब्रिटिश 'लाइब्रेरी का रिसर्च इन्स्टीट्यूशन लोगों से कुछ अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण आमंत्रित कर रहा है, क्योंकि रोमन लिपि के कारण शब्दों के उच्चारण में परिवर्तन आ रहा है। भिन्न-भिन्न लोग एक ही शब्द का उच्चारण अलग-अलग रूप में करते हैं। जैसे Garrage को Marriage के वजन पर बोला जाए या Mirage के वजन पर। eat का भूतकाल Ate हो या ett होगा किंतु नागरी में ऐसा नहीं है। यहां तो उच्चारण की व्यवस्था सुनिर्धारित और सुनिश्चित है।

आज कंप्यूटर और सूचना प्रौद्योगिकी के युग में देवनागरी को विश्व की एक सक्षम लिपि के रूप में भी उपयुक्त माना जा रहा है। अमेरिका, जापान, और जर्मनी में महत्वपूर्ण शोध चल रहे हैं। भारत में कई कंपनियों तथा 'सी-डेक' ने कई सॉफ्टवेयर तैयार किए हैं।

अपने ध्वन्यात्मक और वैज्ञानिक गुणों के आधार पर नागरी लिपि कुछ नए परिवर्तनों और परिवर्द्धनों के साथ एक 'विश्व लिपि' बनने की क्षमता रखती है इसीलिए विनोबाजी ने 'विश्वनागरी' के रूप में इसकी कल्पना की थी। दक्षिण पूर्व के एशियाई देशों की भाषाओं के लिए तो यह बहुत ही सुकर है, क्योंकि इनमें से अधिकांश देशों की लिपियां तो ब्राह्मी से ही विकसित हुई हैं। वे चाहते थे कि नागरी लिपि की वैज्ञानिकता और सरलता को देखते हुए यदि पड़ोसी देश भी इस लिपि का प्रयोग करें, तो अंतरराष्ट्रीय सद्भावना में अवश्य वृद्धि होगी।

जैसा कि पहले कहा गया है कि विश्व में बोलने वालों की दृष्टि से चीनी भाषा का स्थान प्रथम है किंतु उसकी लिपि चित्रात्मक है। इसमें प्रत्येक शब्द के लिए अलग-अलग लिपि चिह्न हैं। लाखों की संख्या में इन्हें याद करना होता है। चीनी लोग भी नई लिपि की खोज में हैं। यहां में चीनी भाषा के संबंध में अपने एक साथी द्वारा सुनाए गए एक संस्मरण का उल्लेख करना चाहूंगा, जिसमें उन्होंने बताया था कि जब चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई भारत यात्रा पर आए थे तो कहा जाता है कि उन्होंने चीनी भाषा लिपि की जटिलता को देखते हुए चीनी भाषा के लिए देवनागरी लिपि अपनाए जाने की संभावनाओं के संबंध में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के सामने विचार रखे थे किंतु इसकी औपचारिक अभिव्यक्ति आज कहीं नहीं मिलती, क्योंकि इसके बाद चीन के साथ हमारे संबंध अच्छे नहीं रहे।

नागरी लिपि हिंदी के लिए एक वरदान है, किंतु हम हैं कि आंख मूंदकर रोमन लिपि के पीछे भाग रहे हैं। हमें नहीं भूलना चाहिए कि रोमन के कारण ही भारत में नगरों के नाम बिगड़े तथा व्यक्तियों और महापुरुषों के नाम विकृत हुए, जिनमें हम सुधार करने में लगे हुए हैं। यही नहीं सूरीनाम को ले लीजिए जहां हिंदी को रोमन में लिखा गया तो, वह 'सरनामी हिंदी' बन गई। भारत में भी, जैसा कि मैंने पहले उल्लेख किया है, हिंदी को रोमन में लिखने की आवाज यदा-कदा सुनाई पड़ती है जो बहुत घातक है और हिंदी के हित में नहीं है। इतिहास साक्षी है कि जब हिंदी (हिंदवी) को फारसी लिपि में लिखा जाने लगा तो वह 'उर्दू' बन गई।

देवनागरी लिपि की, राष्ट्रीय एकता और भाषाई समन्वय की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका है। यह लिपि सभी भाषाओं में संपर्क और जोड़ लिपि के रूप में कार्य करने में सक्षम है। इसीलिए आचार्य विनोबा भावे ने नागरी लिपि के महत्व को स्वीकार करते हुए यहां तक कहा था, कि 'हिंदुस्तान की एकता के लिए हिंदी भाषा जितना काम देगी उससे बहुत अधिक काम नागरी लिपि देगी इसलिए मैं चाहता हूं कि सभी भाषाएं नागरी लिपि में भी लिखी जाए।'

हिंदी को साहित्यिक भाषा तक ही सीमित नहीं रखना है, इसे ज्ञान-विज्ञान, प्रौद्योगिकी, व्यापार, वाणिज्य और राजनय की भाषा बनाने पर अधिक से अधिक ध्यान देना होगा। हिंदी की शब्द संपदा किसी भाषा से कम नहीं है। फिर भी नए वैज्ञानिक शब्दों को हम देवनागरी में ही ग्रहण कर सकते हैं देवनागरी लिपि उच्चारण की दृष्टि से एक सक्षम लिपि है। इसमें जो लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा

जाता है इसलिए प्रतिलेखन की दृष्टि से यह संसार की सबसे उपयुक्त लिपि है। प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार के राजभाषा विभाग ने 17 फरवरी 2012 के अपने आदेश में कहा है कि-

1. भारत सरकार के सभी मंत्रालय और कार्यालय यूनिकोड कंपलाएंट फोंट्स एवं यूनिकोड के अनुरूप साफ्टवेयर तथा इन-स्क्रिप्ट कुंजी-पटल का ही इस्तेमाल करें, जो भारत सरकार का मानक की-बोर्ड है और सभी ओपरेटिंग सिस्टम्स में डिफाल्ट में, (यानी पहले से मौजूद) रहता है। किसी एक भाषा में नस्क्रिप्ट की-बोर्ड सीखने पर सभी भारतीय भाषाओं में आसानी से टंकण कर सकते हैं। दो वर्ष के बाद रेमिंगटन की-बोर्ड का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा।
2. सभी कंप्यूटर द्विभाषी की-बोर्ड वाले ही खरीदे जाएं-जिनमें 'इनस्क्रिप्ट ले-आउट' अवश्य हो।
3. 1 अगस्त 2012 से सभी नई भर्तियों के लिए हिंदी टाइपिंग परीक्षा 'इनस्क्रिप्ट की-बोर्ड' पर ही लेना अनिवार्य हो।
4. सभी सरकारी कार्यालयों की वेबसाइट द्विभाषी और यूनिकोड समर्थित फोंट में ही तैयार कराई जाएं।

शुभ सूचना यह है कि हिंदी के प्रयोग को बढ़ाने के लिए अब वेब पर 'डोमेन नेम' नागरी में भी उपलब्ध कराए जा सकेंगे। किंतु आवश्यकता है कि वर्तनी जांच संबंधी क्रमादेश भी सारे सॉफ्टवेयर निर्माताओं के लिए एक ही होने चाहिए, जो मानक वर्तनी के आधार पर हों।

सूचना के इस युग में संचार माध्यमों पर हिंदी का प्रयोग तो बढ़ रहा है किंतु अनेक चैनलों पर शीर्षक रोमन में ही नजर आते हैं। 'दूरदर्शन' पहले देवनागरी में लिखा जाता था। अब वह 'डी. डी.' बन कर रह गया है। कहना न होगा कि संक्षिप्तीकरण के चक्कर में हिंदी के मूल शब्द ही गायब होते जा रहे हैं। 'मुख्यमंत्री' को समाचार पत्र केवल 'सीएम' लिख देते हैं और प्रधानमंत्री को 'पीएम' आदि। ऐसी परिपाटी से हिंदी सरल होने की बजाए दुरूह होती जा रही है और रोमन लिपि का प्रचलन बढ़ता नजर आता है, जो न तो हिंदी के हित में है और न ही राष्ट्र के हित में। यदि नई पीढ़ी में यही प्रवृत्ति रही तो निश्चय ही इसके घातक परिणाम होंगे। हिंदी साहित्यकारों और लेखकों को अपने लेखन कार्य में कंप्यूटर का प्रयोग करना चाहिए। तभी हम हिंदी और देवनागरी लिपि को लोकप्रिय बना सकते हैं।



समग्र विकास के लिए हिंदी : देवनागरी या रोमन?

ओम विकास

अतीत-वर्तमान-भविष्य का ज्ञानसेतु लेखन पद्धति से संभव हुआ। उत्तरोत्तरप्रयोग और परिष्कार से भाषा का मांय स्वरूप उद्भूत हुआ। वाणी और लेखन की सुसंगत एकरूपता के लिए पाणिनि जैसे मनीषियों ने लिपि का नियमबद्ध निर्धारण किया। लिपि वाणी का दर्पण है। धुंधला दर्पण तो धुंधला बिंब। दर्पण की संरचना पर निर्भर करता है कि बिंब की स्पष्टता किस कोटि की होगी।

संस्कृत से उद्भूत भारतीय भाषाओं की लिपियों में क्रम-साम्य है। देवनागरी वर्णमाला में दो-तीन विशिष्ट ध्वनियों के लिए लिपि चिह्न गढ़कर परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला में भारतीय लिपियों के बीच वर्ण प्रति वर्ण स्थापन से लिप्यंतरण आसान है। हिंदी जनभाषा के रूप में पिछले एक हजार वर्ष से विकसित होने लगी। देवनागरी में लिखी गई। देवनागरी को नागरी भी कहा जाता है। हिंदी और देवनागरी के प्रचार प्रसार के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, और भारतीय भाषाओं के बीच संपर्क लिपि नागरी के प्रयोग संवर्धन के लिए नागरी लिपि परिषद् का गठन हुआ। भारत की मूल संस्कृति में सहिष्णुता और समावेशन की प्रधानता रही है। विदेशी आक्रामक आए, फारसी को राजभाषा बनाया लेकिन जन भाषा हिंदवी जीवित रही। चतुर अंग्रेज व्यापारियों ने सहिष्णु भारत को ब्रिटिश उपनिवेश बना लिया, अंग्रेजी राजभाषा बनी। जनभाषा हिंदी ने पराधीनता के आक्रोश को जन आंदोलन में बदल दिया। 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार देवनागरी लिपि में हिंदी को राजभाषा बनाया गया लेकिन स्वीकार्यता अभी तक पूरी नहीं। भारत और इंडिया का द्वंद्व कचोटता है।

कभी-कभार देश के ही विद्वान घाव पर नमक छिड़कते रहते हैं। जनभाषा हिंदी को देवनागरी के बजाए रोमन में लिखने की वकालत करते हैं। 20 मार्च 2010 के हिंदुस्तान में 'क्षितिज पर खड़ी रोमन हिंदी' संपादकीय छपा। हिंदी की लिपि पर विवाद छिड़ा। 20 फरवरी 2013 को BBC विश्व सेवा पर बहस छिड़ी Could a new Phonetic Alphabet promote world peace? IPA की बात हुई। वैज्ञानिक देवनागरी वर्णमाला की बात दबी रह गई।

8 जनवरी 2015 को दैनिक भास्कर में चेतन भगत का लेख छपा 'भाषा बचाओ, रोमन हिंदी अपनाओ'। 11 जनवरी 2015 को Times of India चेतन भगत का अंग्रेजी में लेख छपा "Scripting Change : Bhasha bachao, Roman Hindi apanao". दोनों लेखों का एक ही आशय। हिंदी विमर्श पर चेतन भगत को जमकर कोसा गया। मैंने परिस्थिति, काल, कारण आदि

पक्षों पर विचार किया। चेतन भगत आई. आई. टी.दिल्ली से मेकेनिकल इंजीनियरिंग स्नातक और आई.आई.एम. अहमदाबाद से प्रबंधन स्नातक हैं, ख्याति प्राप्त लेखक/चिंतक हैं, हिंदी प्रेमी हैं। चेतन ने चेताया है कि हिंदी जगत राजनीतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर रणनीति बनाने में असमर्थ रहा है। संख्या में संस्थाएं, संस्थान हिंदी जगत में बहुतेरे और बहुसुरे। जनसामान्य में, युवा वर्ग में हताशा है, निराशा है, और अस्तित्व के लिए नए मार्ग की तलाश है। चेतन भगत ने इसी मानसिकता को अभिव्यक्ति दी है।

देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी स्वतंत्र भारत की राजभाषा बनी। 67 साल में कार्यान्वयन में हिंदी की स्वीकार्यता अभी तक पूरी नहीं। राज प्रशासन में प्रयोग नगण्य है। प्रति वर्ष सितंबर में हिंदी पखवाड़े मनाने की रस्में होती आ रही हैं। न्यायालयों में अंग्रेजी ही मान्य है, जो मात्र 5-7 प्रतिशत जनसंख्या को ही समझ आती है। गूंगा न्याय, बहरी जनता। सिविल सेवाओं में प्रतिभा की खोज अंग्रेजी के माध्यम से है। सूचना प्रौद्योगिकी के विकास को सरकारी स्वीकृति/मान्यता मिलने में अति विलंब होता है। INSCRIPT की-बोर्ड का मानक ले-आउट 1983 में घोषित हुआ। स्टाफ सलेक्शन बोर्ड ने इसे 30 वर्ष बाद 2013 में टंकण परीक्षाओं के लिए मान्यता दी। INSCRIPT द्विलिपिक रोमन-देवनागरी की-बोर्ड TVS कंपनी ने 1983 में बनाया, लेकिन किसी सरकारी विभाग ने नहीं खरीदा। आज भी कार्यालयों में द्विलिपिक रोमन-देवनागरी की-बोर्ड नहीं मिलेंगे। भारत सरकार के इलेक्ट्रॉनिकी विभाग ने जुलाई 1983 में ISSCII-83 मानक 8-बिट कोड प्रकाशित किया। इसका संशोधित संस्करण अगस्त 1988 में ISCII (Indian Script Code for Information Interchange) मानक कोड प्रकाशित किया। इसी को भारतीय मानक ब्यूरो (BIS) ने 1991 में ISCII मानक IS13194 : 1991 प्रकाशित किया।

इसमें रोमन के लिए ASCII है, और भारतीय भाषाओं के बीच लिप्यंतरण का प्रावधान था। इसके आधार पर ही वेब आधारित यूनिकोड में भारतीय भाषा लिपियों को स्थान मिला। अद्यतन यूनिकोड 7.0 देवनागरी के कोड में परिवर्धित देवनागरी को कोदित किया गया है। दक्षिण भारत की कुछ भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों के संकेत वर्णमाला में क्रमानुसार जोड़े गए हैं। संदर्भ—
www.unicode.org/PDF/U0900.pdf

Devanagari	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
०	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
२	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
३	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
४	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
५	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
६	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
७	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
८	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
०	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
२	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
३	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
४	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
५	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
६	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
७	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
८	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९

आज भी उत्तर भारत में किसी तकनीकी कॉलेज/संस्थान में कंप्यूटर विज्ञान और सूचना प्रौद्योगिकी के स्नातक कोर पाठ्यक्रम में यूनिकोड, UTF-8, UTF-16 और भारतीय भाषा संसाधन शामिल नहीं हैं। इंटरनेट एक्सप्लोरर, क्रोम, फायरफोक्स आदि वेब ब्राउजर पर देवनागरी के यूनिकोड समर्थित फोंट 2-3 से अधिक रोमन की भांति नहीं मिलते। यूटिलिटीज नहीं मिलती। भारत का कोई

वेब ब्राउजर प्रचलन में नहीं है। आज भी एक मोबाइल फोन से दूसरे फोन को SMS संदेश कई मित्रों को अनर्थ चिह्नों में गार्वेज मिलता है। इसलिए मजबूरी में संदेश रोमन में भेजते हैं। यह सच है कि प्रौद्योगिक संभावनाएं बहुत हैं, लेकिन सभी डिवाइस/उपकरणों पर प्रयोग-सरल सार्वजनिक उपलब्धता का अभाव है। प्रौद्योगिक कंपैटिबिलिटी सुनिश्चित करना सरकार का दायित्व है।

2013 में हिंदी के भाषाविदों की समिति की सिफारिश के आधार पर सरकार ने वैज्ञानिक देवनागरी लिपि का नया अवैज्ञानिक मानक सार्वजनिक चर्चा के बिना घोषित किया। उदाहरण के लिए एक ध्वनि 'द्वि' अक्षर को 'दू' और 'वि' की दो ध्वनि इकाइयों में बांटने से छात्रों के उच्चारण भ्रष्ट हो रहे हैं। कंप्यूटर से स्पीच पहचान में भी सहायक नहीं।

सभी प्रौद्योगिक उपकरणों में रोमन जैसा प्रयोग-सरल विकल्प देवनागरी में क्यों नहीं? हिंदी जगत और सरकार के बीच संवाद का अभाव प्रतीत होता है।

भूमंडलीकरण की ज्वाला ने जनभाषा हिंदी को दूर दूर तक झुलसा दिया है। नौकरी के लिए कम्युनिकेशन स्किल अंग्रेजी में सिखाई जाती है। समाज में नौकरी दिलाने में हिंदी को हेय और अंग्रेजी को श्रेष्ठ माना जाने लगा है। यह सामाजिक मजबूरी है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर विचार करें तो भारत में 65 प्रतिशत जनसंख्या वाले युवा वर्ग को बढ़ने की चाह है, लेकिन जनभाषा हिंदी में गुणवत्तापूर्ण तकनीकी शिक्षा, प्रशिक्षण और नौकरी के अवसर क्षीण अथवा न मिलने के कारण रोमन के प्रयोग के लिए आकर्षण है।

हिंदी जगत ने इस विकराल समस्या के समाधान के लिए क्या रणनीति बनाई है?

रोमन हिंदी के पक्षधर नीति निपुण विद्वानों से निवेदन है कि वे भारत की संस्कृति, परंपरागत ज्ञान भंडार, प्रायोगिक साक्षरता, विशाल युवा शक्ति, रचनात्मकता, नवाचार संभावनाओं आदि पर विचार कर ऐसे तर्क संगत सुझाव दें जिससे भारत कौशल संपन्न बने, विकास तेजी से हो, बहुआयामी हो। कतिपय विचारणीय तथ्य इस प्रकार हैं-

1. भारत की जनसंख्या 126 करोड़ है जबकि विकसित देश जपान की 12.6 करोड़ है, जर्मनी की 8.2 करोड़ है, फ्रांस की 6.4 करोड़ है, साउथ कोरिया की 4.9 करोड़ है। इन देशों का विकास अंग्रेजी में नहीं अपितु उनकी अपनी जनभाषाओं क्रमशः जापानी, जर्मन, फ्रेंच, कोरियन के माध्यम से हुआ।

2. भारत की लगभग 50% जनसंख्या देवनागरी में लिखती पढ़ती है; अन्य 10% लोग देवनागरी में लिखे को पढ़ समझ लेते हैं। इस प्रकार 60% लोग अर्थात् करीब 75.5 करोड़ भारतीय देवनागरी प्रयोग में सहज हैं जबकि लगभग 10% भारतीय रोमन में पढ़ सकते हैं।

3. पठन-पाठन शब्द स्तर पर सरल, सहज और तेजी से होता है। शब्द इकाई के रूप में प्रचलित लिपि में सुगम ग्राह्य होता है। इस प्रकार रोमन में हिंदी कठिन होगी, श्रमसाध्य होगी, और हिंदी भाषा से विकर्षण का कारण होगी। युवा वर्ग ऐसी हिंदी को छोड़कर अंग्रेजी को अपनाने में श्रम करेगा।

4. संगीत, कला, आयुर्वेद, ज्योतिष, कृषि विज्ञान, आध्यात्म आदि परंपरागत ज्ञान देवनागरी में विपुल मात्रा में है। करोड़ों पृष्ठों के रोमनीकरण और मुद्रण के लिए कई लाख करोड़ रुपए की 10-20 वर्षीय योजना बनानी होगी। कोई भी लोकतांत्रिक सरकार ऐसी अनुपयोगी योजना के लिए

धन आबंटन नहीं करेगी। ऐसी स्थिति में भारत के बहुसंख्य अपने ही अमूल्य ज्ञान-विज्ञान से वंचित रहेंगे। करुण क्रंदन से विकास रुकेगा, अशांति बढ़ेगी, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से हिंदी भाषी दयनीयतर हालत में होंगे।

5. वैज्ञानिक लिपि देवनागरी में स्वर, व्यंजन अलग हैं, क्रम में हैं। इसका लिपि व्याकरण है, जिससे लेखन में एकरूपता सुनिश्चित होती है। व्यंजन स्वरहीन है, एक या अधिक व्यंजनों के योग और स्वर के संयोग से अक्षर बनता है जो इन वर्णों का ध्वन्यात्मक यौगिक है, मिश्रण नहीं है।

6. रोमन लिपि ध्वन्यात्मक नहीं है। हिंदी के साथ अंग्रेजी के भी शब्द हो सकते हैं। अंग्रेजी-हिंदी के शब्दों को अलग-अलग ढंग से उच्चारण करना पड़ेगा। ऐसी खिचड़ी प्रस्तुति से न तो लेखक को और न ही पाठक को सहजता का अनुभव होगा। सहजता और एकरूपता के बिना संप्रेषणीयता बहुत कम होगी। परिणाम होगा हिंदी से विकर्षण, और युवा वर्ग अंग्रेजी सीखने के लिए पसीना बहाएगा।

7. रोमन हिंदी में लिखने के लिए कोई एक मानक लिप्यंतरण तालिका अर्थात् ट्रांसलिटिरेशन टेबल नहीं है। अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग। सदियों से प्रयुक्त शब्द ऋतु, प्रण, पृथ्वी, उत्कृष्ट, लक्ष्मी, विशेष, सोहम, रावण, आदि का उच्चारण भ्रष्ट होगा। ये शब्द विलुप्त हो जाएंगे।

8. हिंदी के अतिरिक्त मराठी, मैथिली, संथाली, डोगरी, सिंधी, संस्कृत आदि कई भाषाओं में साहित्य सृजन देवनागरी में हुआ है और हो रहा है। रोमनीकरण से सर्जना ठहर जाएगी, समाज मूक बनने लगेगा। विकास क्रम का तिरोभाव होगा।

9. किसी भी भाषा की उच्चारण में शुद्धता और एकरूपता वांछनीय है। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं के प्रारंभिक पाठों को देवनागरी में उच्चरित कराने से विद्यार्थियों को आसानी होगी। देवनागरी के आधार पर IPA (भारतीय संस्करण) बनाया जा सकता है।

सार संक्षेप में, देवनागरी के संबंध में भारत के विशाल युवा वर्ग की मानसिकता, सामाजिक स्वीकारिता, और राजनीतिक प्रतिबद्धता को हिंदी जगत संगठित होकर विश्लेषण करे। सभी प्रौद्योगिक उपकरणों में रोमन जैसा प्रयोग-सरल विकल्प देवनागरी में हो। देवनागरी में लिखी जाने वाली जनभाषा हिंदी में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, प्रशिक्षण और रोजगार के समयबद्ध लक्ष्य निर्धारित किए जावें। तदनुसार कार्यान्वयन के लिए सरकार पर दबाव डाले और सावधि समीक्षा करे। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि चेतन भगत ने हिंदी जगत को चेताया है- उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।



वैश्विक हिंदी उद्योग

किशोर वासवानी

विमर्शी-परिदृश्य

1. हिंदी की वैश्विक औद्योगिक चिमनी की प्रखर आगाजी लपट, 14 अक्टूबर 1977 को राष्ट्र-संघ के मंच से उस समय उठी जब भारत के तत्कालीन विदेश मंत्री माननीय अटलबिहारी वाजपेयी ने पहली बार राष्ट्र-संघ को हिंदी में संबोधित कर हिंदी को विश्व मंच पर स्थापित किया। हिंदी जगत ने इसे काफी सराहा तो कुछ अंग्रेजी दां तथाकथित बुद्धिजीवियों ने इस प्रयास पर देश का बहुत सारा धन अपव्यय करने का कुप्रचार भी किया। बहरहाल विश्व बिरादरी को इस बात का एहसास हुआ कि हिंदी विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की सबसे बड़ी संपर्क-भाषा एवं राजभाषा है तथा इसी भाषा के माध्यम से भारत जैसे बहुभाषी देश में अरबों रुपयों का कारोबार संपर्क-भाषा हिंदी के माध्यम से ही संपन्न होता है और इसका सबसे बड़ा उदाहरण, देश की आर्थिक राजधानी मुंबई तथा कई महानगरों में चलने वाला कारोबार है।

2. अटलबिहारी वाजपेयी की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री माननीय नरेंद्र मोदी ने आते ही (2014) न केवल राष्ट्र-संघ को हिंदी में संबोधित किया, अपितु, 7 जुलाई 2015 के दौरान मध्य एशिया के देशों (कजाखिस्तान, किरगिस्तान, उज्जबेकिस्तान, ताजिकिस्तान) एवं रूस की राजनयिक यात्रा के दौरान अधिकतर हिंदी का ही प्रयोग किया, जिसमें आर्थिक मुद्दे भी शामिल थे। कई स्थानों पर तो जनता राजकपूरी-हिंदी फिल्मी गीतों को गुनगुनाते हुए दिखाई दी। साथ ही इस तथ्य को सभी ने स्वीकारा कि हिंदी किस प्रकार उन्हें प्रिय है।

3. 1975 में, नागपुर से हुए विश्व हिंदी सम्मेलनों का आगाज करवाने में अहम भूमिका निभाने वाली हिंदी की सबसे पुरानी संस्था राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की मुख-पत्रिका 'राष्ट्रभाषा' के, 13-15 जुलाई, 2007 को न्यूयार्क में हुए आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन पर केंद्रित विशेषांक का विमोचन न्यूयार्क में हुआ। कथित विशेषांक में, इस लेख के लेखक का 'हिंदी उद्योग : विश्व के परिप्रेक्ष्य में' शीर्षक से लेख प्रकाशित हुआ। संभवतः पहली बार, हिंदी को एक भाषाई उद्योग के रूप में देखने का विनम्र प्रयास किया गया। कई विश्वविद्यालयों के हिंदी और भाषाई विभाग तथा व्यावसायिक संस्थानों जैसे बैंक/बीमा आदि ने इस दिशा में सोचना आरंभ कर दिया है।

4. न्यूयार्क के विश्व हिंदी सम्मेलन में, भारत सरकार के विदेश मंत्रालय द्वारा निर्मित वृत्तचित्र 'बॉलीवुड में हिंदी' (निर्दे. मनोज रघुवंशी) में, हिंदी को, तथ्यों के साथ बॉलीवुडी फिल्मी उद्योग के

रूप में रेखांकित किया गया है जिसकी प्रस्तुति में महानायक अमिताभ बच्चन हैं। इसमें, फिल्म के आरंभ में कुछ, युवा-विदेशी पर्यटक, कैमरे के सामने मस्ती भरे अंदाज में यह कहते हुए दिखाई देते हैं :-

‘आय लव माइ इंडिया...’ ‘अरे ओ सांभा, कितने आदमी थे?...’ ‘सरदार दो आदमी थे...’, ‘अब तेरा क्या होगा कालिया?...’ ‘कहो न प्यार है...’ ‘मोगम्बो खुश हुआ...।’ इसी प्रस्तुति में- अमरीका से, भारत के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में अध्ययन के लिए आए छात्रों ने बताया कि कैसे उन्होंने, हिंदी सिनेमा से कुछ गालियों के साथ, बोलचाल की हिंदी सीखी। वक्तव्यों में, यश चोपड़ा, सुभाष घई, गुलजार, हेमामालिनी ऋषि कपूर, जैकी श्राफ, अकबर खान आदि जैसी कई हस्तियों ने माना कि किस प्रकार हिंदी फिल्में, विदेशों में अरबों रुपयों का व्यापार कर, भारत को अरबों रुपयों का राजस्व कमा कर दे रही हैं। इस तथ्य को भारत सरकार के राजस्व विभाग ने भी समय-समय पर स्वीकार किया है।

2013 अगस्त में, यह लेखक, यूरोप यात्रा पर था। स्विट्जरलैंड में, हमारा टोला जैसे ही बर्फीले आल्प्स पर्वत पर पहुंचा, हमारे लड़खड़ाते कदम, जैसे ही भुरभुराती बर्फ पर पड़े, हमें सैलानियों का एक और टोला (जिसमें भारतीयों के अलावा कई विदेशी भी थे), दिखा जो किसी चीज को घेरे खड़ा था और धड़ाधड़ स्नेप्स लिए जा रहा था। पास जाकर देखा तो सुखद आश्चर्य हुआ... वहां, ‘Dilwale Dulhaniya Le Jayenge’ (दिलवाले दुलहनिया ले जाएंगे, निर्देशक; आदित्य चोपड़ा, 1995) का कट-आउट लगा हुआ था जिसमें काजोल और शाहरुख खान रंग-बिरंगी पंजाबी पोशाक में, रोमांटिक पोज में थे। देशी-विदेशी पर्यटक इसी कट-आउट के साथ अपना फोटो खींचने-खिंचवाने में लगे थे।

इसी प्रकार, स्विट्जरलैंड में, हमारा टोला वहां की प्रसिद्ध चीजें; चॉकलेट, स्टील के चाकू आदि खरीदने के लिए एक दुकान पर पहुंचा। एक सेल्स-गर्ल ने आसानी से ताड़ लिया कि हम भारतीय हैं और वह हमसे बढ़िया हिंदी में बात करने लगी। पूछने पर पता चला, वह भारत के केरल प्रांत से थी। जाहिर है उसकी हिंदी ने आत्मीयता स्थापित की और हमारे टोले ने खुशी-खुशी हजारों रुपयों का सामान वहां से खरीदा।

5. वक्त की नब्ज पकड़ते हुए, 21वीं सदी के आरंभ में ही जब अमरीकी राष्ट्रपति ने, अपने नागरिकों को यह व्यापारिक/व्यावहारिक सलाह दी कि वे हिंदी पढ़ें, तब ही यह स्पष्ट हो गया कि हिंदी, वैश्विक स्तर पर अपने आप में एक औद्योगिक रूप ले चुकी है। आगे चलकर इसकी राजनयिक भूमिका भी सामने आ गई।

6. वैश्विक नजरिए को देखते हुए आज हमारे नेता कौशल आधारित शिक्षा (Skill Based Education) की बात कर रहे हैं। हिंदी को लेकर हम क्या कर रहे हैं?

हमारे मुद्दे :

औद्योगिक परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में, भाषा उद्योग और फिर, हिंदी उद्योग की अवधारणा क्या है? उद्योग को लेकर 'vocabulary.com' का कहना है कि 'An industry is a group of manufacturers of businesses that produce a particular kind of goods or service... The organized action of making of goods and services for sale. भाषा उद्योग को लेकर

<https://en.wikipedia.org/wiki/Language-industry>.

का कहना है कि “The language industry is the sector of activity dedicated to facilitating multilingual communication, both oral and written. According to the European Commission's Directorate-General of Translation, the language industry comprises the activities of translation, interpreting, subtitling and dubbing, software and website globalization, language technology tools development, international conference organization, language teaching and linguistic consultancy.

भाषा को उद्योग के रूप में देखने की अवधारणा यूरोप के देशों से ही आरंभ हुई। हां, इसका क्षेत्र अनुवाद तक ही सीमित था। हम जानते हैं ये यूरोप के ही देश थे, विशेषकर फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, ब्रिटेन, जो अन्य द्वीपों (अमरीका, लाटिन-अमरीका, एशिया, अफ्रीका) तक पहुंचे उन पर कब्जा किया। वहां अपना व्यापार/शासन/प्रशासन चलाने के लिए न केवल अपनी भाषाओं का वहां विस्तार किया अपितु वहां की भाषाओं का अध्ययन कर, शब्दकोशों, व्याकरण, भाषिक पुस्तकों की रचना कर वहां की भाषा में रचित शास्त्रीय साहित्य का अपनी भाषाओं में अनुवाद किया। इस दिशा में, भारत के संदर्भ में संस्कृत एक तार्किक मिसाल है।

वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कारों के साथ ही 19वीं सदी के प्रारंभ से ही ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति ने जोर पकड़ा, 20वीं सदी के इलेक्ट्रॉनिक/कंप्यूटर एवं 21वीं सदी के डिजिटल आविष्कारों ने पूरे विश्व को खुद में समेटकर एक विश्वग्राम में तब्दील कर दिया। परिणामस्वरूप जहां आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक रूप से हम एक दूसरे के करीब आए वहीं, 21वीं सदी की युवा पीढ़ी सांस्कृतिक और धार्मिक रूप से काफी उदार हुई। जिसने, विशेषकर शैक्षणिक, आर्थिक और सामाजिक और मनोरंजन के क्षेत्रों में अपनी पैठ जमाने के व्यावहारिक प्रयास के चलते एक-दूसरे के देशों की भाषाओं को सीखना आरंभ किया। इन्हीं संदर्भों में, विशेषकर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में काम करने के लिए हिंदी को, एक ओर भारत जैसे बहुभाषिक देश में एवं दूसरी ओर वैश्विक स्तर पर संचार और संप्रेषण हेतु काम करने के लिए, इंडो-आर्यन, द्रविड़ियन, तिब्बतों-बर्मन/चाईनीज, ईरानियन-यूरोपियन परिवार की भाषाओं, खासकर राष्ट्रसंघ की अनुमोदित भाषाओं अर्थात: अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश, अरबी, चीनी (मंदारिन) एवं आर्थिक रूप से संपन्न देशों की भाषाओं जैसे, जर्मन और जापानी से अनुवाद के अलावा द्विभाषिकता (Interpreting), उप-शीर्षक/वाक्यांश लेखन (Subtitling) एवं डबिंग (Dubbing) में महारत हासिल करने की आवश्यकता है। वैश्विक स्तर पर, इन्हीं से जुड़े अन्य क्षेत्रों मसलन; सॉफ्टवेयर, वेब-डिजाइनिंग, भाषा-प्रौद्योगिकी, (language technology) हिंदी-भाषा शिक्षण एवं परामर्शिता (language teaching and consultancy) के अधुनातन आयामों के लिए उन्नत भाषिक उपकरणों/औजारों (Instruments/Tools) की आवश्यकता होगी।

वैश्विक-ग्राम और प्रयोजनी-हिंदी :

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इलेक्ट्रॉनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों ने 21वीं सदी में, पूरे विश्व को सही अर्थों में, एक ग्राम में तब्दील कर दिया है; जहां का युवा स्वयं को एक विश्व नागरिक के

रूप में देखता है। उसकी मानसिकता तथाकथित राष्ट्रीयता जैसी वर्जनाओं से लगभग मुक्त है और उसी के हिसाब से वह व्यावहारिक होकर अपने भविष्य की राह निर्धारित कर रहा है। इसी आधार पर वह अपने उद्देश्य तथा प्रयोजन को ध्यान में रखकर, किस विषय का, किस तरह का, कितना ज्ञान, कितने समय में लेना है उसका पूरा आकलन कर समय और पैसा खर्च करता है। आज का जागरूक शिक्षा-शास्त्री भी जानता है कि उसका शिक्षार्थी महज एक विद्यार्थी के रूप में उसके सामने नहीं है वरन् एक उपभोक्ता के रूप में उसके सामने बैठा है, जिसका इस ज्ञान (जानकारी) को प्राप्त करने का स्पष्ट उद्देश्य उसके सामने है और उसके हिसाब से वह इस पर पैसा और समय खर्च कर रहा है।

वैश्विक आवश्यकता और हिंदी के क्षेत्र आज, मोटे रूप से तीन मुद्दों पर वैश्विक ज्ञान-प्राप्ति का आधार सामने आ रहा है, यथा; भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण। इन्हें ध्यान में रखकर मुख्यतः निम्नलिखित ज्ञान-क्षेत्रों पर विचार करना होगा :-

शिक्षा :

(क) रोजगार के कारण, आज भारतीय विश्व के कोने-कोने में, अस्थाई रूप से सपरिवार रह रहे हैं। ऐसे में वे बच्चों को, व्यावहारिकता के आधार पर माध्यमिक/उच्चतर माध्यमिक तक की पढ़ाई के लिए CBSC जैसे पाठ्यक्रम में भेजते हैं, चूंकि यहां पहली कक्षा से ही हिंदी और अंग्रेजी पढ़ाई जाती है। वे इस जानते हैं, भारत जैसे बहु-भाषी देश में, जहां लगभग 179 भाषाएं, 544 बोलियां और 1652 मातृभाषाएं हैं परंतु संपर्क भाषा हिंदी ही है, साथ ही ये पाठ्यक्रम न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी लोकप्रिय हैं। वे इस तथ्य से परिचित हैं कि हिंदी, विश्व की तीन सबसे बड़ी भाषाओं यथा; मंदारिन/चीनी, हिंदी और अंग्रेजी में से एक है। अतः रोजगार को लेकर संपर्क भाषा के रूप में भी इसका क्षेत्र काफी विस्तृत है।

(ख) आज लगभग 150 विदेशी विश्वविद्यालय किसी न किसी रूप में हिंदी के पाठ्यक्रम चला रहे हैं। भारत में भी कुछ विश्वविद्यालय विदेशी छात्रों के लिए हिंदी के पाठ्यक्रम चला रहे हैं इनमें भी बड़ी संख्या में विदेशी छात्र आ रहे हैं। इधर कुछ वर्षों में, हिंदी सीखने हेतु चीनी विद्यार्थियों का रुझान बढ़ा है। स्वाभाविक है इसके पीछे आर्थिक कारण हैं।

(ग) कंप्यूटर के क्षेत्र में यूनिकोड के माध्यम से देवनागरी फॉन्ट्स (Indic Language Input Tools) ने हिंदी-उद्योग को काफी गति दी है। इसके माध्यम से हम सीधे हिंदी में ई-मेल आदि भी भेज सकते हैं।

मनोरंजन जगत :

(क) विदेशों में रहने वाले भारतियों एवं हिंदी सीखने वाले विदेशियों के बीच हिंदी फिल्मों गानों एवं विशेषकर वरिष्ठ नागरिकों के लिए हिंदी भजनों के रेडियो कार्यक्रम बहुत लोकप्रिय हैं। कई भारतीय कलाकार विदेशों में इस प्रकार के स्टेज-कार्यक्रम पेश कर लाखों रुपयों का मानदेय प्राप्त करते हैं। खाड़ी के देशों और भारत से सटे देशों में हिंदी-फिल्मों के गाने बड़े चाव से सुने जाते हैं।

(ख) इलेक्ट्रॉनिक/साइबर जैसी वैज्ञानिक उपलब्धियों से हिंदी सिनेमा को पूरे विश्व में, विशेषकर उत्तरी अमरीका और राष्ट्रमंडल के देशों में फैलने का मौका मिला। विदेशों में बसे

भारतीय-परिवारों के लिए हिंदी फिल्मों मनोरंजन और भारत की सामासिक संस्कृति से जुड़े रहने का एक बहुत सशक्त मंच है। हिंदीतर भारतीय फिल्मों हिंदी में डब होकर या हिंदी फिल्मों हिंदीतर भाषाओं में डब होकर विदेशी भारतीय परिवारों का न केवल मनोरंजन करती हैं अपितु उनके लिए बहुत मजबूत भावनात्मक कड़ी का काम करती हैं। इसी प्रकार हॉलीवुड की अरबों रुपयों के बजट वाली फिल्मों हिंदी में डब होकर वैश्विक स्तर पर दिखाई जा रही हैं। इसने भी एक बहुत बड़े उद्योग का रूप धारण कर लिया है।

(ग) टेलीविजन के आने से, वैश्विक स्तर पर, हिंदी को तो जैसे औद्योगिक पंख लग गए। आज सैकड़ों की संख्या में हिंदी चैनल, 24 घंटे वैश्विक स्तर पर, हिंदी में तरह-तरह की मनोरंजक, सूचनात्मक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक/धार्मिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा अन्य विषयों पर सामग्री हर आयु-वर्ग-लिंग के दर्शकों के लिए आकर्षक ढंग से परोस रहे हैं। इन कार्यक्रमों के जरिए दिखाए जाने वाले विज्ञापनों द्वारा करोड़ों रुपयों का व्यवसाय होता है और देश को अरबों रुपयों का राजस्व प्राप्त होता है। दिलचस्प तथ्य यह है कि आर्थिक कारणों से टेलीविजन के कई हिंदीतर कार्यक्रम भी स्थानीय भाषा के साथ-साथ हिंदी-विज्ञापन दिखाते हैं।

खेल-जगत :

रेडियो और टेलीविजन के कारण आज पूरा विश्व एक खेल का मैदान बन गया है। हर तरह के, विशेषकर, वैश्विक टूर्नामेंट्स/ओलंपिक आदि पूरे विश्व में चल रहे खेल के साथ-साथ सुनाए और दिखाए जा रहे हैं। खेल के प्रकार और दर्शक वर्ग को ध्यान में रखकर कई राष्ट्रीय, महाद्वीपीय और अंतरराष्ट्रीय-मैच मसलन, क्रिकेट, हॉकी आदि का आंखों-देखा हाल हिंदी में भी सुनाया/दिखाया जाता है। चूंकि हिंदी का दर्शक वर्ग काफी बड़ा है, अतः इन कार्यक्रमों के साथ-साथ भी हिंदी विज्ञापन भी चलते रहते हैं, जिनके द्वारा भी करोड़ों रुपयों का व्यवसाय होता है।

बैंकिंग, बीमा और अन्य :

बदले हुए आर्थिक परिदृश्य में बैंकिंग, बीमा और अन्य क्षेत्रों की कंपनियां, वैश्विक स्तर पर अपना-अपना कारोबार जमाने में लगी हैं। भारत एक बहुत बड़ी मंडी है, अतः यहां कई विदेशी बैंक, बीमा और अन्य कंपनियां अपने कारोबार के लिए पहुंच चुकी हैं। अपने अनुसंधानों द्वारा वे इस तथ्य को भली-भांति जानती हैं कि भारत में बहुसंख्यकों के बीच अपना व्यवसाय चलाने के लिए हिंदी द्वारा ही मार्केटिंग की जा सकती है। परिणामस्वरूप, यहां के बाजार में उतारने से पहले ही वे अपने कर्मियों को, अपने-अपने व्यवसाय के अनुरूप प्रयोजनमूलक हिंदी का प्रशिक्षण दिलवाकर भेजती हैं। भारत की एजेंसियां भी ऑन-लाइन मोड द्वारा उस कामचलाऊ हिंदी का प्रशिक्षण देती हैं। आर्थिक रूप से यहां भी हिंदी मुनाफा कमाकर दे रही है। चीन का उदाहरण हमारे सामने है।

अन्य क्षेत्र :

(क) अनुवाद- हम जानते हैं पाश्चात्य भाषाविदों (यूरोपियन) ने अनुवाद को एक कला (हुनर/skill) माना और एक विधा के रूप है इसके भाषावैज्ञानिक अध्ययन को एक दिशा दी। यू. एन.ओ. की एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व में लगभग 6000 भाषाएं बोली जा रही हैं। विश्वग्राम के रूप में, वैश्विक-नागरिक कई संदर्भों में अपरिहार्य रूप से एक-दूसरे के संपर्क में आ रहे हैं। ऐसे

में अनुवाद विधा संप्रेषण एवं ज्ञान के आदान प्रदान के स्तर पर एक सशक्त हथियार के रूप में हमारे सामने आई है। चूंकि हिंदी, विश्व की सबसे बड़ी भाषाओं में एक होने के साथ-साथ है भारत की सबसे बड़ी संपर्क-भाषा है और विशाल जनसंख्या एवं अपनी प्राचीन संस्कृति के कारण, वह विश्वग्राम का एक बहुत बड़ा मार्केट है, अतः अनुवाद के क्षेत्र में हिंदी, उद्योग का बहुत बाजार सिद्ध हो रही है। भारतीय और कई विदेशी शैक्षणिक संस्थाओं में इसके अध्यापन का कार्य चल रहा है। आर्थिक स्तर पर इसके सुपरिणाम सामने आ रहे हैं।

(ख) द्विभाषिता (निर्वचनता) (Interpretership), पत्रकारिता आदि।

अब यह एक सुखद स्थिति उत्पन्न हुई है, जहां हमारे वरिष्ठ राजनयिक विदेशी राजनयिकों से, दुभाषिए की सेवाएं लेते हुए, हिंदी-माध्यम से संवाद/चर्चा कर रहे हैं। अब, हिंदीतर राजनयिक भी सीधे हिंदी में संवाद स्थापित करने के लिए, प्रयोजनमूलकता के आधार, पर हिंदी-कार्यशालाओं में जा रहे हैं। वाणिज्य-क्षेत्र में भी इन सेवाओं का लाभ लिया जा रहा है। विदेशों से कई हिंदी पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है, जनसंचार-माध्यमों, जनसंपर्क, इंटरनेट, मोबाइल-सदेशों, विज्ञापन-लेखन (कॉपी-राइटिंग) जैसे कई क्षेत्रों में हिंदी काफी तेजी के साथ आगे बढ़ रही है। हां, कई बार समय (Time), स्थान (Space) और गति (Speed) को ध्यान में रखते हुए युवा पीढ़ी रोमन-लिपि में हिंदी का प्रयोग कर रही है। जहां, यूनिकोड को लेकर जानकारी है वहां देवनागरी-लिपि में हिंदी का प्रयोग, रोमन लिपि के समान ही, समय (Time), स्थान (Space) और गति (Speed) को ध्यान में रखते हुए किया जा रहा है।

प्रयोजनमूलकता और वैश्विक हिंदी-शिक्षण/संप्रेषण का प्रशिक्षण :

आज का विद्यार्थी पढ़ना (Teaching) नहीं अपितु संप्रेषित (Communicate) होना चाहता है। वैसे भी पढ़ाना धमकाने के अर्थों में (मुहावरा) भी आता है यथा : 'किसी को पाठ पढ़ाना' (To Teach a Lesson) आदि। गीता में कृष्ण, अर्जुन को पढ़ाते नहीं है अपितु संवाद (Discourse/Dialog) स्थापित करके अपने संदेश को संप्रेषित करते हैं। कालांतर में बुद्ध ने भी अपने दर्शन को संवाद द्वारा ही स्थापित किया। पश्चिम में अरस्तू ने भी संदेश संप्रेषण के सिद्धांत को अपनाया, जिस पर आधारित संचार के प्रादर्शों का विस्तार हुआ। अरस्तू के इस शास्त्रीय प्रादर्श में भी पढ़ाने के स्थान संदेश की ही बात कही गई है; जिसके अनुसार वक्ता (speaker), श्रोता (Listener) एवं संदेश-सामग्री/विषय- वस्तु Message with logos/तर्क के साथ हैं। इनमें शिक्षक, शिष्य और पाठ पढ़ाने जैसी बात नहीं है, अपितु संवाद है। अतः आज शिक्षक संप्रेषक (communicator) है।

21वीं सदी और संदेश-संप्रेषण एवं शिक्षण-सामग्री निर्माण :

21वीं सदी दृश्य-श्रव्य माध्यमों की सदी है। वैसे, दृश्य-श्रव्य माध्यम किसी न किसी रूप में, मानव जाति के प्रारंभ से ही संदेश संप्रेषण का सशक्त माध्यम रहा है। अगर इस माध्यम का, शब्दों के स्तर पर भी प्रभावशाली तरीके से सशक्त रूप में प्रयोग किया जाय तो यह (माध्यम), यहां तक कि, नेत्रहीनों के सामने भी ऐसे शब्द-चित्र रूप प्रस्तुत कर सकता है, वह न देखने पर भी घटना/प्रस्तुत विषय-वस्तु का आंखों देखा हाल देखने की अनुभूति ले सकता है। महाभारत-कालीन नेत्रहीन धृतराष्ट्र को, संजय द्वारा, कुरुक्षेत्र में चल रहे महाभारत-युद्ध का सजीव आंखों-देखा हाल सुनाने का

उदाहरण हमारे सामने है। यह, दृश्य-श्रव्य शैली में संप्रेषण कौशल (skill) का अद्भुत नमूना है, जहां, मौखिक शब्द दृश्यमान होकर सजीव हो उठता है। कालांतर में भाषाविदों ने इस पर काम किया। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक Charles J. Fillmore का यह कथन इस तथ्य को सही सिद्ध कर देता है:- 'A word or phrase or sentence or text identifies a scene, and it highlights some portion of it. It is to be understood that the identity of a scene can be established at any number of levels, an event of example, can be seen as composed of a number of some large event of situation.'

दृश्य-श्रव्य संप्रेषण और अधिगम सिद्धांत :

सिद्धांत कहता है :-

1. When I hear, I forget; 2. When I see, I remember; 3. When I do, I understand and 4. When I create, I become. वैसे तो शिक्षा के क्षेत्र (Pedagogy) में ज्ञान प्राप्ति एवं अधिगम/सीखने Learning को लेकर कई सिद्धांत हैं; परंतु, प्रस्तावित विषय के संदर्भ में यहां आरंभ में दर्शाए गए चार सिद्धांतों में प्रथम दो की चर्चा की जाएगी। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि साधारणतया सुनी हुई चीज हम अकसर भूल जाते हैं, जबकि इसके विपरीत, देखी हुई चीजें अकसर आसानी से याद रह जाती हैं। आज का बच्चा, खुलकर कक्षा में शिक्षक से कहता है 'आप जो हमें सैलाब के बारे में पढ़ा रही हैं, वह मैंने इंटरनेट पर सुनामी के रूप में लाइव देख लिया है, अब इसके आगे हो तो बताइए।' इस पर शिक्षक को विचार करना है।

● आज, ज्ञान/सूचना प्राप्ति के लिए 21वीं सदी, एक प्रकार से, पूरी तरह सामासिक श्रव्य-दृश्य माध्यमों (Composite Audio&Visual Media) के प्रति समर्पित होती दिखाई दे रही। अब अवधारणामूलक-विचार-संप्रेषण (Communication Concept of-based View Conceptual T) की हर विधा इन माध्यमों के साथ कदम ताल मिलाकर चलना चाहती है। अतः किसी आधारभूत अवधारणात्मक-मंतव्य (Fundamental Conceptual View) को सुस्पष्ट तरीके से पाठक-दर्शकों तक पहुंचाने के लिए कई श्रव्य-दृश्य माध्यमों का, एक साथ सामासिक रूप (Composite Form) में प्रयोग/उपयोग हो रहा है।

● चूंकि, संदेश-संप्रेषण के रूप में श्रव्य-दृश्य माध्यम एक सामासिक कला-रूप (Composite Art Form) है जो अन्य ज्ञानानुशासनो यथा;- पारंपरिक भाषा/साहित्य; चित्र-कला; वास्तु/मूर्ति-कला; संगीत; नाट्य/नृत्य-कला, विज्ञान आदि के घोल से बना है साथ ही अतः अपनी विषय-वस्तु के संदेश-संप्रेषण के स्तर पर यह इन पर निर्भर है। सवाक श्रव्य-दृश्य माध्यम का रूप लेने के समय से ही यह कला-विधा एक स्वतंत्र श्रव्य-दृश्य भाषा के रूप में उभरी है। और अब दूरदर्शन, कंप्यूटर/इंटरनेट, मोबाइल, आइ-पेड आदि उपकरणों/साधनों के आ जाने से संदेश संप्रेषण के स्तर पर इस भाषा के स्वरूप में गहराई आई है।

● विचारणीय मुद्दा यहां है कि श्रव्य-दृश्य की अवधारणा भी एक भाषा के रूप में सामने आई है अतः इस भाषा का अपना भी एक व्याकरण है। जिसमें, पारंपरिक भाषा के निर्धारित कौशलों जैसे, सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना के अलावा भाषा को देखने का कौशल भी विकसित हुआ है;

जिसका अध्यापन भाषाविज्ञान में भी अब-तक वैज्ञानिक ढंग से आरंभ नहीं हुआ है।

दृश्य-श्रव्य एक पेशीदा संप्रेषणीय माध्यम :

अभिव्यक्ति-संप्रेषण के स्तर पर इस माध्यम की भाषा, छह कला-विधा-माध्यमों के मिश्रण से बनी है। इन छह कलाओं में;- तीन प्रतिनिधि कलाएं (Representative) हैं, जहां रचनाकार स्वयं सामने नहीं होता, वरन् उसकी रचना कथित रचनाकार का प्रतिनिधित्व करती है। जैसे, साहित्य, चित्रकला, वास्तु/मूर्ति कला और अन्य तीन निष्पादन कलाएं (Performing Arts) हैं, जहां रचनाकार स्वयं सामने होता है जैसे, थिएटर, नृत्य, संगीत-गायन वादन। मजेदार बात यह है कि, निरक्षर बच्चा भी इस माध्यम के द्वारा न केवल संप्रेषित होता है, अपितु वह देखे गए विवरण को बता भी सकता है। परंतु क्या यह वास्तव में सच है? शायद नहीं। दृश्य-श्रव्य माध्यम की बड़ी उपलब्धि है सिनेमा; आइए देखें संकेतविज्ञान (semiotics) के मनीषी एवं सिनेमाशास्त्र के पाणिनी फ्रेंच विद्वान कृस्टियन मेट्ज (Cristian Metz) ने इसीलिए यह विरोधाभासी वक्तव्य दिया : A FILM IS DIFFICULT TO EXPLAIN BECAUSE IT IS EASY TO UNDERSTAND (Film Language) A Semiotics of Cinema (1974 page 69)

दृश्य-श्रव्य साक्षरता... क्यों और कैसे...? :

आज की वैश्विक-पीढ़ी बिना किसी विभ्रम एवं पूर्वाग्रह के एक-दूसरे के साथ तालमेल बिठाकर आसानी से एक दूसरे के साथ संप्रेषित हो रही है। यह पीढ़ी ज्ञान की विषय-वस्तु को मूल रूप से उसकी अवधारणा (Concept) के रूप में समझ कर कथित विषय-वस्तु के ज्ञान को विशेषकर, प्रयोजनमूलक अथवा प्रकार्यात्मक (Functional) रूपाधार के संदर्भों में जानकर, एक दूसरे के साथ संप्रेषित करना एवं बांटना चाहती है। इस दिशा में आज का विद्यार्थी ज्ञान अधिगम (Learning) के लिए, त्वरित-अत्यधिक माध्यमों (Hyper-Media), जिसमें, 1. पाठ (Text) 2. श्रव्य (Audio) 3. दृश्य (Visual/Video) 4. श्रव्य-दृश्य (Audio-Visual/Video) 5. कंप्यूटरित प्रस्तुति (Computerised-Presentation) 6. ग्राफिक्स-प्रभाव (Graphics-Effects) शामिल हैं, के उपकरणों (Instruments) का सहारा ले रहा है। वह इन्हीं माध्यमों द्वारा संप्रेषित होना चाहता है क्योंकि ये ही अब 24 घंटे, उसके लिए ज्ञान प्राप्ति के उपयुक्त माध्यम बन गए हैं। 21वीं सदी का उपभोक्ता, चाहे वह शहर का हो या गांव का, इन माध्यमों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।

इस समस्या पर शिक्षा जगत/समाज में काफी विमर्श चल रहा है अतः हमें जानना होगा कि माध्यम-रूप के अनुसार उसमें प्रयुक्त भाषा/बोली, वाक्य-रचना, वृत्ति (मूड), कोड्स, रजिस्टर्स, विषयवस्तु/थीम, पात्र, चरित्र-चित्रण, अभिनय, संवाद-प्रस्तुति, उद्-घोषणा, डबिंग, कैमरा-शॉट्स, संपादन, गीत-संगीत, पार्श्व-ध्वनियां, परिवेश-स्थान (Location), वेषभूषा, प्रकाश/रंग, पटकथा-लेखन, स्क्रीन-प्ले, कृति का निष्पादन-रूप (प्रिंटिंग/सिनेमागृह, प्रोजेक्टर, साउंड-व्यवस्था आदि) तथा निर्देशक-निर्माता, की अपनी समझ, उसके निहित व्यापारिक स्वार्थ आदि तत्व/घटक किस तरह काम करते हैं? पाठक/दर्शक आदि ऐसे कई घटक हैं जिनको ध्यान में रखकर दोनों माध्यमों की कृतियों में संप्रेषित-अभिव्यक्ति को समझा जा सकता है।

आज, जिस भाषा (प्राकृतिक/पारंपरिक) और भाषा-विज्ञान के मानकों पर आधारित उसके,

व्याकरणिक रूप का जो ज्ञान हमें मिल रहा है वह, अमूर्तता/यादृच्छिकता के साथ सुरक्षित वास्तविकता लिए भ्रमितता (Abstract-Arbitrary, seems to be rational/Pseudo-rational), शब्द की तीन शक्तियों (अभिधा, व्यंजना और लक्षणा), भाषा-अधिगम के चार कौशलों (सुनना, बोलना, पढ़ना एवं लिखना), या अपनी भाषा-व्यवस्था के क्रमिक सोपान एवं लघुतम इकाई के रूप में 'ध्वनि' से आरंभ होकर, शब्द-पदबंध-वाक्य-वक्तव्य, लांग (लांग्यु, (Langue), फोन (Phone) से वाक्यादि तक (की) भाषिक- व्यवस्था, संकेतक (Signifier) तथा संकेतित (Signified) (अलग-अलग) पर टिका है। दृश्य-श्रव्य के आज के युग में यह ज्ञान हमें यह नहीं समझा पाता कि मूर्त(Visible)- तार्किकता के साथ, हमारे सामने परोसी गई प्रस्तावित दृश्य-श्रव्य सामग्री हमारे लिए किस तरह महत्वपूर्ण है।

अस्तु...

इन बिंदुओं पर विचार करना है। वैश्विक स्तर पर जो हिंदी का बाजार हमारे सामने है उसे भी ध्यान में रखकर हमें हिंदी के शैक्षणिक आयामों/उपकरणों को खोजना होगा।

बहुवचन का एक और आयोजन

हिंदी आलोचना का वर्तमान परिदृश्य

अंक में शामिल हो रहे प्रमुख आलोचक हैं- सर्वश्री विजय बहादुर सिंह, मधुरेश, राजेंद्र कुमार, रेवती रमण, देवेन्द्र चौबे, कुमुद शर्मा, अनिल राय, अनंत मिश्र, गोपाल प्रधान, रघुवंश मणि, ए. अरविंदाक्षन, रविभूषण एवं अन्य।

अंक के रचनाकार

- विमलेश कांति वर्मा- 73 वैशाली, पीतमपुरा, नई दिल्ली-110034, 📞 9810441753
- मोहन कांत गौतम- ✉ gautammohan@hotmail.com
- राम भजन सीताराम- ✉ hss@telkomsa.net.
- तत्याना ओरान्यस्क्या- डिपार्टमेंट ऑफ इंडिया एंड तिब्बत हेमबर्ग विश्वविद्यालय एलेसटार्टरेसी-1, प्रथम तल, राइट 20354 हेमबर्ग, जर्मनी, 📞 491766 5946308
- अर्चना पैन्थूली- ब्राईजी ग्रेड 2100 कोपेन हेगन, डेनमार्क, 📞 4571334214
- सच्चिदानंद सिन्हा- ग्राम पोस्ट, मनिका, मुजफ्फरपुर-834119
- प्रभाकर श्रोत्रिय- ए-601 जनसत्ता आवास, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012, 📞 9717266220
- निर्मला जैन- ए-20/17 डीएलएफ, फेस-1, कुतुब एनक्लेव, गुडगांव-110757, 📞 9810146375
- एस. तंकमणि अम्मा- मणि मंदिरम, आनयरा, तिरुवनंतपुरम-695029
- परमानंद पांचाल- 232-ए पाकेट-1, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, 📞 9818894001
- कृपाशंकर चौबे- एसोसिएट प्रोफेसर व प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, ई जेड सीसी, आईए-290 सेक्टर-3, साल्ट लेक, कोलकाता-700097, 📞 9836219078
- दामोदर खड्गे- बी-503-504 हाई बिलस कैलाश जीवन के पास, धायरी, पुणे-411041, 📞 9850088496
- हरीश कुमार सेठी- सहायक प्रोफेसर, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, ब्लॉक 15-सी, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068, 📞 9818399826
- प्रभात रंजन- बी-15, इलाहाबाद बैंक, सोसाइटी, मयूर कुंज, दिल्ली-110096, 📞 9891363062
- ओम विकास- सी-15, तरंग अपार्टमेंट, 19-आईपी एक्सटेंशन, दिल्ली-110092, 📞 9868404129
- बालेन्दु दाधीच- 504 पार्क रायल, जी एच-80, सेक्टर-56, गुडगांव-122011 (हरियाणा), 📞 9868835423
- किशोर वासवानी- 28, साकेत-2, वेजलपुर बाजार, पो. जीवराज पार्क, अहमदाबाद-380251, 📞 9979851770